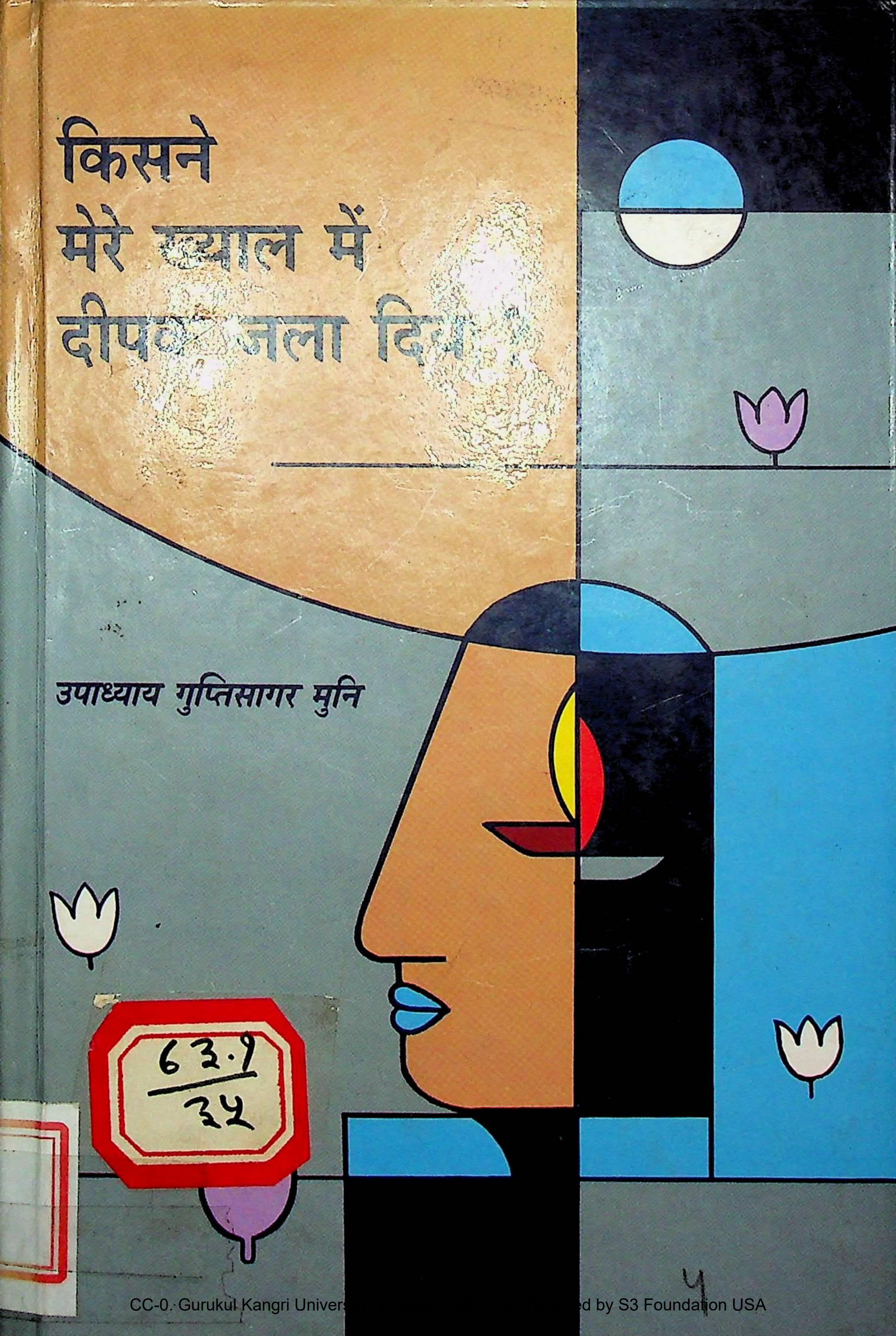
किसने मेरे ख्याल में दीपक जला दिया

उपाध्याय गुप्तिसागर मुनि



उपाध्याय गुप्तसागर मुनि

दीक्षा-पूर्व नाम : नवीनकुमार जैन
जन्म स्थान : गढ़ाकोटा सागर, मध्यप्रदेश
जन्म-तिथि : 4 दिसम्बर 1957
मुनि-दीक्षा : सिद्ध क्षेत्र नैनागिरि, 20 अगस्त 1982
दीक्षा-गुरु : आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज



किसने मेरे ख्याल में दीपक जला दिया?

मानव जीवन जागरण की
प्रेरक कृति

उपाध्याय गुप्तिसागर मुनि

साहित्य भारती प्रकाशन

किसने मेरे ख्याल में दीपक जला दिया?

उपाध्याय गुप्तिसागर मुनि

■ *सम्पादन :* सिद्धान्तरत्न ब्र. सुमन शास्त्री

रेखाचित्र : संतोष जड़िया

■ 1995, प्रथम संस्करण, 5000 प्रतियाँ

1997, संशोधित, संवर्धित द्वितीय संस्करण, 3000 प्रतियाँ

■ *पावन प्रसंग :*

मकर संक्रान्ति, 1997

■ *सौजन्य :*

धर्मानुरागी सुरेश चन्द जैन	**धर्मानुरागी महावीर प्रसाद जैन**	**धर्मानुरागी श्रीचन्द जैन**
4-A, रेस कोर्स,	बंगाली स्वीट्स सेन्टर,	4, रेनबो विहार, मेरठ रोड,
देहरादून	साउथ एक्स्टेन्शन, नई दिल्ली	मुजफ्फ़रनगर

■ *प्राप्ति स्थान :*

उपाध्याय गुप्तिसागर साहित्य संस्थान

215, कालानी नगर, इन्दौर - 452005 (म.प्र.)

अरिहंत साहित्य सदन

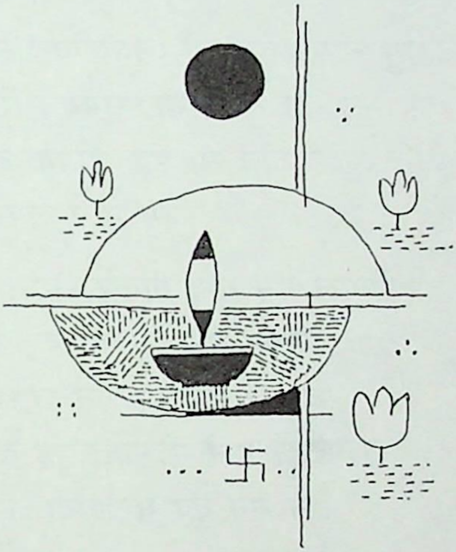
4, रेनबो विहार, मेरठ रोड, मुजफ्फ़रनगर

■ *लागत मूल्य :* रु. 40/-

■ *मुद्रण :*

विकल्प प्रिंटर्स, अनेकान्त पैलेस, 29 राजपुर रोड, देहरादून - 248001

Tel.: (0135) 658971



विश्व के उन नागरिकों को
जो मानवीय मूल्यों में
गहन आस्था रखने
के अभिलाषी हैं।

– गुप्तिसागर मुनि

उपाध्याय गुप्तिसागर जी महाराज की प्रिय प्रार्थना

प्रभु नाम जपने से, नवजीवन मिलता है।
तन मन का मुरझाया, उपवन खिलता है।
अन्तर के कोने में, इक दीपक जलता है।
प्रभु नाम जपने से.....

श्रीपाल प्रभु गुण गाकर, हां हां गाकर,
तूफां में भी, पार हुए थे सागर।
चन्दन बाला दर्शन से, दर्शन से,
देखो पल में मुक्त हुई बन्धन से।।
तन मन का मुरझाया उपवन.....

हो सर्प अगर विष वाला, हां विष वाला,
कर लो मन में ध्यान बने जयमाला।
भवताप सभी गल जाएं, हां हां जाएं,
सुमरन से, संताप सभी टल जाएं।।
तन मन का मुरझाया, उपवन.....

संसार समुन्दर गहरा, हां हां गहरा,
कर्मों का हर ओर लगा है पहरा।
सब छोड़ जगत की माया, हां हां माया,
ले लो तुम मन वीर शरण की छाया।।
तन मन का मुरझाया, उपवन.....

कहता हूँ, सविनय

सवाल अनबूझा सा : हम कौन हैं? क्या है उद्देश्य हमारे जीवन का? क्या है इसकी परिणति? इन अनुत्तरित पर अल्टीमेट किस्म के सवालों का, गूढ़ और अनगिनत रहस्यों का जवाब ढूँढ़ने की कोशिश इन्सान ने की है। ऐसे कौतूहलों के लिये तर्क का आधार नितान्त आवश्यक होता है, पर तर्क पर्याप्त नहीं होते। जवाब ढूँढ़ने, जाना होगा हमें तर्कों के पार, पर उनके प्रतिगामी बन कर नहीं। गणित की सूत्र-जन्य दुनियाँ ने आवश्यक और पर्याप्त के इस भेद को समझा है। और ऐसी ही समझ लगानी पड़ेगी इन सवालों के उत्तरों की खोज में। यात्रा करनी होगी लम्बी, विज्ञान से परे, पर उसके प्रतिगामी बन कर नहीं, क्योंकि विज्ञान की गूढ़तम शोध भी विज्ञान और मानव में सच्ची आस्था के अर्पण के बगैर पूरी नहीं होती। यानी मानवीय इयत्ता के प्रति सच्चे अनुराग के बिना विज्ञान की समझ का अथ नहीं होता।

धरती पर हो रहे परिवर्तनों का आकलन कर थॉमस मॉन ने एक स्थान पर लिखा है कि वर्तमान कालखण्ड में मनुष्य की नियति उसे राजनीति के आँगन में धकेल रही है। ऐसी ही परिस्थिति धार्मिक समूहों की वैचारिकताओं में दृष्टिगत हो रही है जिसे हम टेनिसन के मानवीय संसद या श्री अरविन्द के एकात्मवाद के माध्यम से आकलित कर सकते हैं। वैश्विकता की अवधारणा का प्राण है एकात्मता, चाहे वह आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक या ग्रीन आन्दोलनों की परिणति ही क्यों न हो। संचार माध्यमों में हुई क्रान्ति, विशेषकर उपग्रह तकनीक

एवं सूचना राजमार्गों से हुए सूचना संसार में स्थापित नये प्रतिमानों ने मनुष्य को एक नयी पहचान दी है, पूरे विश्व के स्तर पर एकीकरण के प्रयासों को बल दिया है। परिवहन के नये संसाधनों ने भौतिक दूरियाँ घटा दी हैं। इन सब का प्रभाव मनुष्य की मनश्चेतना पर पड़ा है और हर क्षेत्र में उसका सामना हो रहा है एक संक्रमण काल में एक नयी वैश्विक सभ्यता से, जहाँ उसका अपना 'स्व' तेजी से छूट रहा है और अयाचित वह अपना रहा है उसे जो उसका अपना है ही नहीं। ऐसा नहीं कि मानवीय इतिहास में परिवर्तन पहले नहीं हुए या आदान-प्रदान का क्रम पहली बार पूरा हो रहा है, पर यह तो तय है कि इतनी तेजी से पहले कभी परिवर्तनों का रेला नहीं आया था। ऐसी स्थिति को ऐल्विन टॉफलर ने अपनी बानगी में फ्यूचर शॉक की संज्ञा दी है।

संक्रमण काल के इन निर्णायक पलों में जहाँ वैश्विक मानव की चेतना को आजादी के पंख मिले हैं, एकात्म की नयी पहचान मिली है, आर्थिक समृद्धि के नये क्षितिज रचे गये हैं, प्राकृतिक संसाधनों के बेहतर इस्तेमाल को सुनिश्चित करने की कार्ययोजना बनी है, तकनीकी ज्ञान के विकास ने आपदाओं के सन्त्रास को कम किया है, जीवन-स्तर को बेहतर बनाने के लिये साधनों के बेहतर इन्तजामात किये गये हैं, वहीं हिंसा, आतंक, अपराध, क्रूरता और शोषण ने भी नये आयाम रचे हैं – घर के आँगन से संसद के गलियारों तक। वैश्विकता की आँधी में तय तो जरूर करना होगा कि चेतना के विधायक योग की ठाँव कहाँ पर है? वैश्विक सहअस्तित्व कहाँ पर है? वैश्विक सन्तुलन कहाँ पर है? वैश्विक बन्धुत्व कहाँ पर है? वैश्विक शान्ति कहाँ पर है? वैश्विक प्रेम कहाँ पर है? वैश्विक विकास कहाँ पर है? और कहाँ-कहाँ छायी है वैश्विक मुस्कान? अगर हम तलाश पूरी न कर पाए तो परिणति होगी स्व-विनाश की, और तेजी से हुए इस संक्रमण से हर ओर निकलेगा सिर्फ धुँआ, बर्बादी का धुँआ।

आज जब हम मानवीय इतिहास की सबसे हिंसक एवं रक्ताक्त शताब्दी के आसन्न अवसान पर संघट्टध्वनि कर रहे हैं तो एक यक्ष प्रश्न कौंध रहा है – कैसे उस वैश्विक चेतना के विधायक स्वरूप को प्रतिष्ठित किया जाए जो एक उभरते भूमण्डलीय समाज के लिये अपरिहार्य होगी। दरअसल आज आवश्यक है वैश्विक स्तर पर मूल्यपरकता की संस्थापना की, एक ऐसे वैचारिक निदर्शन की जिससे प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग, मतभेद के स्थान पर सहमति, प्रमोद के स्थान पर एकात्म और हिंसा के स्थान पर अहिंसा की स्थापना हो सके। और ऐसा करने के लिये हमें मानवता की महान आध्यात्मिक परम्पराओं को पोथियों से निकाल कर जीवन में प्रतिष्टापित करना होगा ताकि एक संवेगात्मक परिवर्तन उद्भूत हो सके। हमारी परम्परा में ये सारे तत्त्व पूरी जीवन्तता से मुखरित हुए हैं।

जीवन के उद्देश्यों को भी हमारे धर्मशास्त्रों ने आख्यायित किया है। ऋग्वेद में मानवीय जीवन के द्विआयामी उद्देश्यों की आख्या भारतीय चिन्तन की सन्तुलित धारा का प्रतीक है –

'आत्मनो मोसार्थम् जगत् हितायचा'

अर्थात् स्व के लिये/आत्मा के लिये मोक्ष और सम्पूर्ण जगत का कल्याण। स्वामी विवेकानन्द ने भी इस सूत्र को अपने चिन्तन में आत्मसात किया और बताया कि समाज में सबसे निर्बल और गरीब की सेवा ही प्रभु की सच्ची अर्चना है। जैन धर्म कई कदम आगे बढ़ा।

उसने मनुष्य को बन्धनों से आजादी दी, उसके पुरुषार्थ को नयी पहचान दी, उसे मुक्ति के नये सफे से परिचित कराया, उसे श्रम, सम और शम की संस्कृति से चेतना के परिष्कार के तौर-तरीके बताए और जीवन जीने के लिये विचारों में अनेकान्त, व्यवहार में अहिंसा और वाणी में स्याद्वाद के नियामक तत्व दिये, मुक्ति के लिये दर्शन, ज्ञान और चरित्र के रत्नत्रय दिये। यानी कुल मिलाकर एक ऐसा नुस्खा दिया पूरी मानवता को जो आत्म-विकास की पराकाष्ठा पर तो पहुँचे ही, एक वास्तविक भूमण्डलीय ग्राम भी बना सके। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। और मानवीय सम्बन्धों में हम अगर परिष्कार करना चाहते हैं तो अहं और मम का परिष्कार करना होगा, स्वार्थ चेतना के प्राबल्य को घटाना होगा जिससे दूसरों के स्वातन्त्र्य-बोध में खलल न पड़े। हमारा जीवन सापेक्ष है। जानना होगा उन सभी के बारे में जो सापेक्षता से जुड़े हैं, विकसित करनी होगी संवेदनशीलता और करुणा की संदृष्टि – सारी कटुताओं का शमन कर दूसरों को अपनी तुला से तौलना होगा। व्यास के सूत्र – आत्मनः प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत् – जो काम अपने लिये प्रतिकूल है वह हम दूसरों के लिये न करें। कष्ट यदि हमें इष्ट नहीं है तो सामने वाले को भी नहीं है। सन्तुलन की तुला पर चिन्तन को अगर अभिकेन्द्रित करें तो वृत्ति का परिष्कार होगा और अहं सीमित होगा एवं अहिंसा की बुनियाद प्रशस्त होगी। यह विधायक चिन्तन मनुष्य की तीनों अपेक्षाओं आश्वास, विश्वास और विकास की परिपूर्ति इस प्रकार करने में सक्षम होगा जिससे संघर्षों का निराकरण हो सकेगा, परेषां हितचिन्तनम् वाली मैत्री का विकास हो सकेगा।

कालचक्र निर्बाध गति से घूमता रहता है और साक्षात्कार करता है गति की निरन्तरता की – चाहे वह विकास की हो या ह्रास की। मनुष्य के पास चेतना है, कल्पना है, आशाएँ हैं, आकांक्षाएँ हैं। उसकी ख्वाहिश रहती है कि कुछ अच्छा करे, बेहतर करे, अधिक से अधिक अच्छा समाज बनाए और फिर राष्ट्र बनाए। विकास की इस कामना की पूर्ति के लिये उसने अपने तईं हर मुमकिन प्रयत्न किये हैं। इतिहास के पन्नों में झाँकें तो पाएँगे कि वर्तमान को बेहतर बनाने, सुन्दर बनाने, सोद्दश्य बनाने, प्रेममय बनाने का प्रयत्न कृष्ण ने किया, महावीर ने किया, बुद्ध ने किया, ईसा ने किया, अनेक विद्वानों, चिन्तकों, कवियों, सभी ने किया। सभी चाहते हैं कि वर्तमान की जड़ता की इति हो, एक परिष्कृत इन्सान बने एक सभ्य, शालीन और सुसंस्कृत समाज बने जिसका चिन्तन वैश्विक हो। इसी श्रृंखला में परमपूज्य उपाध्याय श्री गुप्तिसागर जी महाराज ने भी अपने चिन्तन को बहुआयामी विस्तार दिया है, जीवन के, जगत के, साधना के, उपासना के विभिन्न रूपों और रंगों का संस्पर्श किया है। गुरुदेव की प्रस्तुत कृति सीधी और सरल है पर अपने अन्दर समेटे हुए है सागर की गहराईयाँ और विराट् अन्तरिक्ष की ऊँचाईयाँ। उनके पच्चीस ललित निबन्ध सूत्रवत हैं, हृदय-स्पर्शी हैं, मीठे हैं, तीखे हैं और तन्द्रा में डूबे मनुज को आपाद-मस्तक झिंझोड़ने की ताकत रखते हैं। पर ये हैं मित्रवत्, जिन्हें समझने के लिये न तो किसी शास्त्र के तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता है, न सैद्धान्तिक ज्ञान की बुनियाद जरूरी है, न किसी संगी-साथी से पूछने का उपक्रम है – प्रत्युत यह तो है एक निर्ग्रन्थ आचारनिष्ठ साधक की अकेले की उड़ान अकेले की तरफ – कोई बीच में नहीं, कोई पूर्वाग्रह नहीं; सिर्फ प्रेम का, करुणा का, मैत्री का संचार है। गुरुदेव की संवेदनाओं की यात्रा नैतिक जीवन की संस्थापना और वैश्विक मानव की पहचान के अनगिनत पड़ावों पर

रुकी है, उसकी खोजी वृत्ति ने नये अर्थ परिभाषित किये हैं, नयी दृष्टि की सर्जना की है और इन सबका अवगाहन कर मोक्ष के लक्ष्य पर अपने पाठकों को सहज ला देती है और करा देती है सुखमय और शुभमय अहसास – केवल वही अपना है, अपना है, अपना है। यह कृति कोई शोधग्रन्थ या इतिहास या दर्शनशास्त्र की प्रामाण्य पोथी नहीं। इस कृति में एक प्रवाह है, एक निरन्तरता है, शुचिता है, पारदर्शिता है। सब बिल्कुल वैसे ही जैसे गोमुख से निकली गंगा के निश्छल प्रवाह में रहता है। गुरुदेव ने अपनी अनुभव-सम्पन्नता के माध्यम से उन शाश्वत सत्यों को उद्भासित किया है जो त्रैकालिक हैं और एक नये समाज के निर्माण के हैं नियामक तत्व।

परमपूज्य उपाध्यायश्री गुप्तिसागर जी महाराज वर्तमान युग के एक युवा द्रष्टा, क्रांतिकारी विचारक, जीवन-सर्जक और आचारनिष्ठ दिगम्बर संत हैं। उनके प्रवचन व लेख जीवन की आत्यंतिक गहराइयों, अनुभूतियों एवं साधना की ऊँचाईयों तथा आगम प्रामाण्य से उद्भूत होते हैं। वे हमेशा जीवन-समस्याओं की गहनतम जड़ों का संस्पर्श करते हैं, जीवन को उसकी समग्रता में जानने और समझने के मर्म से परिचित कराते हैं। उनके साधनामय तेजस्वी जीवन को शब्दों की परिधि में बाँधना सम्भव नहीं, उसमें अवगाहन करने की अनुभूतियाँ शब्दातीत हैं। गुरुदेव क्रान्तिदृष्टा हैं और परिष्कृत चिन्तन के विचारों के प्रणेता हैं। महाव्रतों की साधना में रचे-बसे उपाध्यायश्री की संवेदनाएँ मानव मन की गुत्थियों को खोलती हैं और उनके अगाध ज्ञान का नवनीत हर पल दिशाबोध देता है। उनका जीवन क्रान्ति का श्लोक है और है मुक्ति का दिव्यछन्द। जिसमें कहीं दूर-दूर तक दुरुहता नहीं; जो है वह है भाव-प्रवणता, सम्प्रेषणीयता और रत्नत्रयों के उत्कर्ष से विकसित हुआ उनका प्रखर व्यक्तित्व बन गया है करुणा, समता और अनेकान्त का एक जीवन्त दस्तावेज।

पूज्य उपाध्यायश्री की स्तुत्य कृति 'किसने मेरे ख्याल में दीपक जला दिया?' सम्पूर्ण विश्व को सम्बोधित है। गुरुवर का चिन्तन फलक देश, काल, सम्प्रदाय, जाति, धर्म – सबसे दूर, प्राणी-मात्र को समाहित करता है, एक युग बोध देता है, नैतिक जीवन जीने की प्रेरणा देता है, वैश्विक मानव की अवधारणा को बल देता है। गुरुदेव तो वीतराग साधना पथ के पथिक हैं, निरामय हैं, निर्ग्रन्थ हैं, दर्शन, ज्ञान और आचार की त्रिवेणी हैं। उनके संदेश युगों-युगों तक हमारा मार्ग दर्शन करें, हमारी प्रमाद-मूर्च्छा को तोड़ें, हमें अन्धकार से दूर प्रकाश के उत्स के बीच जाने का मार्ग बताते रहें; इन मंगल भावनाओं के साथ श्री चरणों की मंगल वंदना, त्रिबार नमोऽस्तु।

डॉ नलिन के. शास्त्री
समायोजक
महाविद्यालय विकास परिषद्
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

❖ ❖

चिन्तन का सृजनशील आयाम :
किसने मेरे ख्याल में दीपक जला दिया ?

संयम साधना के कल्पवृक्ष उपाध्यायश्री गुप्तिसागर जी के विभिन्न आयामों से विद्या जगत परिचित है ही। उनके अध्ययन, चिन्तन, लेखन के अनेक विषय है और अभिव्यक्ति की अनेक विधाएं। मनुष्य को केन्द्र में रखकर ही आप अनुशीलन और सृजन कार्य करते हैं। भाषा, व्याकरण, साहित्य और समस्त शास्त्रीय सिद्धान्तों को मनुष्य की कसौटी पर रखकर देखने का आग्रह और दृष्टि उपाध्यायश्री जी का स्वकीय विचार कोण है। इस पुस्तक में 'हाइपरटेन्शन' शीर्षक एक निबन्ध है। अपने चिन्तन पक्ष का निष्कर्ष उन्होंने दो पंक्तियों में प्रकट किया है, "चिंता पाप है, अधर्म है, आत्मघाती है, इसके विष का वमन करो फिर देखो गन्दी गृहस्थी भी 'नन्दन वन' बन जाएगी।" उपाध्यायश्री जी की दृष्टि विचार की उस राह से सर्वथा पृथक है जो मताग्रह और शिविर सीमा के दबाव से मनुष्य को छोटा बना देती है। उनका विवेक निकष उसे शुद्ध नहीं मानता। आपका चिन्तन श्रमण चिन्तन धारा का आधुनिक विकास है। प्रस्तुत पुस्तक वर्तमान के चर्चित विषयों की प्रयोजनभूत ऐसी विचार श्रृंखला है जिसके माध्यम से उपाध्यायश्री ने समय को जांचा और परखा है। इनमें भाषा की तरलता देखते ही बनती है और

तर्क की क्षमता गहरे मथती है। इन सबमें अहम् सूत्र जो संस्कृति पर विचार करते हुए उपाध्यायश्री ने दिया है वह न केवल प्रासंगिक है अपितु विचारोत्तेजक भी है – "चरित्र का सम्बन्ध जीवन से है और वह एक जीवन-विज्ञान है। जीवन-विज्ञान की एक-एक विद्या शाखा का विकास किया जाए तो आन्तरिक व्यक्तित्व से परिचित होने और उसे समझने, संवारने का अधिक व्यापक अवसर मिल सकता है।"

उपाध्यायश्री सामान्यतः बाह्य एवं आन्तरिकता को समग्र दृष्टि से देखते हैं किन्तु उनका संवेदनशील साहित्यकार कविता बीजों एवं निबन्धों की वस्तु को उठाता है तो उस बिन्दु से, जहाँ मनुष्य की निष्पापता, असहायता, अकेलेपन की पीड़ा और आत्मिक दर्द के गहरे संवेदन हैं। इन्हीं के द्वारा लेखक बाह्य परिवेश और आन्तरिक संवेदनात्मक उथल-पुथल में पाठकों को यात्रा कराते हैं। इसीलिए उपाध्यायश्री जी के रचनाओं को पढ़ते समय विषय से अधिक उनकी वैचारिक प्रौढ़ता एवं भावनात्मकता के सम्मुख समर्पण की सहजानुभूति होती है। मनुष्य और मनुष्य के सम्बन्धों, टूटते-ढहते मूल्यों, परिवेशगत परिवर्तनों और चुनौतियों की उनकी समझ एक प्रकार की तलाश की छटपटाहट है जो उनकी रचनाओं को निरन्तर उच्चतम श्रेणी पर ले जाती है। इधर प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण साहित्य को प्रयोगधर्मी, उर्ध्वगामी, व्यक्तित्व को आत्मिक दृष्टि से समृद्ध करने की आकांक्षा उन्हें गहरे धरातल पर वैचारिक उष्मा से लैस करती जा रही है। उनके साहित्य में आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता, व्यक्ति और समष्टि, पर्यावरण और प्रकृति, घर और समाज, विज्ञान और दर्शन, ऐहिकता और आध्यात्मिकता अपने द्वन्द का परित्याग कर नया संतुलन खोज रहे हैं जिसकी प्रभावपूर्ण प्रतीति, 'शिवशाला', 'व्यसनों के पार' जैसी कृतियां देती हैं।

'आख्यान नहीं आचरण है : अहिंसा', 'जीवन का चरम आदर्श : सत्य', 'जीवन का वास्तविक आनन्द : ब्रह्मचर्य', 'सदाचार : जीवन शुद्धि का बीज', 'अहिंसा प्रचेता का अर्थशास्त्र' स्पष्टतः कहते हैं कि पूज्यश्री गुप्तिसागर जी इस विश्व को नव स्वरूप देना चाहते हैं। विषमता, अन्याय, असत्य, पाखण्ड, मानवीय-अपमान, दुराचरण, भ्रष्टाचार उनकी आँखों को भाता नहीं। वे इसे मनुष्य के मन से समाप्त करना चाहते हैं, उनका चरित्र बदलकर आन्तरिक बाध्यता बनाकर, उसके भीतर की धरा को नम करते हुए उसे मानवीय बनाना चाहते हैं। उनके विचार में इसी माध्यम से आया परिवर्तन स्थायी और विश्वसनीय हो सकता है। ठीक है कि यह एक जटिल और धीमी प्रक्रिया है आयुर्वेद के इलाज की तरह। इनकी बुनियाद में निश्चयतः उपाध्यायश्री सदृश ही तप और निष्ठा चाहिए। खूंखार भेड़ियों के मध्य धंस जाने वाला आत्मबल और आत्मोत्सर्ग चाहिए। उपाध्यायश्री इसे ही जागृत करना चाहते हैं।

उपाध्याय गुप्तिसागर इस प्रकार ऐसे प्रयोग का नाम है जिसकी सत्यता को दुनिया की प्रयोगशाला में सब देख रहे हैं। वे आत्मदर्शन, आत्म-विश्लेषण और आन्तरिक परिशुद्धि पर पूर्ण बल देते हैं। सौभाग्य से उपाध्यायश्री का परिपक्व कथा एवं कवि मन विभिन्न वैचारिक बिन्दुओं के मध्य विवेकपूर्ण तालमेल बैठाने में सक्षम है।

वास्तव में वे जीवन के विभिन्न आयामों और भारतीय संस्कृति, समाज, जीवन स्थिति और लोकमानस के स्वस्थ समन्वय को अपनी संवेदना भूमि एवं चिन्तन केन्द्र में गहरे अर्जित कर चुके हैं और इस सम्बन्ध में उनमें अस्पष्टता भी नहीं है।

इसीलिए पीढ़ियों के अन्तराल को जानते हुए भी वे न तो युवा-पीढ़ी के प्रति अकरुण होते हैं और न वृद्धों के प्रति भावुक। औद्योगिक संस्कृति और विज्ञान की बढ़ती आक्रामकता के मध्य उनका करुण, वात्सल्य प्रधान सन्त मन अहिंसक जीवन-प्रणाली की सादगी चाहता है। कहीं बढते उपभोक्तावाद का सामना करने के लिए मानवीय व्यक्तित्व की आत्मिक क्षमता को दृढ़ करते जाने में वे एक समाधान देखते हैं। बढ़ते अन्धकार के ख़ौफनाक रुप का दर्दनाक अहसास जितनी गहराई, तीव्रता, कलात्मकता, कुशलता और चित्रात्मकता से वे कराते हैं उतना ही यह विश्वास भी पैदा करते हैं कि कहीं न कहीं मनुष्य तमाम जटिलताओं, प्रतिरोधी शक्तियों और मारक स्थितियों के बीच भी अपनी सृजनशीलता के उन्मेष के आधार पर वैतरणी पार कर सकता है। उनकी यह आस्था एक विशाल और मौलिक आध्यात्मिकता से बल अर्जित करती है। इसीलिए 'नारी : तरुवर की सघन छांव', 'मन : विचारों का विश्वविद्यालय', 'णमोकार मंत्र : जीवन की संजीवनी घुट्टी' जैसे ललित निबन्ध सृजनशील कल्पना के परिणाम हैं।

प्रस्तुत कृति 'किसने मेरे ख्याल में दीपक जला दिया?' जन-जन की कृति है। इसमें विचार को आचार से और विश्लेषण को विकास की यथार्थवादी संभावनाओं की व्यवहारिक क्रियान्विति से जोड़ा गया है। यह पुस्तक एक सार्थक कदम है जो अवधारणा के प्रासंगिक स्वरुप को बड़ी सहज और संप्रेषणीय शैली में विषय की प्रस्तुति करती है। अपनी समग्रता में यह कृति एक दृष्टि-सम्पन्न साधक एवं विचारक की विचारणीय कृति है। गहरे आशावाद से भरपूर, स्वस्थ, मौलिक एवं सार्थक परिश्रम की ऐसी गतिशील धारा जो चल पड़ी है रास्ते पर इस विश्वास से कि युग को सही दिशा बोध अवश्य मिलेगा। भाषा भी बहते जल सी प्रवाहमान है। यही आशा, अपेक्षा और कामना है कि आज विश्व मानव की विश्वाब्धि के भ्रमरुपी भवंर में भटकती व डूबती नाव को नाविक की भाँति कुशल नेतृत्व प्रदान कर उपाध्यायश्री सुरक्षित उद्दष्टि एवं अभीष्ट की ओर ले जाएंगे। आपकी अद्‌भुत क्षमता से जिन शासन की वृद्धि हो, धर्म का विकास हो, नव पीढ़ियों में धर्म चेतना प्रबल हो, समन्वयशीलता का वातावरण निर्मित हो, धर्माचार का साम्राज्य स्थापित हो तथा समाज एवं श्रमण परम्परा के लिए आप वरदान-स्वरुप सिद्ध हों। पूज्य उपाध्यायश्री गुप्तिसागर जी युग-युग तक धर्मपथ पर गतिशील रहने की प्रेरणा और शक्ति प्रदान करते रहें, उनकी तपःरत लेखनी से कालजयी कृतियां निःसृत होती रहें।

इसी मंगल कामना के साथ –

डॉ नीलम जैन
सहारनपुर

❖ ❖

प्राथमिकी

संसार समस्याओं से भरा एक कंटकाकीर्ण जंगल है जहां एक साधारण व्यक्ति प्रवेश करते ही भयभीत हो जाता है। पर यदि उसकी धार्मिक चेतना का निर्माण हो जाता है, बुद्धि के साथ ही विवेक जागृत हो गया हो तो निर्भय बना रहता है। प्रलोभन से दूर रहकर अपने आप को जानने का प्रयत्न करता है। ऐसा निर्भय और विवेकशील व्यक्ति ही संसार की समस्याओं से दूर रह सकता है और दूसरे को भी सन्मार्ग पर ला सकता है।

परम पूज्य उपाध्यायश्री गुप्तिसागर जी महाराज एक ओजस्वी, ज्ञानी, मेधावी और आचार निष्ठ साधक हैं। उन्होंने प्रस्तुत ललित निबन्धों में संसारी व्यक्ति की इन्हीं दुःखती हुई रगों को छुआ है, उसकी वेदना को नजदीक से देखा है और दिए हैं कुछ ऐसे जीवन की सफलता के सूत्र जो उसे शाश्वत, यथार्थ और परम पावन मार्ग पर चलाकर निर्भय बना सकें।

धर्म की कितनी भी परिभाषायें कर दी जायें पर यदि वे हमें जीवन जीने की कला नहीं दे सकीं तो उन परिभाषाओं में अधूरापन ही बना रहेगा। इस दृष्टि से उपाध्यायश्री का यह कथन नितान्त सत्य है कि अभय, समता और क्षमाशीलता ही धर्म है। इन्हीं से जीवन मूल्यों की साधना होती है। उसमें सार्वजनिकता, सर्वकालिकता और सर्वदेशिकता आती है और आत्मसाक्षात्कार का द्वार उद्घाटित होता है।

मन कोरा कागज है। हमारी भावनायें, संस्कार और वृत्तियां उन पर चित्र बन जाती हैं। जिससे उसकी स्वाभाविक चंचलता द्विगुणित हो जाती हैं। संकल्प-विकल्प और विचारों के अन्तर्द्वन्दों में झूलता यह मन व्यक्ति को साधना से गिराने में कोई कसर नहीं रखता। इसलिए साधक उसे एकाग्रता की डोरी से कसकर बांध लेता है और निर्विचार की स्थिति में पहुंचने का भरपूर प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में उसे विशुद्ध मान्त्रिक शक्ति और आन्तरिक परीक्षण विशेष सहयोगी होता है जिसका उल्लेख उपाध्यायश्री ने 'मन : विचारों का विश्वविद्यालय' निबन्ध में किया है।

जीवन में आध्यात्मिकता को पल्लवित करने के लिए इन्द्रियों पर अनुशासन रखना भी आवश्यक है। इसके लिए आहार शुद्धि, सम्यक् योग और तत्प्रति संलीनता, कायोत्सर्ग जैसे साधन उपयोगी माने जाते हैं। इन्द्रियों को वश में रखने वालों की कथाओं से साहित्य भरा पड़ा है। उपाध्यायश्री ने ऐसी ही कतिपय कथाओं को इस पुस्तक में उद्धृत किया है जो बड़ी मार्मिक और हृदयवेधक हैं। ये कथायें संयम और संतोष की शिक्षायें देती हैं। यही संयम और संतोष जीवन का श्रृंगार है। संयम के क्षेत्र में नारी को दोष देना एकांगिता है, मूर्खता है। नारी तो वस्तुतः पुरुष को सद्गृहस्थ होने में सहयोगिनी बनती है। उसे अध्यात्म की ओर मोड़ देती है। उपाध्यायश्री ने उसे कामुकता की काल-कोठरी नहीं बल्कि तरुवर की सघन छांव कहा है।

जैन परम्परा में णमोकार मंत्र को अनादि मूल महामन्त्र माना गया है जिसकी भक्ति-पूर्वक आराधना कर अपवर्ग की प्राप्ति की जा सकती है। उसके माध्यम से जिनेन्द्र देव की अर्चना की जा सकती है। उपाध्यायश्री ने इसके अचिन्त्य प्रभाव का वर्णन अनेक उल्लेखों के साथ किया है।

उपाध्यायश्री ने मांसाहार और गर्भपात जैसी अमानवीय क्रियाओं पर भी चिन्ता व्यक्त की है और कहा है कि मानसिक पतन एवं चारित्रिक क्षरण के साथ संवेदन शून्यता की यह पराकाष्ठा है। व्यक्ति वस्तु के स्वभाव पर निष्पक्ष होकर चिन्तन करे तो वह इस चारित्रिक पतन से बच सकता है और पर्यावरण दूषित होने से उत्पन्न समस्याओं से मुक्त हो सकता है। आशा और तृष्णा के कारण व्यक्ति भौतिक साधनों को एकत्रित करता है। प्रकृति के साथ क्रूर व्यवहार करता है और हिंसक साधना का उपयोग कर सृष्टि पर प्रहार करता है। तीर्थंकर महावीर ने जिस अहिंसक संयमित और मानवीय जीवन पद्धति का सूत्रपात किया है उसका परिपालन करने से ये सारी समस्यायें उत्पन्न ही नहीं होतीं। पर्यावरण को सुरक्षित रखने और सामाजिक सन्तुलन को बनाये रखने में जैन धर्म ने जो अहिंसक और अनेकान्त के सिद्धान्त दिये हैं वे निश्चित ही बेमिसाल हैं। उनका यदि सही ढंग से परिपालन किया जाये तो विश्व शान्ति प्रस्थापित होने में बड़ी मदद मिल सकती है।

उपाध्यायश्री गुप्तिसागरजी एक तरुण साधक हैं। निर्ग्रन्थ परम्परा के अनुयायी हैं, सुलझे हुए विचारक हैं, क्रान्तिदर्शी हैं। विचार संवाहक हैं और आचार के धनी हैं। महावीर की वाणी को जीवन में उतारने का उन्होंने महाव्रत लिया है। कुशल कवि होने के कारण संवेदनशीलता भी उनके साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है। क्रूरता, विषमता और स्वभाव की जटिलता को मानव के मन से समाप्त कर करुणा का विकास हो, समता का जागरण हो और कषायों का संयमन हो यही उनकी आकांक्षा है, यही उनका विश्रुत प्रयत्न है। सरल भाषा में अपने विचारों को प्रस्तुत कर उपाध्यायश्री ने भौतिकवादी व्यक्ति के मन को झकझोरने का जो सफल आयास किया है वह अभिनन्दनीय है।

प्रस्तुत कृति 'किसने मेरे ख्याल में दीपक जला दिया?' सांप्रदायिकवाद से अनछुई है। इसमें लेखक ने जन-जन के मानस को छुआ है। घिसी-पिटी, रटी-रटाई लकीरों से हटकर एक ऐसा उन्मुक्त आकाश पाठकों को दिया है, जहां नैतिक एवं पवित्र सदाचारों से ओत-प्रोत उन्मुक्त विचार पंछी विचरण कर सकें। विवेकानन्द के समान उनकी साहित्य धारा सतत प्रवाहित होती रहे और लोक जीवन को अनुप्राणित कर तीर्थंकर महावीर की अहिंसक विचार धारा को प्रचारित-प्रसारित करती रहे यही हमारी भावना है। उनके पवित्र विचार जन जागरण का केन्द्र बनेंगे। मानवता का सन्देश प्रवाहित करेंगे। युग बोध देते हुए संतप्त जीवन को नई दिशा देंगे, नई अभिव्यक्ति देंगे, यह हमारा प्रबल विश्वास है। वे निरामय रहकर अपनी वीतराग साधना करते रहें और साथ ही अज्ञानान्धकार से ग्रसित जनता के लिए भी दीपक का काम करें यही हमारी कामना है।

डॉ. भागचन्द्र 'भास्कर'
अध्यक्ष
पालि-प्राकृत विभाग,
विश्वविद्यालय नागपुर

❖ ❖

उच्चादर्शों की मंदाकिनी

उपाध्याय गुप्तिसागर जी नैतिक मूल्यों और उच्च आदर्शों के प्रति समर्पित कुशल लेखक एवं कवि हैं। आपकी लेखनी और वाणी ने सदा उच्च आदर्शों की मंदाकिनी को प्रवाहित किया है।

प्रस्तुत कृति **'किसने मेरे ख्याल में दीपक जला दिया?'** ललित निबन्धों की एक महत्वपूर्ण कृति है। जिसने मानव के अन्तस् को छुआ है। सुप्त संवेदनाओं को जगाया है। योग्यता का अभिनन्दन : स्वावलम्बन, चिन्ता और चिता, मानसिक प्रदूषण से बिगड़ता पर्यावरण, सदाचार : जीवन शुद्धि का बीज, हाइपरटेन्शन, गर्भपात, किसने मेरे ख्याल में दीपक जला दिया?, बादशाहे जैन का यह महिर वा दरबार है, णमोकार मंत्र : जीवन की संजीवनी घुट्टी, आओ! विचारें विचार पर, मन : विचारों का विश्वविद्यालय, शुद्धाचरण वाली शिक्षा ही श्रेयस्कर है, नारी : तरुवर की सघन छांव आदि-आदि निबन्ध ऐसे हैं जिनकी आज नई और पुरानी, युवा और वृद्ध दोनों पीढ़ियों को नितान्त आवश्यकता है। उपाध्यायश्री का साहित्य अंजन की भाँति भौतिकता की चाक चिक्य से धुंधली हुई आंखों की धुन्ध मिटाकर दृष्टि को निर्मलता प्रदान करता है।

साहित्य भारती प्रकाशन का यह उद्देश्य है कि जो साहित्य चरित्र निर्माण करता हो एवं मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठापित करता हो उसी का प्रकाशन किया जाये। उपाध्याय गुप्तिसागरजी की मौलिक कृति **'किसने मेरे ख्याल में दीपक जला दिया?'** साहित्य भारती प्रकाशन का प्रथम पुष्प है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने सरल और सहज लहजे में अपनी बात पाठकों तक पहुँचायी है। आपके विचारों तथा भाषा शैली में कहीं क्लिष्टता, जटिलता नहीं है। पाठक सहज प्रवाह में पढ़ता हुआ बहता चला जाता है।

इस कृति की सर्जना में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से जिनका सहयोग रहा उन पूज्य ऋषियों के पादपद्मों में कृतिकार की प्रणति एवं शेष सहयोगी-सुधियों को साधुवाद।

इस निर्दोष मुद्रण यात्रा में सबसे निकट सहयोग रहा ब्र. बहिन रंजना शास्त्री का। इनके लिए मेरा यही शुभाशीष है कि वे दीर्घायुक एवं स्वस्थ रहकर संयम पथ पर अविरल अग्रसर होती रहें। साहित्य भारती प्रकाशन के संयोजक एवं सहयोगियों के लिए इस प्रयास हेतु हार्दिक धन्यवाद। साथ ही स्वस्थ एवं सम्यक् मुद्रण हेतु भाई विजय जैन, विकल्प प्रिंटर्स, देहरादून, को साधुवाद।

उपाध्यायश्री के श्री चरणों में अनेकशः वन्दन। आपसे यही अपेक्षा है कि आप इसी प्रकार के जनोपयोगी साहित्य द्वारा मानव समाज का ज्ञान-पथ आलोकित करते रहें।

4 दिसम्बर, 1996 — सिद्धान्तरत्न ब्र. सुमन शास्त्री

इन्दौर

❖ ❖

अनुक्रमणिका

❖ ❖

योग्यता का अभिनन्दन : स्वावलम्बन

अपने ऊपर विश्वास करना; अपनी शक्तियों पर विश्वास करना; एक ऐसा दिव्य गुण है, जो हर कार्य को करने योग्य साहस, विचार एवं योग्यता उत्पन्न करता है। दूसरों के ऊपर निर्भर रहने से अपना बल घटता है और इच्छाओं की पूर्ति में अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं। स्वाधीनता, निर्भयता और प्रतिष्ठा इस बात में है कि अपने ऊपर निर्भर रहा जाय; सफलता का सच्चा और सीधा पथ भी यही है।

यह संसार प्रतियोगिता का रंग स्थल है। यहां पर जो विजयी होता है, वही पुरस्कृत किया जाता है। जो अपनी योग्यता और पात्रता का प्रमाण देता है, विजयश्री वही वरण करता है। अयोग्य, आलसियों और परावलम्बियों के लिए इस संघर्ष भूमि में कोई स्थान नहीं है।

::



पुरुषार्थ का सहारा

यदि जीवन में कुछ बनने की इच्छा है तो स्वयं अपने पुरुषार्थ का ही सहारा लेना होगा। यह सोचना गलत होगा कि कोई दूसरा कृपा करके कोई ऐसा मार्ग

प्रशस्त कर देगा जो इच्छित लक्ष्य की ओर जाता हो। यह सच है कि उन्नति करने के लिए समाज की सहायता एवं सहयोग की आवश्यकता होती है, किन्तु इस आवश्यकता की पूर्ति यों ही अनायास नहीं हो जाती। उसके लिए योग्यता और पात्रता का प्रमाण देना नितान्त आवश्यक है, जिसको पाने के लिए फिर भी स्वयं अपने आप पुरुषार्थ करना होगा। जो लोग अपना स्वतन्त्र पुरुषार्थ न करके अपना श्रम और योग्यता दूसरों के हाथ बेच देते हैं वे कदाचित् ही आत्मनिर्भर बन पाते हैं।

भौतिक उन्नति की तरह आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति भी आत्मनिर्भरता पर ही निर्भर है। इस विषय में श्रेष्ठ और सिद्ध पुरुषों से निर्देश तथा पथ दर्शन तो पाया जा सकता है, लेकिन उसकी साधना स्वयं ही करनी होती है। आत्मविश्वास के सम्बन्ध में किसी दूसरे की साधना अपने काम नहीं आ सकती। आत्म साधना में जिस संयम-नियम-व्रत-उपवास, अनुष्ठान और तपस्या की आवश्यकता होती है उसका साधन स्वयं अपने आप ही करना होगा, तभी उनका यथार्थ लाभ प्राप्त हो सकता है। यदा-कदा गुरूजनों की कृपा से भी आत्म प्रकाश की किरणें मिल जाती हैं, किन्तु इस कृपा के लिए पुनः आत्मनिर्भरता पर आना होगा। गुरू अथवा ज्ञानी पुरुष को प्रसन्न करने के लिए जिस सेवा और परिचर्या की आवश्यकता होती है वह तो अपने किए ही पूरी हो सकती है। कोई बदले में सेवा करके गुरूजनों की प्रसन्नता किसी दूसरे के लिए सम्पादित नहीं कर सकता।

उत्साह आवश्यक

क्षेत्र और विषय कोई भी क्यों न हो, उसमें उन्नति के लिये आत्मनिर्भरता का गुण विकसित करना ही होगा। परावलम्बी प्रवृत्ति से किसी प्रकार की उन्नति नहीं की जा सकती। आत्मविश्वास, योग्यता, क्षमता, साहस और उत्साह आदि ऐसे गुण हैं, जो जीवन को उन्नति के शिखर पर ले जाने के लिए न केवल उपयोगी ही हैं, बल्कि अनिवार्य भी हैं। जिसमें आत्मविश्वास की कमी होगी वह किसी पथ पर बढ़ने की कल्पना ही नहीं कर सकता। वह तो यथा-स्थिति को ही गनीमत समझकर चुपचाप अपना जीवन कट जाने में ही कल्याण समझेगा। जो कर्त्तव्य के प्रशस्त पथ पर चलेगा ही नहीं, जिसे यह विश्वास ही न होगा कि वह भी उन्नति कर सकता है, आगे बढ़ सकता है, उन्नति और प्रगति उसके लिए असंभव ही बनी रहेगी।

जिनमें उत्साह नहीं, वे जीवन-पथ पर आई एक ही असफलता से निराश होकर बैठ जाएंगे। एक ही आघात में उनके उन्नति और विकास के सारे स्वप्न चकनाचूर हो जायेंगे। निश्चय ही उन्नति और प्रगति में उत्साह का बहुत महत्व है।

उत्साह से वंचित हुआ व्यक्ति साधारण काम भी सफलता पूर्वक नहीं कर सकता, तब कोई ऊँचा लक्ष्य तो बहुत दूर की बात है।

स्वावलम्बन अथवा आत्मनिर्भरता के पवित्र व्रत पालन से उन्नति और विकास के सारे द्वार खुल जाते हैं। जिसने आत्मनिर्भरता का व्रत लिया है वह इस लज्जा से कि कहीं किसी विषय से परमुखापेक्षी होकर उसका व्रत भंग न हो जाए, स्वयं प्रयत्नपूर्वक अपने अन्दर की सारी कमियां दूर करता रहेगा। दूसरे का मुख देखने या हाथ पसारने के बजाय स्वाभिमानी व्यक्ति अपनी सारी कमियों को दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं छोड़ेगा। चाहे फिर इसके लिए उसे कितना ही कष्ट और कठिनाई क्यों न उठानी पड़ें।

किसी भी क्षेत्र अथवा विषय में उन्नति क्यों न करनी हो, कोई भी लक्ष्य क्यों न पाना हो, स्वावलम्बी बने बिना उसमें सफलता नहीं मिल सकती। दूसरों की शक्तियों, साधनों और परिस्थितियों पर अपना जीवन लक्ष्य निर्भर कर देने वाले प्रायः असफल होते हैं।

परावलम्बी : पृथ्वी का बोझ

परावलम्बी व्यक्ति न केवल अपने लिए ही समस्या है बल्कि दूसरों के लिए भी समस्या और उलझन बनता रहता है। साधारण-सी कठिनाईयों और कामों के लिए दूसरों के पास जाकर खड़ा हो जाता है और सहायता/सहयोग की याचना करने लगता है। कोई भी लक्ष्यनिष्ठ व्यक्ति उसकी इस याचना से असमंजस में पड़ जाता है। यदि वह उसके नगण्य से काम के लिए अपना बहुमूल्य समय देता है तो अपनी उन्नति की स्पर्धा में दो कदम पीछे रह जाता है। और यदि इंकार करता है तो मानवीय उदारता पर आंच आती है। बहुत बार तो उसे अपनी हानि कर उसके काम में वक्त देना होता है और बहुत बार मजबूरी बताकर मानसिक वेदना सहनी पड़ती है। ऐसे परमुखापेक्षी और परावलम्बी व्यक्ति वास्तव में धरती पर भार के सिवाय और कुछ नहीं होते।

परावलम्बन बड़ी हीन, हानिकारक और लज्जास्पद वृत्ति है। हर स्वाभिमानी व्यक्ति को इसका त्याग कर देना चाहिए। स्वावलम्बन और आत्मनिर्भरता एक बड़ी उदात्त और आदर्श वृत्ति है। हर प्रयत्न और पुरुषार्थ के मूल्य पर इसे विकसित करना ही चाहिए। परावलम्बन मनुष्य की मानसिक दुर्वलता है जो उचित नहीं है। पुरुष को पुरुषार्थ ही शोभा देता है। उसे हर प्रकार से अपने हर क्षेत्र में स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर बनना चाहिए और संसार में चल रही भौतिक अथवा आध्यात्मिक, किसी भी प्रतियोगिता को अंगीकार कर विजयश्री वरण करनी ही चाहिए।

ऐसा नहीं है कि प्रत्येक समस्या या गुत्थी को सुलझाने में व्यक्ति स्वयं समर्थ होता है। कभी-कभी दूसरों की सहायता भी लेनी पड़ती है। दूसरों से सहायता अवश्य लीजिए परन्तु उन पर अवलम्बित मत रहिए। अपने पैरों पर खड़े होकर अपनी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न कीजिए। जब आत्मविश्वास के साथ सुयोग्य मार्ग की तलाश करेंगे तो वह किसी न किसी प्रकार मिल कर ही रहेगा।

जब मनुष्य आत्मनिर्भरता के वीरतापूर्ण दृष्टिकोण को छोड़कर पराया मुंह ताकने की कायरता, क्लीवता और हीनता की अंधकारमयी भूमिका में उतरता है तो वह बड़े दीन वचन बोलने लगता है एवं दूसरों से अपेक्षाएं रखने लगता है। वस्तुतः सारी समस्याओं को सुलझाने की कुंजी अपने अन्दर है। दूसरे लोगों से जिस बात की आशा करते हैं, उसकी योग्यता अपने अन्दर पैदा कीजिए। ऐसा करने पर आप पायेंगे कि विना सहायता माँगे अनायास ही आपकी वह इच्छाएं पूरी होने लगेंगी। जरुरत है तो सिर्फ दृढ़ इच्छाशक्ति की।

आत्मनिर्भरता : योग्यता का पुरस्कार

आत्मनिर्भरता मात्र विचार करने से नहीं आती बल्कि उसके लिए प्रयत्न भी करने पड़ते हैं तथा प्रयत्नों को विचारों के अनुरूप ढालने की कोशिश भी करनी पड़ती है। जैसे कि आप नहीं चाहते हैं कि बीमारी आपको सताये, तो आप स्वास्थ्य के नियमों पर दृढ़ता पूर्वक चलना आरम्भ कर दीजिए। यदि आप चाहते हैं कि ऐश-आराम उड़ावें; तो धन कमाना आरम्भ कर दीजिए। आप चाहते हैं कि आपके भी बहुत से मित्र हों; तो आप अपना स्वभाव आकर्षक बनाइये। आप चाहते हैं कि लोग आपका लोहा मानें; तो शक्ति संपादन कीजिए। आप चाहते हैं कि प्रतिष्ठा प्राप्त हो; तो प्रतिष्ठा के योग्य कार्य कीजिए। आप चाहते हैं कि ऊँचा पद प्राप्त हो तो उसके योग्य गुणों को एकत्रित कीजिए। और यदि आप धन, बुद्धि, बल, विद्या चाहते हैं तो परिश्रम और उत्साह उत्पन्न करिये। जब तक अपने भीतर वे गुण नहीं हैं जिनके द्वारा मनोवाञ्छाऐं पूरी हुआ करती हैं, तब तक यह आशा रखना व्यर्थ है कि आप सफल मनोरथी हो जावेंगे।

सफल मनोरथ के लिए बाहर की शक्तियाँ भी सहायता किया करती हैं, पर करती उन्हीं की हैं जो उसके पात्र हैं। इस संसार में अधिक योग्य को महत्व देने का नियम सदा से चला आया है। संसार में सुयोग्य व्यक्तियों को सब प्रकार सहायता मिलती है। माली अपने बाग में तन्दुरुस्त पौधों की खूब हिफाजत करता है और जो कमजोर होते हैं उन्हें उखाड़ कर उसकी जगह पर दूसरा बलवान पौधा लगा देता है। इसी प्रकार ईश्वर की सहायता भी सुयोग्यों को ही मिलती है। संसार में सफलता,

लाभ की आकांक्षा के साथ अपनी योग्यता में वृद्धि करना भी आरम्भ कीजिए। यदि आप आत्मनिर्भर हो जावें एवं आप जैसा होना चाहते हैं, उसके अनुरूप अपनी योग्यताएँ अर्जित करने लगें तो कोई शक्ति नहीं जो आपको लक्ष्य तक न ले जाये।

सफलता के अग्रदूत

अपनी आत्मा को बाह्य परिस्थितियों का निर्माता – केन्द्र बिन्दु मानिये। जो घटनाऐं सामने आ रही हैं, उनकी प्रिय-अप्रिय अनुभूति का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लीजिए। अपने को जैसा चाहे वैसा बना लेने की योग्यता अपने में समझिये। अपने ऊपर विश्वास कीजिए। किसी और का आसरा मत देखिये। बिना आपके निजी प्रयत्न के योग्यता संपादन के बाहरी सहायता प्राप्त न होगी। यदि होगी तो उसका लाभ बहुत थोड़े समय में समाप्त हो जाएगा और पुनः वही दशा उपस्थित होगी जो पूर्व में थी। उत्साह, लगन, दृढ़ता, साहस, धैर्य और परिश्रम इन छः गुणों को सफलता का अग्रदूत माना गया है। इन दूतों का निवास स्थान आत्मविश्वास में है। अपने ऊपर भरोसा करेंगे तो ये गुण उत्पन्न होंगे।

'उद्धरेत् आत्मनात्मानम्' की शिक्षा देते हुए गीता ने स्पष्ट कर दिया है कि यदि अपना उत्थान चाहते हो तो उसका प्रयत्न स्वयं करो। जैसे अपने पेट के पचाये बिना अन्न हजम नहीं हो सकता। जैसे अपनी आंखों के बिना दृश्य दिखाई नहीं पड़ सकता, उसी प्रकार अपने प्रयत्न बिना उन्नत-अवस्था को भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

परावलम्बन बनाम पराधीनता

आत्मविश्वासी; आत्मनिर्भर भी होता है। आत्मनिर्भर व्यक्ति कभी बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ नहीं बनाता। वह केवल उतना ही सोचता है, जितना उसे करना होता है, और जितना कर सकने की उसमें शक्ति होती है। जबकि पर-निर्भर व्यक्ति की सहज कमजोरी यही होती है कि वह दूसरों के भरोसे जीवन में बड़े-बड़े लक्ष्य निर्धारित कर लेता है एवं शिष्टाचारिक आश्वासन में भी वह अखण्ड विश्वास करने लगता है। दर-असल आत्मनिर्भरता के अभाव में मनुष्य जब दूसरों के सहारे चलने की भावना का शिकार हो जाता है तो संसार में हर व्यक्ति उसे शक्तिवान तथा मित्र मालूम होता है और तब उसका विश्वास उसके प्रति स्थायी हो जाता है।

यही कारण है कि परावलम्बी व्यक्ति आजीवन दुःखी एवं दरिद्र बना रहता है। जो दूसरों के सहारे जीना चाहेगा उसे दयनीय जीवन बिताना ही होगा। परावलम्बन का दूसरा नाम पराधीनता है – 'पराधीन सपने हु सुख नाहीं' वाली दशा से कभी

भी कोई व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता। वह सदा त्रस्त, दुःखी तथा असंतुष्ट ही रहेगा। पर-निर्भरता संसार का सबसे बड़ा अभिशाप है। भारतीय संस्कृति के प्राण श्रमण साधु सन्तों का जीवन यद्यपि श्रावकाधीन अथवा अनुयायियों के आश्रित होता है परन्तु वे सिंह की भांति स्वावलम्बी होते हैं। यदि उनमें पूर्ण स्वावलम्बन और शक्ति-उद्‌घाटन की क्षमताएं जीवन्त न हों तो क्या वे संन्यास ले सकते हैं? आगम अध्यात्म की सम्प्राप्ति उन्हें हो सकती है? क्या परावलम्बी कभी किसी को स्वावलम्बन की डगर सुझा पायेगा? पोखर की दलदल में स्नान करने वाला गंगासागर में स्नान करने वालों को क्या उपदेश दे सकेगा? जो मुहल्ले में ही भटक जाता है वह संसार यात्रा के लिए क्या किसी का पथ-प्रदर्शक बनने में बेहिचक तैयार हो सकेगा? गहरा गड्ढा हिमालय की ऊँचाई से क्या यह कह सकेगा कि अभी कुछ नहीं है, बहुत नीचे हो, जरा और उठो? यदि नहीं, तो फिर जिनका जीवन परावलम्बन पर आश्रित होगा, क्या वे दूसरों को स्वावलम्बन जीवन जीने की हिदायतें दे सकेंगे? हाँ, इसीलिए श्रमण योगी पुरुष किसी की अपेक्षा किये बिना अध्यात्म की यात्रा अबाधित रूप से बरकरार रखते हुए दूसरों के दिग्दर्शन बन वर्तमान में निरपेक्ष जीते हैं, उन्हें न भूत की स्मृति होती है और न अनागत का ख्याल। जिसे रु-ब-रु देखा है अध्यात्म के शिखर आचार्य कुन्दकुन्द में। उनके शब्द हैं –

> उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं ।
> कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ।।
>
> – *समयसार*

ऐसा ही योग्यता सम्पन्न स्वावलम्बी व्यक्ति सर्वत्र अभिनन्दनीय, अभिवन्दनीय, अनुकरणीय एवं श्लांघनीय होता है। इन महापुरुषों का अभिनन्दन वाणी, शब्दों एवं प्रशस्ति पत्रों से नहीं होता, उनका सच्चा अभिनन्दन भक्ति और अनुकरण से होता है।

वस्तुतः जो आत्मनिर्भर है, आत्मविश्वासी तथा आत्म-निर्णायक है, जिसके पास अपनी बुद्धि और अपना विवेक है, उसका ही जीवन सफल और संतुष्ट होता है। स्वावलम्बी दूसरों पर आश्रित नहीं रहता। आत्मनिर्भर व्यक्ति का लक्ष्य उसकी गति के साथ स्वयं उसकी ओर खिंचता चला आता है। आत्मनिर्भर व्यक्ति के लिए समय के साथ अपनी शक्ति के भरोसे से प्रारम्भ किया हुआ काम ठीक उसी प्रकार फल लाता है, जिस प्रकार बोया हुआ बीज फलीभूत होता है।

आत्मनिर्भरता : दिव्य गुण

आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास ऐसे दिव्य गुण हैं; जिनको विकसित कर लेने पर संसार का कोई भी कार्य कठिन नहीं रह जाता। आत्मवान् व्यक्ति में समयानुसार बुद्धि का स्वयं स्फुरण होता रहता है। आत्मविश्वासी को अपने निर्णय तथा कार्य पद्धति में किसी प्रकार का संदेह नहीं होता। वह उन्हें विश्वास पूर्वक कार्यान्वित करके सफलता प्राप्त कर ही लेता है। आत्मनिर्भर व्यक्ति में अपनी असफलता का दोष दूसरों को देने की निकृष्ट निर्बलता नहीं होती। आत्मनिर्भर मानव अपनी असफलता का कारण स्वयं अपने अन्दर खोजा करता है और उसे पाकर वह शीघ्र ही उसे सफलता में बदल लेता है। परावलम्बी की तरह असफलता के लिए किसी को कोसने तथा दोष देने का अवकाश उसके पास नहीं होता।

अतः यदि आप जीवन में सफलता, उन्नति, सम्पन्नता एवं समृद्धि चाहते हैं तो स्वावलम्बी बनिये। अपने जीवन पथ को खुद अपने हाथों से प्रशस्त कीजिए और उस पर चलिये भी अपने पैरों से। परावलम्बी अथवा पराश्रित रहकर आप दुनियां में कुछ न कर सकेंगे। **मनुष्य की शोभा आश्रित बनने में नहीं, आश्रय बनने में है**। क्या आश्रय बनने के लिए इससे बढ़कर कोई शानदार चीज हो सकती है कि हमारी इच्छाएं हमारे आश्रित हों, कम-से-कम हों और हम खुद ही उन्हें पूरा करें? यदि हम इच्छा निरोध या इच्छा परिमाण का व्रत ले लें तो हम पूर्णतः आत्मनिर्भर हो सकते हैं। जो इच्छाओं के दास हैं, वे पराश्रित हैं, परावलम्बी हैं। वे आश्रित हैं, आश्रय बनने जैसी विराट क्षमता उनमें कहाँ है? 'आश्रय' बनने के लिए पुरुषार्थ वादी होना आवश्यक है। जो पुरुषार्थवादी हैं; वे आशावादी हैं, भाग्यशाली पुण्यात्मा हैं उनके जीवन में सदा खुशियों के दीप जगमगाते हैं। जो भाग्यवादी हैं; वे निराशावादी हैं, पापी हैं। उनके जीवन में खुशियों के दीप उन्हीं की निराशामयी वायु के झोंके से बुझ जाते हैं।

निःसन्देह यदि आप निष्कलंक, निर्भीक और निर्द्वन्द्व जीवन जीना चाहते हैं तो आत्मनिर्भर बनकर अपना काम कीजिए और विश्वास रखिए, आप अपने लक्ष्य में अवश्य सफल होंगे। मनोवांछित जीवन के अधिकारी बनेंगे।

मनुष्य का कार्य ही उसकी क्षमता का प्रमाण है। जब योग्यताएं प्रबल होती हैं तब अधिकारों की आकांक्षा नहीं होने पर भी अधिकारों की आवलियॉं स्वतः योग्य पुरुष के पास दौड़ी चली आती है तथा अपने स्वावलम्बी स्वामी को विकास की ओर गतिमान करती हैं। स्वावलम्बी, श्रमजीवी हर **'दुविधा को सुविधा'** में परिणत कर विषम-परिस्थितियों की घाटी को भी हँसते-हँसते पार करने का अदम्य पौरूष रखता है। उसे हीन भावना का राहु कभी अपना ग्रास नहीं बना पाता। समाज ऐसी

ही स्वावलम्बी योग्यता का गौरवशाली अभिनन्दन करती है। योग्यता का मानदण्ड वेतनमान नहीं है प्रत्युत उसका स्वावलम्बी जीवन है। एक चित्रकार सुन्दर दीवार पर जो आकर्षक चित्र उकेर सकता है; वही चित्रकार 'कच्ची मिट्टी की दीवार जिस पर शैवाल एवं ईंट के टुकड़े झांक रहे हों' पर सुन्दर चित्रकारी नहीं कर सकता। यह दोष चित्रकार का नहीं अपितु दीवार की योग्यता-अयोग्यता का है। इसी भाँति अभिनन्दन किसका? बाल, युवा, वृद्ध, अमीर-गरीब लोकख्यात प्रतिष्ठित पदवान किसका? उत्तर होगा; अभिनन्दन केवल योग्यता का, स्वावलम्बी जीवन का। जिसकी बुनियाद है जीवन की नैतिकता/पवित्रता।

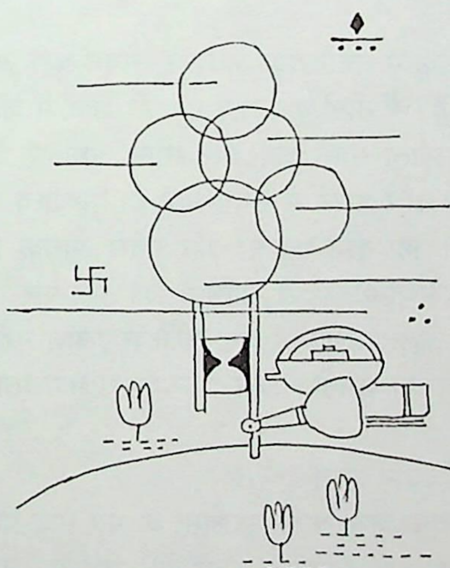
⌘ ⌘

संस्कार की फलश्रुति : वैराग्य

राग के अभाव में जो मानसिकता निर्मित होती है उसका नाम है वैराग्य। और वैरागी वही हो सकता है जिसका भोगों के प्रति अनाकर्षण है। इन्द्रिय और मन पर पड़ने वाली मोह-संस्कार की काली छाया से दूर खड़े हुए बिना, वैरागी होना वैसा ही असम्भव है जैसे ज्येष्ठ की चिलचिलाती धूप में श्यामल निशा का अस्तित्व। जिसके जीवन में वैराग्यानुभूति हो जाती है वह भले ही सिद्धांत-शास्त्र का मर्मज्ञ एवं धर्मज्ञ न हो लेकिन उसकी साधना अप्रतिम हो जाती है, क्योंकि उसके वैराग्य पौध को सिंचन मिलता है आस्था और सहिष्णुता के पावन नीर का।

वासना की अर्चिष वैराग्य का ईंधन

वैराग्य जल से 'वासना की आंतरिक अर्चिष' शान्त होती है; विषय-ईंधन से नहीं। विषयों की अंधी दौड़ में धावमान चेतना को अन्तर्मुखी बनाने का एकमात्र साधन है वैराग्य। जो अंतः-शोधन की प्रक्रिया है, जीवन का भूषण है, आनन्द का स्रोत है। और है एक ऐसा सुरक्षा कवच जो व्यक्ति की अनवरत रक्षा करता है।



वैराग्योद्भूति के लिए तीन तत्व आवश्यक हैं। द्वादशानुप्रेक्षा का चिन्तन, सम्यक् दृष्टिकोण और संस्कार रसायन से सुसुप्त शक्तियों का जागरण। इस त्रिमुखी वायु बाण से जब मोह के बादल छंट जाते हैं तब चेतना उर्ध्वमुखी तो होती ही है साथ-ही-साथ सृजनात्मक शक्ति भी सुविकसित होती है। तो आइए संस्कार रसायन से सुसुप्त शक्तियों के जागरण का एक जीवंत जीवन जो आज भी इतिहास के पन्नों पर अपना अमर संदेश देते हुए मुस्कुरा रहा है, उसका दर्शन करें।

ऐसे फलते हैं संस्कार

राज प्रासाद से मस्त पवन के झौंके के साथ एक पुरुष स्वर बाहर आया। मदालसे! कितना समय बीत गया लेकिन अभी भी हमारी गोद सूनी है।

बीच में ही बोल उठी – प्रिये! चिन्तित मत होइए अभी आपके साथ मेरे केवल चार बसंत ही तो गुजरे हैं।

सम्राट ने अपनी सम्राज्ञी को बाहुपाश में ले लिया। कुछ दिनों पश्चात् सम्राज्ञी कहती है – स्वामिन्! मेरी कुक्षि में आपका अंकुर फूट रहा है। मेरी अंतरेच्छा हो रही है कि मैं आपके साथ धर्म-चर्चा करूं।

ओह शोभने! आज तूने कितना शुभ समाचार दिया। मेरा हृदय हिलोरें लेने लगा। अहा.... मेरे मन को कितना शकून मिल रहा है, बृहस्पति भी इसकी कल्पना/गणना नहीं कर सकेगा? कोमलांगी शचि की तरह मेरे निकट बैठो, मैं तुम्हारी इच्छापूर्ति करूंगा।

प्राणवल्लभ! लोक में सबसे बड़ा अंधकार, सबसे बड़ी आग एवं सबसे विषैला, खतरनाक विष क्या है? मैं तीनों का उत्तर एक ही शब्द में जानना चाहती हूं।

शुभे! सुनो! मिथ्यात्व सबसे बड़ा और सघन अंधकार है। चर्मचक्षु और प्रदीप का प्रकाश इसे देखने और हटाने में समर्थ नहीं है। मिथ्यात्व ही सबसे भयंकर आग है, जिसे मेघवृष्टि भी नहीं बुझा सकती। और सबसे अधिक जहरीला जहर भी यही मिथ्यात्व है, जो जन्म-जन्मांतरों से प्राणियों को पल-पल विषाक्त कर रहा है, जिसका सम्यक्त्व के अलावा लोक में कोई लौकिक इलाज नहीं है।

अहा... हा.. कितना कमनीय उत्तर है स्वामिन्। मदालसा कुछ प्यार से इठ्लाते हुए बोली।

मदालसे! अब विश्राम करो।

इस तरह धर्म-चर्चा करते-करते मदालसा के नव माह बड़े आनन्दपूर्वक व्यतीत हुए। वह हर-पल, हर-क्षण सावधान रहती थी; गर्भस्थ शिशु पर सत्संस्कारों के बीजारोपण में। समय पक्षी की पंक्ति की भांति उड़ गया। माँ के संस्कारों से गढ़े

एक सुन्दर बालक ने शुभ लगन, शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र में जन्म लिया। जन्मोत्सव में सारी नगरी दुल्हन की तरह सजाई गई। मुँह मांगे दान वितरित किए गए। कैदी बन्धन मुक्त हो गए। रानी माँ ने धाय के हाथों में बालक न सौंप उसके जीवन निर्माण का दायित्व अपने सबल कंधों पर ले लिया। माँ के शिल्पी हाथ उसे गढ़ने के लिए संकल्पित हो गए। वह अपने नवजात शिशु को घुट्टी के साथ धर्म-संस्कार पिलाने लगी।

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि ।
संसार माया परिवर्जितोऽसि ।।

और बालक मयंक दूज की तरह दिन-ब-दिन बढ़ने लगा। बालक की वृति-प्रवृति, बाल सुलभ चेष्टा, अलौकिक थी। उसका चिंतन कुछ अलग किस्म का था। उसके खेल अध्यात्म के मैदान में होते थे। उसके बोल लोकोत्तर थे। उसकी जिज्ञासाओं के समाधान पिता के लिए अनुत्तरित थे। पिता के मन में सन्देह की छिपकली चुकचुकाने लगी। पिता ने राजपुत्र को रागवर्धक संसाधनों से जकड़ने की जैसे-जैसे चेष्टा की, वीतरागता वैसे-वैसे दुगुने वेग से बालक पर अपना आधिपत्य जमाने लगी।

रागी-विराग के बीच द्वन्द्व होता रहा लेकिन एक-दूसरे से अपरिचित अनभिज्ञ-सा। अचानक राजा पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा, जब उसने सुना मेरा नौ वर्षीय सुकुमार आज प्रातःकाल उद्यान में पधारे एक दिगम्बर वीतरागी संत का अनुचर हो गया – दीक्षित हो गया। रानी ने राजा को बहुत समझाया, धैर्य बंधाया। राजा आश्वस्त हुआ तब; जब रानी ने द्वितीय संतान की आशा-डोर से उसे बांधा।

कुछ दिनों पश्चात् आशा की किरण के रूप में रानी के उदर पर गर्भ चिन्ह उभर आए। राजा की खोई खुशियां लौट आई। अवधि पूर्ण होने पर रानी ने द्वितीय पुत्र को जन्म दिया। पूर्ववत् उत्सव हुए। राजा, पुत्र के प्रति पहले से कुछ अधिक सावधान थे, लेकिन क्या किसी विरागी को बांधने वाला बंधन आज तक कोई तैयार कर पाया है? जिसके मन में सहज रूप से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है उसके लिए बाहरी दुनियां का कोई आकर्षण नहीं लुभा पाता। पूर्व जन्म के शुभ संस्कारों के संघात और माता के वातावरण ने बालक में वही चेतना भर दी, जो उसके बड़े भाई की रगों में भरी थी। राग की अवधिपूर्ण कर वह भी अल्पवय में अपने अग्रज का अनुचर बन गया। समय का चक्र चलता रहा और एक, दो, तीन, चार, पांच और छह राजपुत्र जिनानुगामी होते गए।

राजा का धैर्य सेतु टूट गया। उनका विश्वास डोल गया। रानी उन्हें जितना समझाती, राजा उतना ही उस पर शंकित होने लगते। सम्राट की शंकित निगाहों के नागपाश ने सम्राज्ञी को जकड़ लिया। उनकी निगाहें रानी की गुप्तचरी बन गईं।

अर्ध निशा का सन्नाटा। राज प्रासाद में दीप जल रहे हैं। पूर्णेन्दु अपनी ज्योत्सना के अमृत घट भर-भर कर वातायनों से राजमन्दिर में उड़ेल रहा है। धूपदान से उठती सुगंधित तरंगें राजा को बैचेन बना रही हैं। बीच-बीच में किसी बाल पक्षी की मधुर चहचहाती आवाज उसके मन वीणा के तारों को झंकृत कर रही है। आज नरनाथ की आंखों से नींद विदा ले चुकी है।

वे बैचेनी से पलंग पर करवटें बदल रहे हैं। कभी-कभी दीर्घ निःश्वास का स्पष्ट शब्द रानी के कानों में पहुंच राजा की जागृति और बैचेनी की सूचना दे रहा है।

क्या आप अभी तक जाग रहे हैं? एक क्षीण कांपती नारी आवाज के साथ कांपते हाथों ने राजा को सुखद स्पर्श दिया।

हां! मृदुभाषिणि! मैं आज बहुत बेचैन हूं। मुझे मेरे जीवन के बुझते दीप से पहले एक कुलदीप एवं इस विशाल साम्राज्य को एक राजदीप की आवश्यकता है। इस अभाव में साम्राज्य चिंतित, शोक निमग्न है लेकिन तुम मेरी और प्रजाजनों की पीड़ा को नहीं जानती। शायद समझ भी नहीं सकोगी। जाओ...। मुझे मत छेड़ो, तुम विश्राम करो। मुझे एकांत दो, उसकी मुझे आवश्यकता है। जाओ; मुझे सब ज्ञात है मेरे पुत्रों के निर्ग्रन्थ वनवासी होने में तुम्हारा ही हाथ हैं।

इक्षु से भी अधिक मिठास भरी वाणी में रानी बोल उठी – स्वामिन्! मोह के आवरण को चीर सम्यक् प्रकाश में आइए। आपके विचारों की परिधि इतनी संकीर्ण क्यों है? आप यह क्यों भूल रहे हैं जिस प्रकार सुसंतति कुल का मुख उज्ज्वल करती है, उसी प्रकार आपके छहों पुत्र वंश को अमर बनाने में अपना एक छोटा सा योग दे रहे हैं। उस विराट समिधा की आहुति में आपको प्रसन्न होना चाहिए। आपका वात्सल्य, आपकी ममता, आपकी करूणा तो विश्व के सभी प्राणियों पर बरसनी चाहिए। संतति-मोह ने आपके ज्ञान नेत्रों को मूंद दिया है।

समझा, मदालसे, समझा! तुम मोह की संकीर्ण परिधि में से बाहर कहीं दूर, बहुत दूर पहुंच चुकी हो। शायद इसी विराट ममता ने तुमको पति से विश्वासघात जैसे कृत्य करने के लिए बाध्य किया है। आज इस अर्ध निशा में मेरे नेत्र खुल गए। मैं तुमसे दो में से एक ही बात कहना चाहता हूँ या तो यहाँ से चली जाओ अथवा प्रिय! सिर्फ एक संतान का मुख मुझे और दिखा दो।

रानी ठिठक गई। दिन पर दिन पुनः बीतने लगे। रानी ने सातवां गर्भ धारण किया। उसकी दैनिक चर्या पूर्ववत् रही। एक मंगल बेला में राजमन्दिर नवजात शिशु

के रूदन एवं परिचारिकाओं की खुशियों भरी खिलखिलाहट से गूंज उठा। राजा पहले से ही तैयार था। उसने पुत्र जन्म के समाचार सुन उसी क्षण पुत्र को माँ से अलग कर दिया और उसे सौंप दिया धाय को। धाय के हाथों में रहकर राजपुत्र ने पच्चीस बसंत पार कर दिए। जीवन रथ की वल्गाएं युवावस्था के सारथी ने अपने हाथों में ली ही थी कि अचानक सेनापति ने समरभूमि की वल्गाएं सुकुमार करों में थमा दी।

बात यों हुई उन दिनों शत्रु पक्ष ने उसके राज्य पर धावा बोल दिया। राजा युद्ध के लिए तैयार हो कि इससे पहले राजपुत्र ने पिता को रोक दिया। पिताजी! मेरे जैसे जवान पुत्र के होते हुए वृद्ध पिता का समरभूमि में उतरना पुत्र के लिए कलंक की बात है। आप यहीं रूकिए। मैं सेना सहित प्रतिद्वंदी का सामना करने जाता हूं। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए ताकि मैं विजयश्री वरण करके ही लौटूं। माँ का आशीर्वाद लेकर मैं प्रस्थान करता हूं। पुत्र की बातें सुन पिता की आंखें छलछला आई। पिता से आशीर्वाद ले बेटा अंतःपुर में माँ के कक्ष की ओर बढ़ा।

जन्म के कुछ क्षणों के पश्चात् जिस रानी माँ से उसका बेटा छीन लिया गया था वही माँ पच्चीस वर्ष के दीर्घ अंतराल के बाद आज पुनः अपने बेटे का चाँद-सा चमकता मुखड़ा देख रही है और वह भी युद्ध प्रस्थान की घड़ी में। कितनी विडम्बना है? बेटे ने जैसे ही माँ के चरणों में शीश रखा, रानी का मातृत्व पूरे साहस के साथ भीतर ही भीतर चीत्कार करने लगा, किंतु धैर्य की देवी तत्क्षण संभलती हुई क्षत्राणी की भाषा में बोली।

बेटे! तुम रणक्षेत्र में जा रहे हो। जाओ, मेरा आशीर्वाद है, लेकिन बेटा मुझे तुमसे कुछ कहना है। और कहते-कहते शब्द हलक में अटक गए। कोशिश करने पर भी अधरों पर न आ सके।

क्या कहना चाहती हो माँ? बेटे ने विचारों में खोई माँ को टोका।

कुछ नहीं बेटा। यह भूर्ज/भोजपत्र पर लिखा हुआ सूत्र तेरे गले में बांध देती हूं। संकट के वक्त इसे खोलकर पढ़ लेना।

जी माताजी! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। कहते हुए वह प्रणाम की मुद्रा में विनम्रता पूर्वक कक्ष से बाहर निकल गया। उधर माँ जब तक वह दिखता रहा, अनिमेष नयनों से उसे निहारती रही।

निकाल लिया भोजपत्र, कर लिया कचलुंचन

युद्धक्षेत्र में राजपुत्र सम्पूर्ण कला के साथ लड़ रहा था। शत्रुपक्ष की सेना मकराकर की तरह उफनती आ रही थी। रणकौशल के अनुभव से अपरिपक्व युवा

दिल घबरा गया। तेजी से शत्रु का रथ अपनी ओर बढ़ते देख, उसे माँ की बात याद आ गई। तत्काल गले से भोजपत्र निकाल पढ़ने लगा।

सत्वं बुब्बय सारिच्छा, छण जोवण जीवियं पि पेच्छंता ।
मण्णति तो वि णिउच्चं, इह बलिओ मोह माहप्पो ।।

ओह! यह प्राणी, धन, यौवन और जीवन को जल बुदबुदे के समान देखते हुए भी इन्हें नित्य मानता है। उनके लिए युद्ध करता है। यह मोह का ही माहात्म्य है।

ओह! मेरी माँ कितनी सुंदर और विवेकवान है। जल बुदबुदे के नष्ट होने से पूर्व मुझे चेतावनी दी, सावधान किया। धन्य है माँ; तू सचमुच धन्य है।

माँ दो प्रकार की होती हैं – एक जन्मदात्री माँ, दूसरी जिनवाणी माँ। एक संसार बन्धन में डालती है, दूसरी बन्धन से मुक्ति दिलाती है। एक संसार में डुबाती है, दूसरी संसार से उबारती है। जन्मदात्री माँ तू अन्य माताओं से असाधारण है। तेरी कीमत जिनवाणी माँ से किसी भी 'मद' में कम नहीं है। उसने मन ही मन उस माँ को प्रणाम किया जिसने गर्भ में ही सत्संस्कारों का इतना सुंदर शिलान्यास कर दिया था, जिस पर विशुद्ध वैराग्य का महल खड़ा किया जा सकता था। बस वही हुआ, बालक के संस्कार वैसे ही उद्‌भूत होने लगे जैसे कच्ची मिट्‌टी से ढँका जल का स्रोत। जरा-सी मिट्‌टी हटी कि रूका जल पूरे प्रवाह के साथ बहने लगता है। उसके अध्यात्म के धरातल पर समता प्रवहमान हो उठी।

राजपुत्र ने युद्ध विराम की घोषणा कर दी। रथ पर सवार युवा ने अपने 'कोमल करों से जिनमें एक पल पहले शस्त्र थे', घुंघराले श्याम केशों को उखाड़ना प्रारंभ कर दिया। समर भूमि धर्मस्थली बन गई। शत्रु राजा मित्र बन गया, उसके लिए राजपुत्र अब शत्रु नहीं, वंदनीय हो गया। लाखों-लाख नेत्रों के समक्ष उस युवा राजपुत्र ने सारे राजकीय चिन्ह ऐसे छोड़ दिये जैसे मयूर अपने पंख, बोझ की पीड़ा से छोड़ देता है। अपार जनसमूह के बीच उसने जिनेंद्र प्रभू को साक्षी बना दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। इधर गगन-धरा जय-जयकारों से गूंज उठा और उधर मदालसा का संकल्प धन्य हो गया – "मैं तो आर्यिका नहीं बन सकी किन्तु अपनी संतान को शिव-पथ पर आरूढ़ कर दिया।" समाचार युद्ध भूमि की हवा के साथ राजमंदिर तक पहुंच गया और मदालसा भी विरक्ति से आपूरित हो आर्यिका के व्रत स्वीकार कर अपने जीवन को चरितार्थ करने संयम-पथ पर बढ़ गई।

महानुभाव! यह है संस्कार की फलश्रुति, वैराग्य की अनुपम छटा। दिशा-बोध का निर्देशक धवल वस्त्र। जिसे ओढ़कर मदालसा मुक्ति पथ पर बढ़ने से पूर्व अपने सभी पुत्रों को अग्रेसित कर गई। यही है क्षत्राणी का धर्म। संसार से मुक्ति का दर्शन

और है सिद्धत्व प्राप्ति का प्रथम पुनीत प्रयास। संस्कार-रसायन द्वारा सुप्त शक्तियों के जागरण एवं वैराग्योद्भूति का अमोघ मंत्र। संस्कारों के नियम गणित की भाँति अकाट्य होते हैं। सत्संस्कार आपके अन्दर उद्भूत दूषित कुविचारों को वैसे ही नष्ट कर देते हैं जैसे लौह को तेज़ाब। सत्संस्कार हमारे जीवन की थाती है। सम्यक् संस्कारों के बिना जीवन उसी प्रकार भार-भूत बन जाता है जिस प्रकार गधे पर चन्दन का गट्ठर डालने पर गधा भार का अनुभव करता है, सुगन्ध का नहीं। सत्संस्कारों की फलःश्रुति है वैराग्य। वैराग्य है आकाश की ऊँचाई; और राग है पाताल की गहराई। वैराग्य में किसी प्रकार की क्षुद्रता नहीं होती जबकि राग में कोई महानता नहीं दिखती। वैराग्य ही राग-बन्धनों को काटने का तेज शस्त्र है।

जो व्यक्ति वैराग्य और उसके कारणभूत सत्संस्कारों की थोड़ी-सी भी साधना कर लेता है, वह अपने मन को पवित्र और शान्त बनाकर संवेगों के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। इन्द्रियों और मन से ऊपर उठकर जो आत्माभिमुख होने में हमारे सहयोगी बनें; वे ही सच्चे संस्कार हैं तथा 'शान्ति' एवं 'शान्त' सहवास के प्रतीक हैं। यदि करोड़ों, अरबों-खरबों की सम्पत्ति होते हुए भी पुत्र आपकी आज्ञा नहीं मानता एवं आपकी इन्द्रियाँ और मन आपके नियंत्रण से बाहर हैं तो आपका वैभव व्यर्थ है। चूंकि जीवन का मूल्यांकन वैभव एवं वैभव प्रदर्शन नहीं; प्रत्युत समरसता एवं शान्ति है।

संस्कार सच्ची सम्पदा

आश्चर्य है! इन्सान पेट और पेटी के लिए जब इतने कष्टों को सहज सह लेता है तब अपनी सन्तान एवं स्वयं को संस्कारित करने की ओर उसका ध्यान क्यों नहीं जाता? जबकि यह सार्वकालिक सत्य है कि 'संस्कारों की सम्पदा' के सामने दुनियाँ के सारे 'वैभव/ऐश्वर्य' धूल है।

अस्तु; आइए! ऐश्वर्य की सफलता, शान्ति एवं बन्धन मुक्ति हेतु रानी मदालसा की घटना से कुछ मौलिक सिद्धान्त सीखें। जीवन में सम्यक् संस्कारों का शिलान्यास कर उसकी फलश्रुति वैराग्य एवं संयम को स्वीकार कर इस परिवर्तनशील संसार से महाप्रयाण करें।

⌘ ⌘

भीतरी जगत के मुसाफिर : गुरू-शिष्य

गुरु, गोविंद दोनों खड़े, काके लागूँ पाय ।
बलिहारी गुरु आपकी, गोविंद दियो बताय ।।

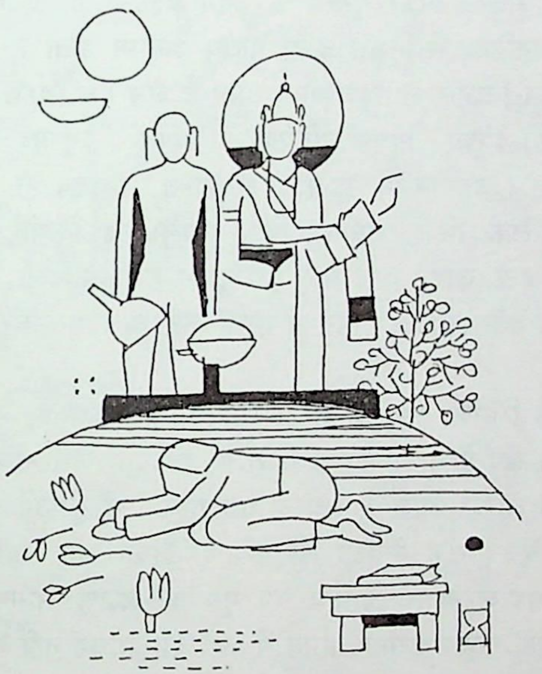
कबीर की इन पंक्तियों में गुरू की महत्ता स्वतः परिलक्षित हो रही है। गुरू का दर्जा ईश्वर से भी ऊँचा माना गया है। गुरू के बिना गोविंद/भगवान के दर्शन नहीं हो सकते हैं, क्योंकि अध्यात्म मार्ग पर चलने का पथ-प्रदर्शक गुरू ही होता है। जीवन की टेढ़ी-मेढ़ी, कंटीली राहों से बचाने वाला भी गुरू ही होता है। गुरू तो वह पारस होता है, जिसके स्पर्श मात्र से जीवन स्वर्ण बन जाता है। जीवन निर्माण को सही दिशा बताने वाले गुरू के बिना जीवन अधूरा है। जीवन को संस्कारी बनाने का उपक्रम है – गुरू का सम्पर्क। गुणी व्यक्तियों का सान्निध्य ही बिना प्रयास संस्कारों का निर्माण कर देता है।

जो बच्चों में संस्कारों का शिलान्यास कर व्यक्तित्व निर्माण तो करना चाहते हैं, लेकिन गुरू के सम्पर्क में आए बिना कुछ पाना चाहते हैं, तो ऐसे ही लोगों को लक्ष्य कर भगवान महावीर ने कहा है – 'जो दुर्मति गुणी पुरुषों का सम्पर्क छोड़कर कल्याण की आकांक्षा करता है, वह निर्दय होकर धार्मिक बनना चाहता है, नीति छोड़कर यशस्वी बनना चाहता है। शान्ति और आत्म-नियन्त्रण के बिना ही तपस्या चाहता है। मेधा के बिना बहुश्रुत बनना चाहता है। आँखों की ज्योति खोकर संसार की हर वस्तु देखना चाहता है और मन को चंचल रख कर ध्यान करना चाहता है। केवल चाह मात्र से कोई वस्तु नहीं मिल सकती। उसी प्रकार सत्सम्पर्क बिना व्यक्ति अपना कल्याण नहीं कर सकता, अर्थात् गुरू के बिना जीवन में अंधकार है या यूँ कहिए जिसके जीवन में गुरू नहीं उसका जीवन ही 'शुरु' नहीं हुआ। अस्तु गुरू की महिमा अपरम्पार है।'

गुरू का चुनाव

लेकिन अब प्रश्न यह उठता है कि गुरू का सही चुनाव कैसे किया जाए? गुरू बनाने से पूर्व गुरू की सही पहचान करना बहुत जरूरी है। मिट्टी का घड़ा खरीदने पर हम उसे ठोक-बजाकर उसकी ध्वनि सुनते हैं कि कहीं टूटा-फूटा न निकल जाए। ठीक उसी प्रकार बिना परख किए किसी को गुरू नहीं बनाना चाहिए। सागर-सी

गहराई एवं शिखर-सी ऊँचाई जिसमें न हो वह गुरू नहीं हो सकता। गुरू के लिए भी कई कसौटियां होती हैं – जो इन कसौटियों पर खरा उतरता है, वही गुरू बनने के गुरूत्तर-दायित्व का निर्वहन कर सकता है। ये हैं – जिसका आचार-व्यवहार स्वच्छ हो, शास्त्रीय आदर्शों का अनुसरण कर दूसरों को प्रेरित करता हो, जिसमें अनुशासन करने की अद्‌भुत क्षमता हो, जिसमें युग चेतना को सही दिशा में ढालने की अर्हता हो। जो सतत् ज्ञान-ध्यान में संलग्न हो, विषयों की आशा से दूर हो एवं निष्परिग्रही हो, वही गुरू होने का अधिकार प्राप्त करता है। गुरू की सबसे महत्वपूर्ण शर्त है कि वह निष्पक्ष हो, क्योंकि वह सबका होता है किसी एक का नहीं तथा सभी उसके होते हैं, कुछ थोड़े-बहुत गिनती के व्यक्ति विशेष नहीं।



गुरू तो मकरन्द की मानिन्द होता है जो हर प्राणी के मनः, प्राण एवं नासिका को सुरभित करता है। उनका जीवन सूर्य, चाँद की तरह निस्वार्थ होना चाहिए; जैसे सूर्य, चाँद बिना अपेक्षा के; बिना भेद-भाव के सभी को अपना प्रकाश और ज्योत्सना सहज भाव से लुटाते हैं, वैसे ही जिनका घट छोटे-बड़े, गरीब-अमीर, कोठी-झोपड़ी, मेरे शिष्य-दूसरे के शिष्य आदि भेद-भाव से रीता होता है वे इस 'गुरूतर भार' वहन के सर्वोत्तम पात्र हो सकते हैं। ऐसे ही गुरू की आज्ञा पाने के इच्छुक प्रसन्नता पूर्वक उसकी आज्ञा मुकुट की भाँति शिर पर धारण करने के लिए

तत्पर रहते हैं एवं उनकी शिक्षाप्रद वचनावलि को कण्ठ में मुक्ताहार की तरह धारण करते हैं। गुरू का कर्त्तव्य है कि वे शिष्यों पर इस भाँति शासन करें ताकि उनमें आत्मानुशासन स्वयं विकसित हो। जो गुरू; धीवर की तरह शिष्यरूपी मछलियों को जाल में न बाँधकर उनमें अपने सशक्त शासन द्वारा अनुशासन एवं आत्मानुशासन के संस्कारों का संघात कर, पक्षी की तरह अपने शिष्य-रूपी शिशुओं को मुक्त गगन बिहारी बनाता है वही सच्चा सद्गुरू कहलाता है।

सही अर्थों में गुरू वही होता है जो स्वयं पर प्रथम-अनुशासन करता है। प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास करता है एवं आत्मविश्वास का स्वामी होता है। कनकच्ची गुरू की सबसे बड़ी कमजोरी है। जो गुरू अपने शिष्यों को जीवन निर्माण के सूत्र नहीं दे सकते उनकी गुरूता के आगे प्रश्न-चिन्ह उपस्थित हो जाता है। कारण गुरू के सान्निध्य में मिलने वाला पाथेय अनुपम होता है। गुरू जैसा गुरूत्व जन्मतः नहीं, गुण विकास से सहज प्राप्त होता है जैसे दूध, दही, घृत क्रमशः गौरव को प्राप्त होते हैं। देखिए! आचार्य रविषेण की उक्ति – 'गुणाद् गुरूत्वमायाति दुग्धं दधिं घृतं क्रमात्'। वर्तमान में इच्छाओं से रहित, रागद्वेष से मुक्त, सम्यग्दृष्टि, हितोपदेशक, परिग्रह रहित, समान दृष्टि, दयालु एवं किसी कारणवश आपसी वैमनस्य को दूर हटा, जोड़ने वाले साधु/गुरू दुर्लभ हैं। जुड़े दिलों, शिष्यों, मित्रों और भृत्यों को तोड़ने और तोड़कर अपने में मिला लेने वाले गुरू घर-घर, गली-गली में बैठे हुए हैं।

गुरू वह है जिसका सम्बन्ध केवल धर्मनीति से होता है, राजनीति और राज नेताओं से नहीं। खेद है पहले राजा, महाराजा, चक्रवर्ती जैसे श्रेष्ठ पुरुष गुरूओं के आश्रित रहते थे लेकिन आज के तथा-कथित गुरूओं ने गुरूओं की परिभाषा बदल दी है; और वे स्वयं राज नेताओं की कृपा-दृष्टि की ओर आंखें गड़ाये रहते हैं। शिष्यों का अनुग्रह करना तो आचार्य रूप गुरू का लक्षण आगम सम्मत है लेकिन 'शिष्यों का विग्रह' करना/कराना आगम में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।

गुरू का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य कहते हैं –

शिष्यानुग्रह कर्ता यो दुरितेन्धन पावकः ।
पंचेद्रिय महाभोग, विरतो विश्ववन्दितः ।।

जो शिष्यों का अनुग्रह/उपकार करते हों, पाप-रूपी ईंधन के लिए अग्नि स्वरूप हों एवं पांचों इन्द्रियों के भोगों से विरक्त हों वे ही विश्व वंद्य गुरू हैं। शेष तो रविषेणाचार्य के अनुसार नरक के ईंधन स्वरूप हैं।[1] जो व्यक्ति शिष्यों के हृदय रूपी

---

[1]पद्मपुराण

श्याम पट पर 'अनुभव की चाक' से न केवल शास्त्रीय जानकारियाँ अपितु 'अध्यात्म विद्या' को लिखकर सिखाने का पुण्य कार्य करते हैं उन्हे ही गुरू संज्ञा द्वारा अभिवन्दित किया जाता है चूंकि अध्यात्म विद्या ही जीवन की जीवन्त प्रयोगशाला है। अन्तः प्रवृत्ति की दिशा दर्शिका है और गुरू केवल व्यक्ति नहीं एक दिव्य शाश्वत शक्ति हुआ करते हैं। इस प्रकार ये वे महत्वपूर्ण बिन्दु हैं जो गुरू की सम्यक् पहचान में सहायक बनते हैं इसलिए जागरूकतापूर्वक गुरू का चयन करना ही श्रेयस्कर होता है।

शिष्य की सीमाएँ

यह बात सर्वमान्य है कि जो झुकता है वही पाता है। जो अकड़ता है वह खोता है। किसी के हृदय को विनम्रता से ही जीता जा सकता है लेकिन मानव की अहंवृत्ति उसे झुकने नहीं देती। आज कई शिष्य शिष्यत्व की भूमिका पर पहुंचे बिना ही सीधा गुरू बनने की चाह रखते हैं परन्तु शिष्यत्व की क्षमता से गुरू की क्षमता बहुत ऊँची होती है। शिष्यत्व का विकास आदि बिन्दु है तो गुरूत्व उसकी अन्तिम बिन्दु है। पहली सीढ़ी पर चढ़े बिना अन्तिम सीढ़ी पर चढ़ने की कल्पना नदी में प्रवेश किये बिना तैरना सीखने जैसी बात है। यहाँ उल्लेखनीय यह बात है कि साधना ही शिष्यत्व की मूल-भित्ति है। जिसके लिए श्रद्धा की मिट्टी, विनय की गिट्टी और समर्पण के जल की महती आवश्यकता है। वहां तर्कवाद के शुष्क पाषाण खण्डों को स्थान नहीं है। जहां तर्कवाद आ जाता है वहां विशालकाय उतुंग भवन भी खण्डहर हो जाते हैं। यदि शिष्य श्रद्धा, समर्पण, और विनम्रता से गुरू में अपना स्थान बनाता है, उनकी कृपा का पात्र बनता है तो तर्क से नवनीत जैसे गुरू को भी खो देता है। तर्कवादी शिष्य का एक उदाहरण दृष्टव्य है जो उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है।

एक बार एक गुरू-शिष्य विहार करते हुए ग्राम के बाहर बनी वसतिका में रात्रि विश्राम हेतु पहुंचे। कड़ाके की ठण्ड पड़ रही थी। वर्षा थी कि रूकने का नाम ही नहीं ले रही थी। गुरू का सुकोमल देह ज्वर से ग्रसित हो गया। गुरू-शिष्य दोनों कक्ष में शयन कर रहे थे। शिष्य खुर्राटे भर रहा था और गुरू की आंखों से निद्रा नदारद थी। सिर पीड़ा से फटा जा रहा था लेकिन 'सम सम समता उस चेतन से झलक रही थी हर पल पल'। अर्ध रात्रि के सन्नाटे में उन्हें अचानक किसी के अन्दर आने की आहट मिली। उन्होंने शिष्य से कहा – "वत्स! जरा बाहर देख; क्या बारिश थमी या नहीं?" शिष्य बोला – "गुरू जी! अभी-अभी किसी के अन्दर आने की

आहट आई थी वह किसी और की नहीं, एक कुत्ते की थी। कुत्ता आपकी बगल में बैठा है। उसकी पीठ पर हाथ फेरकर देख लीजिए, यदि उसकी पीठ गीली हो तो समझ लीजिए अभी बारिश हो रही है और यदि पीठ गीली न हो तो समझिए बारिश थम गई। इसमें बाहर जाकर देखने की क्या आवश्यकता?" गुरू शिष्य का तर्क सुनकर मौन हो गए। बड़ी मुश्किल से थोड़ा सा समय बीता होगा कि उनकी आंखें दर्द से फटने लगी। गुरू ने शिष्य से कहा – "बेटा, मेरी आंखों में पीड़ा बढ़ती जा रही है। जरा उठकर या तो दीपक बुझा दे या उसे बाहर रख दे। दीपक का प्रकाश मेरी आंखों में चुभन पैदा कर रहा है।" शिष्य बोला – "गुरू जी आप अपना हाथ या चादर आंखों पर डाल लीजिए या फिर करवट बदल लीजिए। अपने आप दीपक का प्रकाश आंखों की ओर नहीं जायेगा, इसमें मेरे उठने की क्या जरूरत? मैं दीपक को बुझाना या बाहर रखना उचित नहीं समझता।" गुरू ने दीर्घ निश्वास छोड़ा और सोने की व्यर्थ चेष्टा करने लगे।

पल-दो-पल ही न बीते होंगे कि गुरू का सारा बदन ठण्ड से कांपने लगा। बड़ी मुश्किल से हिम्मत बटोर कर गुरू बोले – "हे बेटे! मुझे शीतल वायु बाधा पहुँचा रही है, जरा दरवाजा बंद कर दे।" लेटे-लेटे शिष्य बोला – "गुरू जी मैं आपसे और द्वार से बहुत दूर लेटा हूँ। आप तो द्वार के पास ही लेटे हैं, जरा पैरों से ही द्वार बंद कर दीजिए, मुझे क्यों उठना पड़े? " गुरू ने पैर से द्वार बंद कर दिया। किन्तु द्वार दो मिनट भी बंद न रह सका। ठण्डी हवा के जोरदार झौंके ने द्वार को खोल दिया। गुरू यद्यपि शिष्य के तर्क भरे उत्तरों के प्रति अनुत्तर एवं अवाक् थे तथापि पीड़ा के सामने अवश भी थे। उन्होंने पुनः शिष्य से प्रार्थना भरे लहजे में कहा – "बेटा! उठ जा, मेरा सारा शरीर कांप रहा है; द्वार खुल-खुल जा रहा है, जरा कुण्डी चढ़ा दे।" शिष्य तिलमिला उठा, झल्ला कर बोला – "गुरू जी हद हो गई, मैंने तीन काम कर दिए। बारिश हो रही है या नहीं इसका तजुर्बा आपको बतला दिया। दीपक के प्रकाश से आंखों को पीड़ा न पहुंचे यह भी उपाय बतला दिया। बिना उठे द्वार को बन्द कर ठण्ड से बचने का रास्ता भी बतला दिया। जब मैं तीन काम कर सकता हूँ तो क्या आप एक काम नहीं कर सकते?"

गुरू जी चुप हो गए उत्तर सुनकर। चुप ही नहीं सदा-सदा के लिए सो गए। सम्प्रति की देह पीड़ा हमेशा-हमेशा के लिए शान्त हो गई। जब सुबह शिष्य उठा तो उसने अपने गुरू की केवल ठण्डी देह पायी। क्रूर काल ने उससे उसका गुरू छीन लिया, अथवा यह कहें शुष्क तर्कवाद से उसने स्वयं अपना गुरू खो दिया। पाठक वृन्द इसे जो भी समझे परन्तु मेरे मत से द्वितीय पक्ष श्रेष्ठ है। यदि शिष्य तर्कवाद का सहारा न लेकर अपना दायित्व निर्वहन करता तो गुरू के बचने की सौ-सौ

संभावनाएँ थी। सच है श्रद्धा जीवन्त अस्तित्व है उसके विना तर्कमय जीवन केवल पलास का पूला है।

जीवन में व्रत का स्थान दूसरा है परन्तु श्रद्धा का स्थान पहला है क्योंकि हृदय श्रद्धा से बदलता है कोरे व्रत से नहीं। खण्डित श्रद्धा अखण्ड व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकती। शिष्य होने की प्रथम शर्त है जीवन श्रद्धा से भरा हो। कारण श्रद्धा अमृत है जो व्यक्ति, व्यक्तित्व और दोनों को न केवल जीवित रखती है अपितु दोनों को तरो-ताजा बनाए रखती है। जब तक शिष्य में गुरू के प्रति श्रद्धा के भाव गहरे नहीं होते तब तक वह गुरू के गुरूत्तर व्यक्तित्व को नहीं समझ सकता। 'गुरू' जैसे शब्द के गंभीर अर्थ को समझे बिना हर शिष्य गुरू बनने का दुराग्रह रखता है। 'गुरू जैसे महत्तर' बोझ को बर्दाश्त करने के लिए सम्यक् अर्थों में शिष्यत्व की भूमिका अपनाना/निर्वाह करना आवश्यक है। इस कक्ष को उत्तीर्ण किए बिना गुरू के पद पर आसीन होना असंभव है।

जो शिष्य; शिष्य की योग्यताओं, सीमाओं का निर्वहन नहीं करता, वह न तो सच्चे अर्थों में शिष्य कहला पाता है न ही गुरू बन पाता है। उसकी 'धोबी का कुत्ता घर का न घाट का' वाली स्थिति निर्मित होती है। वह अपने जीवन से उस तर्कवादी शिष्य के समान गुरू से भी अपना जीवन रीता कर देता है। शिष्य की अपनी सीमाएँ होती हैं जो शिष्य गुरू के कड़े अनुशासन को सहन करता है, चोटें खाता है, वही योग्य शिष्य बन पाता है। शिष्य चाहे कितना ज्ञानी क्यों न हो, सीखेगा तो गुरू से ही। जो अच्छा शिष्य होगा वही अच्छा शासक अथवा श्रेष्ठ गुरू होगा। शिष्य को अपने हृदय-कमल में गुरू को 'पुष्प की सुगंधि' की तरह बसाना चाहिए। क्योंकि शिष्य यदि पुष्प है तो गुरू उसकी पराग है। शिष्य वृक्ष है तो गुरू उसकी जड़ है। शिष्य मोती है तो गुरू ही उसका जन्मदाता सीप है। वह फूल; फूल क्या जिसमें पराग और सुगन्ध न हो? उस वृक्ष की स्थिति क्या जिसकी जड़ न हो? उस मोती का सम्यक् अस्तित्व कैसे जिसने सीप में जन्म न लिया हो? वह शिष्य क्या जिसके हृदय में गुरू का सान्निध्य न हो? शिष्य हो तो एकलव्य की तरह समर्पणशील व्यक्तित्व वाला। सुशिष्य वही कहलाता है जो गुरू का नाम रोशन करता है। गुरू के सामीप्य और दूरी में कितना अन्तर होता है, उसकी क्या अनुभूतियाँ होती हैं इसे शिष्य ही अनुभव कर सकता है, गुरू इसे नहीं जान सकता।

गुरू, गुरू होता है

शिष्य में चाहे जितनी योग्यताएँ हों, वह गुरू की तुलना में छोटा ही होता है। नाक, ललाट से सदा नीची रहती है। नट, नृत्य-कला में कितना भी पारंगत हो, वह

अपने कंधों पर चढ़कर कभी भी नहीं नाच सकता। इसलिए गुरू, शिष्य के लिए सदा पूज्य एवं अर्च्य रहता है। गुरू के सान्निध्य में जो उपलब्धि होती है, वह अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती। यह संसार अंधकार से भरा हुआ है। इसमें प्रकाश की कोई किरण मिल सकती है तो सिर्फ गुरू से ही मिल सकती है क्योंकि गुरू बिन घोर अंधेरा। यह सूक्ति अक्षरशः सत्य है। गुरू के बिना मनुष्य वृक्ष से टूटकर जल में गिरने वाले फल के समान है, जिसका सड़ने के अतिरिक्त अन्य दूसरा कोई उपयोग नहीं हो सकता है। सद्गुरू के अभाव में शिष्य की शक्ति का सम्यक् नियोजन नहीं हो सकता। दर्पण में हर कोई अपना चेहरा देख सकता है बशर्ते प्रकाश हो। इसी प्रकार मनुष्य कितने ही ग्रन्थ, शास्त्र पढ़ ले, लेकिन अनुभूति और विवेकोदय तभी होगा जब गुरू का दिव्य प्रकाश होगा। माँ तो जन्म देती है पर जीवन नहीं सम्भाल पाती। गुरू जन्म नहीं देते किन्तु जीवन की कला सिखा; जीवन बना देते हैं। गुरू जीवन में कभी अहंकार नहीं पालते, वे उस पर चोट करते हैं। जीवन एक यात्रा है जिसमें अनेक पड़ाव हैं। इन पड़ावों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध करने के लिए ही शिष्य गुरू की उपासना करता है। जो गुरू में शंका करता है वह सब कुछ खो देता है। और जो शिष्य गुरू की सेवा सुश्रुषा नहीं करता वह अल्पज्ञानी होता है।

एक निष्पत्ति

गुरू भी उसी शिष्य का निर्माण करते हैं जिसमें शिष्य बनने की पूर्ण अर्हता/योग्यता हो। सक्षम गुरू भी अयोग्य शिष्य का निर्माण कभी नहीं कर सकते हैं। न ही उन्हें शिक्षा देते हैं। विद्या के साथ मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु मूर्ख, उदण्ड शिष्य को शिक्षा देना व्यर्थ है। दोनों की अर्हता ही एक सम्यक् निष्पत्ति ला सकती है। इसलिए शिष्य का भी योग्य एवं सक्षम होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। क्योंकि मानव रूपी नाव का गुरू ही कर्णधार है। 'करनधार सद्गुरू दृढ़ नावा।' यदि शीश देकर भी गुरू मिल जाये तो सस्ता जानिए, कारण गुरू से बढ़कर कोई महत्वपूर्ण तत्त्व विश्व में नहीं है। मनुष्य में मनुष्यता का उदय गुरू कृपा से ही होता है। गुरू कृपा से शिष्य विद्या का चतुर्थांश प्राप्त करता है, उन्हीं गुरू से ईर्ष्या या द्वेष/द्रोह करने से व्यक्ति नारकीय यातना का पात्र बनता है। तुलसीदास जी के शब्दों में –

जे सठ गुरु सन इरिषा करहीं ।
रौरव नरक कोटि जुग परहीं ।।
त्रिजग जोनि पुनि धरहि सरीरा ।
अयुत जन्म भरि पावहि पीरा ।।

जब तक मनुष्य गुरू द्वारा उपदिष्ट करूणा-गर्भित वचनों की शरण नहीं लेता, तब तक वैभवशाली होने पर भी शोभित नहीं होता। जैसे कोयल मधुरभाषिणी होती हुई भी बसन्त ऋतु में जितनी मधुर बोल सकती है, उतना अन्य् महीनों में नहीं।

गुरू अपनी गरिमा रखे, मर्यादा में रहे यह भी एक निहायत अनिवार्यता है। आजकल सर्वत्र व्यापारिक राजनीतिक चालें चल रही हैं। शिष्य बनाना भी एक व्यवसाय सा हो गया है। ऐसी परिस्थिति में न तो गुरू का उद्धार होता है और न ही शिष्य का। तुलसीदास की ये पंक्तियाँ देखिए –

गुरू सिष बधिर अंध का लेख्रा ।
एक न सुनइ एक नहिं देख्रा ।।
हरइ सिष्य धन, सोक न हरई ।
सो गुरु घोर नरक महुँ परई ।।

अस्तु हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जितनी योग्यता शिष्य के लिए अपेक्षित है उससे कहीं अधिक जिम्मेवारी गुरू की है, क्योंकि गुरू शिष्य दोनों ही भीतरी जगत के मुसाफिर हैं।

⌘ ⌘

णमोकार मंत्र : जीवन की संजीवनी घुट्टी

एकत्र पंचगुरु मंत्रपदाक्षराणि,
विश्वत्रयं पुनरनन्त गुणं परत्र ।
यो धारयेत्किल तुलानुगतं तथापि,
वंदे महागुरुतरं परमेष्ठि मंत्रम् ।।

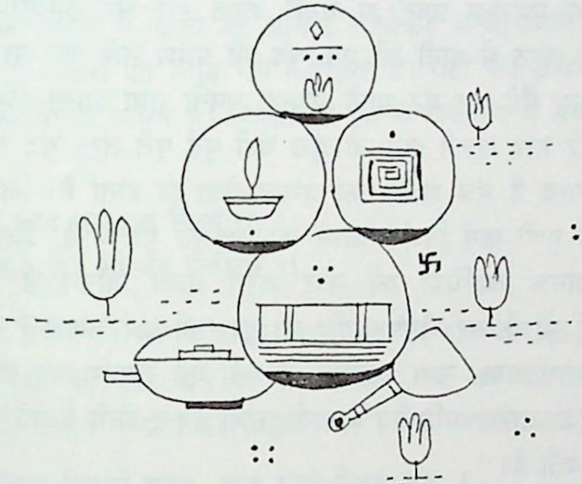
– मंगलाचरण 255

णमोकार मंत्र जीवन-विकास का पहला क्रम है। गर्भावस्था में भावनात्मक एवं जन्मोपरान्त घुट्टी के साथ दी जाने वाली संजीवनी परमौषधि है। पंडित प्रवर आशाधर जी श्रावकधर्म प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम कोमलमति बालकों के लिए णमोकार मंत्र देना, पढ़ाना चाहिए, तत्पश्चात् अन्य विषयों का ज्ञान कराना चाहिए। कारण इसमें चौदह पूर्व परमागम का ज्ञान भरा है, 'आड्गं पौर्वमयार्थ संग्रहमधीत्याधीत शास्त्रान्तरः'। जिस प्रकार मृदु मृत्तिका पर उत्कीर्ण आकार के संस्कार उस मृत्पात्र पर यावज्जीवन स्थायी रहते हैं तद्वत् मृदुमति बालकों पर किये गये मंत्र-संस्कार उसके जीवन में अमिट हो जाते हैं। श्रद्धा, निष्ठा, आस्था एवं विश्वास से भरा मंत्र घटवान् संसार में कहीं भी विचरण करे उसे किसी का भय आक्रान्त नहीं कर सकता। कारण णमोकार मंत्र अमोघ, अपराजित शक्तिमंत्र है। जिनशासन का सार और चौदह पूर्व रूप परमागम का सम्यक् उद्धार है।

मंत्र महिमा

वर्ण और पदों में मंत्र शक्ति एवं मंत्रातिशय प्रकट होना प्रयोक्ता, प्रयोक्ता के भाव, क्षेत्र एवं काल पर निर्भर है। णमोकार मंत्र कर्म नाशक तो है ही; साथ ही आत्म शक्तिवर्धक यह अदभुत मंत्र अपनी उपस्थिति से कषायों को विश्रान्ति देता है। संकट-मोचक यह महामंत्र मंगल भावना को वृद्धिंगत करता है। जैनागम इसकी महिमा एवं चमत्कारी प्रभाव से भरा पड़ा है। मरणासन्न कुत्ता जीवन्धर द्वारा णमोकार मंत्र श्रवण कर सुदर्शन यक्ष हुआ। जलते-दहकते नाग-नागिन, पार्श्व कुमार द्वारा मंत्र प्रभाव से धरणेन्द्र-पद्मावती हुए। कराहता बैल पद्मरूचि सेठ (राम के जीव) द्वारा मंत्र शक्ति के अचिन्त्य प्रभाव से वृषभध्वज नामक राजपुत्र हुआ। (यही जीव आगे चलकर सुग्रीव हुआ।) सर्प से डसा श्रेष्ठी धनञ्जय पुत्र तत्काल निर्विष

हो पुनर्जीवन को प्राप्त हुआ। जिसके पीछे मृत्यु दौड़ रही थी ऐसा अंजन चोर इस महामंत्र की आराधना से अनेक विद्याओं का अधिपति हुआ। मृत्यु के जवाड़ों में जकड़ा 'अज' चारूदत्त द्वारा प्रदत्त मंत्र को शान्ति पूर्वक सुनता-सुनता देवगति को प्राप्त हुआ। ग्रन्थों में अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं इस मंत्र शक्ति के सम्यक् प्रभावों के। जहां इस अपराजित मंत्र की साधना, आराधना, उपासना मंत्र प्रयोक्ता को स्वर्ग जैसी ऊँचाई पर पहुंचा देती है, वहीं इस मंत्र की विराधना जीव को रसातल में भी उतार देती है। सुभौम चक्रवर्ती का नाम आज भी इस सम्बन्ध में कुख्यात है।



णमोकार मंत्र से इसी देह में पुनर्जन्म

कितना अचिन्तय प्रभावी है यह महामंत्र, जो हमारी बहुआयामी सत्ता को निखारता, उद्घाटित करता है। इसकी शक्ति से परिचित, इसकी महिमा को अपने भीतर जीता हुआ जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत है – जामनगर (सौराष्ट्र) के श्री गुलाबचंद खीमचंद शाह के जीवन का। कैन्सर की मारक, दाहक व्यथा का मर्मवेधी ब्यौरा। उन्होंने बताया कर्मयोग से मेरे शरीर में कैन्सर के कीटाणुओं ने आक्रमण कर दिया। ज्ञात होते ही इलाज कराता रहा किन्तु मर्ज चरम सीमा तक बढ़ गया। तब मेरी जीवन आशा ने एवं विशेषज्ञों के दिमागों, दवाओं और प्रयत्न के साथ सद्दुआओं ने भी घुटने टेक दिये और निराशाओं के घटाटोप में मैं और मेरा सारा परिवार, नाते-रिश्तेदार डूब गए। चारों ओर मृत्यु... मृत्यु... केवल मृत्यु का नीरव सन्नाटा छा गया, जिसे सभी अपनी नग्न आँखों से देख रहे थे। जीवन से निराश मैं अपनी आँखों से मृत्यु का भीषण तांडव एवं असहनीय वेदना को न देख सका। मैंनें

अपनी आंखें मूंद ली। इस परिस्थिति में मंगल मंत्र णमोकार ही अन्तिम शरण था। निराशा के बादलों में – 'अर्थान्य श्रेष्ठंश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन' – की एक बिजली कौंध गई। आशाओं का सूर्य उदित हो उठा। मैंने पूर्ण निष्ठा एवं श्रद्धा के साथ सब कुछ छोड़ अपने आपको णमोकार मंत्र में लगा दिया। मुझे मंत्र की शरण ने न केवल समाधान दिया वरन अपूर्व शान्ति भी दी। मैंने अनुभव किया मैं अब उत्तरोत्तर रोग मुक्त हो रहा हूँ। महाराज श्री मैं आज अल्पावधि में पूर्ण रोग मुक्त आपके समक्ष खड़ा हूँ।

महानुभाव! उनकी आंखें 'महाराज श्री, णमोकार मंत्र के अचिन्त्य प्रभाव से मुझे इसी देह में पुनर्जन्म प्राप्त हो गया' कहते हुए भर आयीं। उन्होंने बताया महाराज श्री मेरे कण्ठ में पानी की एक बूंद भी प्रवेश नहीं कर पा रही थी किन्तु कुछ ही घंटों बाद मैंने भर पेट पानी पीकर अपनी तृषा शान्त कर ली और मेरे जीवन के वे सारे द्वार खुलने लगे जो कुछ घंटों पूर्व पूरी तरह बंद हो चुके थे। मैंने कहा – भैया! सत्य है मंत्र शक्ति का प्रभाव ऐसा ही होता है। जिस मंत्र में प्रति समय असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करने का अद्भुत पौरूष है, जिसमें जन्म, जरा मृत्यु जैसी भयानक व्याधियों को नष्ट करने वाला जीवन है क्या वह एक आकस्मिक आई हुई कैन्सर जैसी व्याधि को दूर नहीं कर सकता? जब मंत्र शक्ति को आस्था के साथ क्षमा, सत्य, अहिंसा, साधना एवं समर्पण का संपुट मिल जाता है; तब उसमें एक अमोघ अद्वितीय तेजस्वी ऊर्जा प्रकट होती है जो पलक मारते ही सारे संकट मेंट देती है।

चमत्कार आज भी अनुगुंजित है

एक मुस्लिम बंधु अब्दुल रज्जाक के पास एक जैन बंधु पिशाच बाधा दूर कराने के लिए पहुंचे तो उसने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा – जिस धर्म के अनुयायियों के पास 'णमोकार मंत्र' जैसा अद्भुत शक्ति मंत्र है वे मेरे पास क्यों आते हैं? मेरे पास कुछ भी नहीं है। पर मैं दावे के साथ कहता हूँ कि इस मंत्र पर श्रद्धा रखने वाला हर मुसीबत से बच सकता है, जिसे मैं प्रतिदिन अनुभव करता हूँ। मैं इसी मंत्र को श्रद्धापूर्वक पढ़कर भूत-पिशाच जैसी बाधाओं को दूर करता हूँ। बड़े-बड़े जहरीले जंगली सर्प, वृश्चिकों का विष उतार देता हूँ। **'मन्त्र जाप मम दृढ़ विस्वासा'** से उसकी श्रद्धा और चमत्कार की चर्चाएँ आज भी जिला झाँसी, ग्राम जखोरा (उत्तर प्रदेश) में अनुगुंजित हैं।

सचमुच ही मन की निष्कपटता, सरलता, श्रद्धा और समर्पण, न केवल शरीरगत व्याधि, संकट को नष्ट करती है अपितु आत्मा को भी शुद्ध और परिष्कृत

करती है। जिसकी आत्मा मंत्र स्नान से परिशुद्ध हो जाती है उसी सुसंस्कृत, स्नात आत्मा में ही धर्म तथा रिद्धियाँ-सिद्धियाँ ठहर पाती हैं। मंत्रों की चमत्कारिक ध्वनि तरंगों से अनोखी विद्युत शक्ति उत्पन्न होती है।

मंत्र/जप क्या है?

इस सहज से प्रश्न का सुगम सा उत्तर है – जिसके मनन से मन को त्राण मिलता है, क्लेशों से रक्षा होती है। जिसके प्रभाव से जगत-व्यापी अशुभ विचारों से मन नियन्त्रित, सुरक्षित रहता है वह है मंत्र। जिसके जाप-ध्यान से भोगों से विरक्ति होती है। जिसके स्मरण से किसी का अनिष्ट न होकर कल्याण होता है वह है मंत्र। अथवा अक्षर या अक्षरों का समूह मंत्र कहलाता है। यही मंत्र अथवा जाप इष्ट देव की उपासना का प्रमुख साधन है। तुलसीदास जी ने रामायण में मंत्र जाप को पंचम भक्ति कहा है –

मन्त्र जाप मम दृढ़ विस्वासा ।
पंचम भजन सो वेद प्रकासा ।।

मंत्र जाप द्वारा मंत्र जागृत होकर सर्वशक्तिमान हो जाता है। प्रतिप्रश्न है, यह जाप या जप क्या है? उसे कैसे करना चाहिए? एवं जप का फल क्या है? तो आइए 'जप' के आईने में झांककर उसका स्वरूप एवं गुणवत्ता का दर्शन करें।

मनोमध्ये स्थितो मन्त्रो, मन्त्र मध्ये स्थिते मनः ।
मनो-मन्त्र-समायोगो जप इत्यमिधीयते ।।

मन के मध्य मंत्र और मंत्र के मध्य मन स्थित हो इस प्रकार के मन और मंत्र का समायोग जाप कहलाता है। जिसका कार्य है मूर्च्छना का निष्कासन।

जैनाचार्यों की दृष्टि में जप और उसका फल निम्न प्रकार है।

जकारो जन्म विच्छेदः पकारो पापनाशनम् ।
तस्माज्जपैति प्रोक्त जन्म-पाप विनाशकः ।।

जप द्वयाक्षरी शब्द है जिसका 'ज' जन्म का विच्छेदक एवं 'प' पाप नाशक है इसलिए जन्म और पाप के नाशक को 'जप' कहा जाता है। प्रत्येक अक्षर मंत्र बीज युक्त होता है। इस दृष्टि से अक्षरहीन मंत्र का कोई अस्तित्व नहीं है। उसे मंत्र नहीं कहा जा सकता चूंकि वह मंत्र अपने कार्य करने में असमर्थ है। शब्दों के विभिन्न ध्वन्यात्मक प्रभाव है, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावों द्वारा प्रत्यक्षतः अनुभव प्रतीत होने लगते हैं।

मंत्र ध्यान कैसे और कब करें?

मंत्र ध्यान की अनेक विधियाँ हैं। मैं यहाँ सिर्फ दो विधियों का उल्लेख करता हूँ।

सर्व प्रथम – श्वेत वर्णी निर्मलता के प्रतीक अरिहन्त का ज्ञान केन्द्र मस्तिष्क पर, अरूण वर्णी सर्व निर्जरा के द्योतक सिद्ध प्रभु का दर्शन केन्द्र दोनों भृकुटियों के मध्य, संघ वात्सल्य द्योतक पीतरंगी आचार्य का विशुद्ध केन्द्र कण्ठमणि, विश्वास के प्रतीक नीलाभ उपाध्याय परमेष्ठी का आनन्द केन्द्र हृत्कमल एवं साधना की सघनता में सल्लीन एकता की प्रतिमूर्ति श्यामवर्णी साधु का शक्ति केन्द्र मेरुदण्ड पर ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार के मंत्र ध्यान से सारे केन्द्र सक्रिय होकर मन को एक समग्र जागरण की दिशा में ले जाते हैं जो कि जीव का मूल लक्ष्य है।

द्वितीय विधि – इस महामंत्र में पाँच पद हैं, जिनमें पैंतीस अक्षर हैं। इन अक्षरों में चौंतीस स्वर और व्यंजन हैं। यह महामंत्र णमोकार, नमस्कार, नवकार इत्यादि नामों से भी जाना जाता है। यह महामंत्र अपराजित, अपरिमित, शक्तिशाली एवं स्वर्गापवर्ग सुख प्रदाता है। इसके एक बार उच्चारण में तीन उच्छवास लगते हैं। प्रथम उच्छवास लेते समय 'णमो-अरिहंताणं' उच्छवास छोड़ते समय 'णमो सिद्धाणं', द्वितीय उच्छवास लेते समय 'णमो-आइरियाणं' छोड़ते समय 'णमो उवज्झायाणं' एवं तृतीय उच्छवास लेते समय 'णमो लोए' और उच्छवास छोड़ते समय 'सव्वसाहूणं' बोलना चाहिए।

इस प्रकार तीन श्वासोच्छवास में एक बार तथा छत्तीस श्वासोच्छवासों में नव बार णमोकार मंत्र का जाप करना चाहिए। इस प्रकार की विधि से बीच-बीच में जो रूकना होता है उसे आचार्यों ने 'ध्यान' कहा है। जो कर्म निर्जरा का कारण है। इसी जप विधि से आचार्य वृन्द शिष्यों को प्रायश्चित रूप में मंत्र जाप रूप उपवास देकर परिशुद्ध करते हैं। प्रायश्चित ग्रन्थों में एक सौ आठ बार णमोकार मंत्र के जाप को एक 'उपवास' कहा है। इसी प्रकार श्रावक के लिए श्रावकाचारों में पंच नमस्कार मंत्र के 'जप' को स्वाध्याय कहा है। 'स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः पंच नमस्कृते।'

सर्वप्रथम मंत्र जप करने के लिए पर्यंकासन से बैठकर इन्द्रिय और मन को निश्चल करना चाहिए। पुष्प या अंगुली के पर्वों से, कमलगट्टा, रूद्राक्ष, स्वर्ण या सूर्यकान्त मणि के दानों से, रजत या सूत्रमाला से णमोकार मंत्र का जाप करना चाहिए। मोक्षाभिलाषी जप कर्त्ता को अंगुष्ठ पर माला रखकर, तर्जनी से सम्यक् रीत्या अंगुष्ठ से बाहर की ओर माला निकालते हुए जप करना चाहिए तथा लौकिक शुभाभिलाषा की पूर्ति हेतु इससे विपरीत अर्थात् माला को अंगुष्ठ पर रखकर तर्जनी को छोड़कर शेष अंगुलियों से अर्थात् मध्यमा या अनामिका द्वारा

माला को बाहर या भीतर की ओर करते हुए जप करना चाहिए। अन्तर इतना है कि मोक्षाभिलाषा से तर्जनी द्वारा मंत्रों से कर्म शत्रुओं का वर्जन/निष्कासन किया जाता है। जो व्यक्ति इन्द्रिय, भोजन, स्थान, आसन और मन के संचार को वश में कर लेता है एवं श्वासोच्छवास के प्रयोग में सिद्धहस्त होता है वही सर्वज्ञाता होता हुआ स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

ध्यान रखें शरीर को स्थिर रखते हुए वचन द्वारा किये जाने वाले जाप में भी मन संलग्न रहे। वह छुट्टी पर न चला जाये अन्यथा मंत्र जप निष्फल हो जायेगा। ख्याल रखें यह अकेला ही पन्चपदी णमोकार मंत्र सब मंत्रों का कार्य करता है। अन्य सारे मंत्र मिलकर भी इसके एक भाग बराबर कार्य नहीं कर सकते हैं।

इसलिए किसी ने ठीक ही कहा है –

नमस्कार समं मन्त्रं, वीतराग समप्रभं ।
सम्मेदाचल समं यात्रा न भूतो न भविष्यति ।।

जैसा जप वैसा फल

णमोकार मंत्र की आराधना चार प्रकार से की जाती है। बैखरी, उपांशु, मानस और सूक्ष्म। बैखरी में मंत्र बिखर जाता है। इसका जप जोर-जोर से बोलकर पाठ रूप में किया जाता है। मंत्र केवल 25 प्रतिशत अन्दर रहता है, 75 प्रतिशत मंत्राक्षर बिखर जाते हैं। उपयोग स्थिरता भी स्थूल रूप से हो पाती है अस्तु इस जप का फल जप कर्त्ता को केवल 25 प्रतिशत ही मिलता है। दूसरा जप उपांशु जप कहलाता है, इसमें आराधक के ओष्ठ, तालु हिलते हैं, ध्वनि भी मन्द-मन्द सुनाई पड़ती है। इस जप में मंत्राक्षर 50 प्रतिशत बाहर निकल जाते हैं अस्तु फल भी 50 प्रतिशत ही मिलता है। तृतीय जप का भेद है मानस। इस मन्त्रोपासन में साधक मंत्र को श्वास-प्रश्वास पर जपता है। चित्त परिणति स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है परन्तु पूर्ण सूक्ष्मता को प्राप्त नहीं हो पाती। इस जपाराधना से उपासक को 75 प्रतिशत फल मिलता है। अन्तिम जप है सूक्ष्म, जिसमें साधक सब ओर से अपनी चित्त वृत्ति को एकाग्र कर पंच परमेष्ठी वाचक मंत्रों का जैसे-जैसे मन में ध्यान करता है, वैसे-वैसे वह उनकी गुणात्मकता के साथ साक्षात्कार करने लगता है, अस्तु वह 100 प्रतिशत फल सहज योग साधना, मंत्र साधना द्वारा प्राप्त कर लेता है। ये चारों एक-दूसरे से क्रमशः अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन चारों में क्रमशः अधिक-अधिक निर्जरा होती है।

णमोकार एक अहिंसक मंत्र

आकृष्टिं सुर संपदां विदधते मुक्तिश्रियो वश्यतां ।
उच्चाटं विपदां चतुर्गति भुवां विद्वेषमात्मैनसाम् ।।

स्तम्भंदुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहनं ।
पायात्पंचनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता ।।

यह महामन्त्र देवों की विभूति, भोग सम्पदा को अपनी ओर आकृष्ट करता है, अस्तु आकर्षण। मुक्तिश्री को अपने वश में करता है इसलिए वशीकरण। देव मनुष्य नारकी और तिर्यञ्च रूप चक्र को नष्ट करता है एतदर्थ उच्चाटन। आत्मा के द्वारा होने वाले पापों का विद्वेष करने से विद्वेषण। दुर्गतियों का स्तम्भन होने से स्तम्भन एवं इस मंत्र देवता की आराधना के प्रति किया गया प्रयत्न स्वतः ही मोह को मूर्च्छित कर देता है अस्तु इस मन्त्रराज को सम्मोहक मंत्र भी कहा जाता है।

चमत्कार प्रिय जनता मार्ग भ्रष्ट न हो और जैन मंत्र पर से उसका विश्वास न हटे तथा अपना हित सम्पादन कर सके इस कारण जैनाचार्य ने विद्यानुवाद पूर्व में मंत्रों के उल्लेख भी किये हैं। सांसारिक कामनाओं के वशीभूत साधारण जन-समूह को उन्होंने मंत्र-तंत्र विधान आदि के द्वारा दुनिया के झगड़े-झंझटों, जाल-फरेबों से बचाने के लिए आकर्षण, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण, स्तम्भन, सम्मोहन, शान्ति और पुष्टि इन आठ कार्यों में दिशा, समय, आसन, मुद्रा, पल्लव, वस्त्र, योग, माला, हस्तांगुली, मंडल और स्वर की विधि-विधान बनाकर आकर्षित किया है।

मंत्र साधना में सावधानी आवश्यक

'निर्वीर्याक्षरं नास्ति मूलमनौषधम्' – ऐसी कोई वनस्पति नहीं है और ऐसा कोई भी अक्षर नहीं है जिसमें शक्ति नहीं है। शब्द शक्ति अपरिमित है। शब्द शक्ति के साथ साधक की आध्यात्मिक शक्ति एवं शब्द का वाच्य पदार्थ से मिलकर विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करते हैं। औषध सेवन के समान मंत्र जाप में भी सावधानी अनिवार्य होती है। औषधि के निर्माण, विधि, अनुपात एवं सेवन त्रुटि से हानि होती है, उसी तरह मंत्र के सम्बन्ध में भी हानि जानना चाहिए। अनेक मंत्र देवताधिष्ठित होते हैं, जो साधक, प्रयोक्ता को पागल तक कर देते हैं। परन्तु णमोकार मंत्र के लौकिक देवता सेवक हैं। अतः इनके आराधक मानव देवों से भी पूजित होते हैं। तीर्थंकर के पंचकल्याणक इसी का उदाहरण हैं।

अनादि द्वादशांग जिनवाणी का अंग होने से यह णमोकार मंत्र अनादि मूल-मंत्र कहा गया है। षट्खंडागम के प्रथम भाग जीवट्ठाण में आचार्य पुष्पदंत ने ग्रन्थ की

रचना के प्रारंभ में इसी मंत्र द्वारा मंगलाचरण किया है। आचार्य वीरसेन स्वामी जो कि धवल टीका के रचयिता हैं; उन्होंने इसे परंपरा से आने के कारण परंपरा प्राप्त निबद्ध मंगल सिद्ध किया है; क्योंकि मोक्षमार्ग, उसके उपदेष्टा और उसके साधक भी अनादिकाल से चले आ रहे हैं। आचार्य शिवकोटि महाराज की 'भगवती आराधना' की टीका के अनुसार यह महामंत्र द्वादशांग के रचयिता गणधर कृत है। जबकि तीर्थंकर और गणधर भी अनादिकाल से होते चले आ रहे हैं, एवं विदेह क्षेत्र के बीस तीर्थंकर जो कि वर्तमान में शाश्वत हैं, उन्होंने भी इसी की आराधना की है जो है, नवकार, नमस्कार, णमोकार मंत्र।

जिनागम का समुद्धार : णमोकार

केवल णमोकार मंत्र से ही चौरासी लाख मंत्र बनते हैं, जिनसे सर्व रक्षा, शान्ति, शत्रुभय, द्रव्य हरण, द्रव्यप्राप्ति, रोगक्षय, कार्यसिद्धि विष निवारण आदि कार्यों की सिद्धि होती है। **जैनमत के अनुसार यह एक अहिंसक मंत्र है जिससे प्राणी-मात्र की रक्षा होती है**। इसकी उपासना से लौकिक शत्रु का अनिष्ट न होकर पाप-शत्रु का संहार, सांसारिक विपत्ति का निवारण एवं मुक्ति लक्ष्मी का वशीकरण होता है। जैन-वैदिक एवं बौद्ध विचारधाराओं की त्रिवेणी भारतीय संस्कृति के स्वरूप को स्थिर रखती है। इस संस्कृति का आस्था पक्ष वस्तुतः मंत्रों द्वारा परिपुष्ट होता आया है। जो स्थान जैनों में 'णमोकार मंत्र' का है, उसी प्रकार वैदिक विश्व में 'गायत्री मंत्र' का तथा बौद्ध विश्व में 'तिरसन' नामक मंत्र का है। स्थान भले ही श्रद्धावश समान हो किन्तु 'णमोकार मंत्र' तो अपने आप में अलौकिक मंत्र है और है अलौकिक सुख का भण्डार। कारण जो आनन्द पूर्वक प्राणवाय के साथ सम्पूर्ण मंत्र का अत्यन्त स्पष्ट पाठ करता है उसके सर्व मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। इसमें न आश्चर्य है न ही सन्देह। यह मंत्र सब मंत्रों का मूल है अतः इसी की आराधना का प्रावधान महावीर की देशना में जगह-जगह निसृत हुआ है। यद्यपि वृक्ष के उपरि भाग में फल लगते हैं परन्तु 'वृक्ष की जड़ ही सींची जाती है'। मंत्रराज णमोकार इच्छित पदार्थ प्रदाता होने से कामधेनु एवं पाप वृक्ष को नष्ट करने से अग्नि वत् है। महानुभाव जव एक मात्र यही पंच नमस्कार मंत्र दृश्य और अदृश्य उभयफल प्रदाता है तब अन्य मंत्रों में क्यों लगा जाए?

णमोकार मंत्र जैन आगम का प्रथम अध्याय है। जिन-अनुयायियों को यह मंत्र बाल्यकाल में ही सिखा दिया जाता है। उन पर उसके संस्कार अमिट हो जाते हैं। वर्तमान की युवा पीढ़ी में से अधिकांश को भले ही कोई भजन, स्तुति, पूजा, पाठ या स्तोत्र याद न हो किन्तु 'णमोकार मंत्र' उन्हें अवश्य याद होगा। इस मंत्र की

दीक्षा तो बच्चों को घुट्टी के साथ ही दी जाती है। इस मंत्र का याद होना, पढ़ना अथवा बोलना ही किसी के जैन होने का प्रमाण माना जा सकता है। बौद्ध पाठशाला में पढ़ रहे अकलंक-निकलंक के जैन होने की पहिचान निद्रा-काल में आकस्मिक विघ्न उपस्थित होने से इस मंत्र उच्चारण से ही की गई थी। इसका स्मरण, चिंतन, जाप और आलाप आज भी लाखों-लाख नर-नारियों, आबाल-वृद्धों द्वारा नित्य किया जाता है। जैन संस्कृति में प्रत्येक धार्मिक-मांगलिक अनुष्ठान, जीवन-संचालन एवं कार्य प्रारम्भ इसी मंत्र से किया जाता है।

सामाजिक और वैयक्तिक जीवन आंतरिक मूल्य प्रवृत्तियों का समन्वय ही वस्तुतः संस्कृति कहलाता है और संस्कृति, मंत्र को जानने-पहिचानने का द्वार खोलती है। मंत्र मानव हृदय का मंथन किया हुआ नवनीत है। णमोकार मंत्र का आदर्श स्वयं ही अपने पुरूषार्थ द्वारा साधक अवस्था धारक को सिद्ध अवस्था प्राप्ति का संकेत है।

इस मंत्र का शाब्दिक स्वरूप है –

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं ।।

यह मंत्र किसी व्यक्ति विशेष की आराधना की बात नहीं करता। यह तो वस्तुतः गुण-चिंतवन करने का उद्घोष करता है। इसका तन अरिहंत-सिद्ध-आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं की गुणात्मक गरिमा का समुच्चय है। इसलिए इसे 'पंच-परमेष्ठी' मंत्र भी कहा गया है। इस मंत्र के पारायण से मंत्र साधक में स्वावलम्बन की भावना उपजती है, जागृत होती है। अंततः इसमें प्रभु बनने की शक्ति भी विद्यमान है।

लोक विश्वास है कि इस मंत्र के नित्य पारायण से व्यक्ति के सारे पाप स्वतः शान्त हो जाते हैं। उसके जीवन में अपूर्व सुख-शान्ति का संचार हो उठता है। इस लोक-विश्वास के बलबूते पर णमोकार मंत्र न केवल जैनों में अपितु जैनेतर समाज में भी समादृत होने लगा है। यह मंत्र जिनागम का समुद्धार है। यह पाप नाशक णमोकार महामंत्र जैन दर्शन की आत्मा है। पंच परमेष्ठी का समवेत रूप है। इसकी आराधना, उपासना, साधना साधक को पवित्र निर्मल एवं परिशुद्ध बनाती है।

मंत्रराज की इतनी स्पष्ट व्याख्या हो जाने के पश्चात् अब भी एक प्रश्न का धुआं आँखों को लग रहा है। क्या इस मंत्रराज के जप ध्यान के विषय में अशुचि-अवस्था सम्बन्धी कोई निषेध या विधान है?

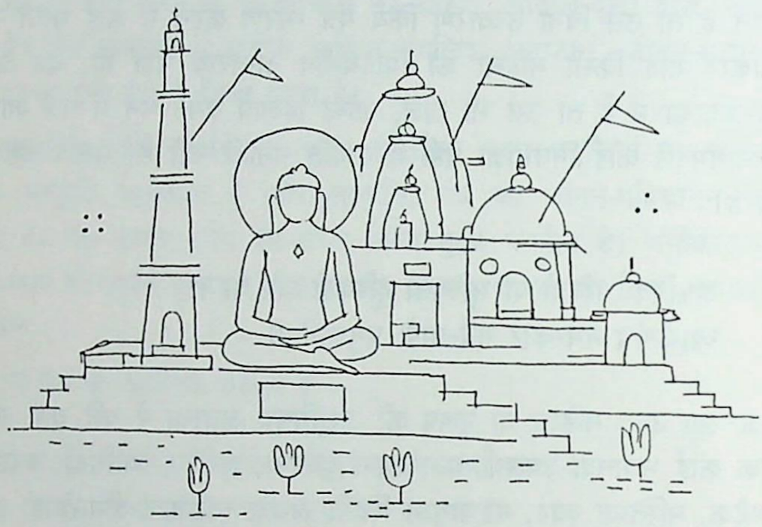
आचार्य भगवन्त अत्युदार चेता हैं। उन्होंने हर परिस्थिति का गंभीरता पूर्वक अवलोकन किया है। धवलाकार कहते हैं प्रत्येक व्यक्ति को चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते, पवित्र-अपवित्र सभी अवस्थाओं में पंच नमस्कार मंत्र का मन ही मन स्मरण करते रहना चाहिए। यदि किसी पुरूष को बहुमूत्र की व्याधि या शिकायत है तो उसे बिना उच्चारण किये मंत्र स्मरण करने में कोई बाधा नहीं है। इसी प्रकार यदि किसी महिला को त्रिदिवसीय अन्तराय पड़ा हो, वह ऋतुमती/अशुचि-अवस्था में है तो उसे भी तालु, ओष्ठ हिलाये बगैर मन में मंत्र जाप/ध्यान की जिनागम में कोई निषेधाज्ञा नहीं है अर्थात् मनाही नहीं है। यद्यपि यह विधान अवश्य है।

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुस्थितो ऽपि वा ।
ध्यायेत्पंच नमस्कारं सर्व-पापैः प्रमुच्यते ।।

अन्यथा उक्त महिला या पुरूष की अशुचिमय अवस्था में यदि कर्म संयोग से अचानक कोई भयानक उपसर्ग, यान-वाहन दुर्घटना, शरीरज व्याधियाँ, ब्लड प्रेशर, हार्ट अटैक, मस्तिष्क ज्वर, मरणासन्न स्थिति अथवा लाइलाज बीमारी हो जाने पर 'मैं अशुचि अवस्था में हूँ; कैसे णमोकार मंत्र का स्मरण करूँ' के कटघरे में कैद व्यक्ति के आत्म कल्याण के सारे मार्ग अवरूद्ध हो जायेंगे और कदाचित उक्त व्यक्ति साधक है तो उसकी साधना का परिपाक हाथ से फिसल जायेगा। एतदर्थ सभी स्थितियों की सम्भावनाओं के सम्भावित होने के कारण अशुचि-अवस्था में भी णमोकार महामंत्र के मन ही मन स्मरण चिन्तन की जिनागम में आज्ञा दी गई है। कारण मंत्र का मूल लक्ष्य आत्मार्थी को पल-अनुपल मूर्च्छा से दूर रखना है। जैसा कि मंगलाचरण में कहा गया है – तराजू के एक पलड़े पर पंच गुरू वाचक णमोकार मंत्र के पैंतीस अक्षरों को रखिए और दूसरे पलड़े पर तीनों लोकों को सम्पदा सहित रखिए। पंच परमेष्ठी/पंचगुरू वाचक पहला पलड़ा ही महान/भारी होगा। ऐसे ही महिमावन्त अपराजित महामंत्र को मैं शिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

⌘ ⌘

बादशाहे जैन का यह महिर वा दरबार है



- जिनेन्द्र भगवान का दर्शन खाली हाथों न करें।
- जिनेन्द्र भगवान का दर्शन सामने से न करें, प्रत्युत यदि प्रतिमा पूर्वाभिमुख है तो प्रतिमा के दाहिने हाथ की ओर खड़े होकर दर्शन करें और यदि प्रतिमा उत्तराभिमुख है तो प्रतिमा के बाँये हाथ की ओर खड़े होकर दर्शन करें।
- जिनालय श्रद्धापूर्वक जाएँ किन्तु पीठ दिखाकर न लौटें।

प्रातः प्राची में सूर्य उदित होता है। बरसात में मेह बरसता है। गर्मियों में गर्मी होती है। यह हुआ प्रकृति का नियम। उसी प्रकार मानव होने के नाते मानव के भी कुछ नियम होते हैं। आकृति को मानव होना पर्याप्त नहीं है; प्रकृति का मानव बनना ही उसकी सफलता है। जिसमें प्रमुख नियम है अपने इष्ट का दर्शन।

जैन संस्कृति में जैन होने की प्रथम पहचान है – जिनेन्द्र दर्शन। प्रातःकाल उठकर मंगलों के देने में समर्थ, पाप-प्रणाशक, पुण्य प्रवर्धक तथा सुर-असुर के द्वारा सेवित चरण कमलों से युक्त श्री जिनेन्द्र प्रतिमा का दर्शन करना चाहिए, यही है मानव मात्र का आद्य प्रमुख कर्त्तव्य। किन्तु आधुनिक सभ्यता में पल रहे मानव 'जिन दर्शन' संस्कार विहीन होते जा रहे हैं। वे भौतिकता के रस में सरावोर जिनविम्ब को पाषाण खण्ड समझ उसके महत्व से नावाकिफ हैं और फिल्मी सितारों

को महत्व देते हैं। उन्हें सोने से पूर्व एवं जागते ही देखना नहीं भूलते। लगता है उनको देखना जैसे मनुष्य का अभिन्न अंग बन गया हो। मनुष्य की इस स्थिति को देखकर दो पंक्तियाँ स्मरण में आती हैं –

प्रभु दर्शन को आलसी, भोजन को तैयार ।
ऐसे पापी नरन को, बार-बार धिक्कार ।।

दिल्ली शहर की बात है। एक माँ अपने बेटे को प्रतिदिन कहती है – "बेटे! मन्दिर जाओ। जिनेन्द्र भगवान के श्रीमुख के अवलोकन, दर्शन से हृदय के बंद कपाट खुलते हैं। मन को शान्ति मिलती है। विचारों को बल मिलता है एवं जीवन के अंधेरे आकाश में भविष्य की उज्ज्वल आशा के एक-एक तारे जल उठते हैं।" इस प्रकार माँ के द्वारा बार-बार समझाइश देने पर भी बेटे पर कोई असर नहीं हुआ।

एक बार गोम्मटगिरि इन्दौर में वह परिवार सहित मेरे दर्शनार्थ आई। अपनी समस्या को बच्चे की शिकायतनुमा में मुझसे कहने लगी – "मुनिश्री यह मेरा बेटा है। यह मेरी बात नहीं मानता। मैं इसे बार-बार मन्दिर जाने के लिए प्रेरित करती हूँ परन्तु इस पर मेरा कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आप इसे मन्दिर जाने के लिए कहियेगा।" मैं चुपचाप अपना स्वाध्याय करता रहा। महिला ने अपनी बात पुनः दोहराई पर मेरी ओर से कोई उत्तर न पा; उत्तर की प्रतीक्षा में अपलक निहारने लगी। जैसे ही मेरा स्वाध्याय पूर्ण हुआ, बालक ने जिज्ञासा भरे नेत्र मेरे चेहरे पर टिका दिए और पूछने लगा – "मुनिश्री! आप मुझे बतलाइएगा आखिर मन्दिर क्यों जाना चाहिए? मन्दिर जाने से क्या लाभ है?" मैंने उससे प्रतिप्रश्न किया – "आप पढ़ते हैं?" उसने कहा – "हाँ, बी.एस.सी.।" मैंने उससे कहा – "यदि मैं आपको तीन सुईयाँ दूं चुंबकीय बनाने के लिए तो आप क्या करोगे?" उसने तुरन्त उत्तर दिया – "लेबोरेट्री में जाऊंगा और लेब इन्चार्ज से चुंबक लेकर सुईयों को चुंबक का बार-बार स्पर्श कराऊँगा, जिससे सुईयाँ चुंबकीय हो जाएंगी।" मैंने कहा – "बस! आपका उत्तर आपके ही पास है, अधिक दूर मत जाइए। जैसे चुंबक के स्पर्श से लौह सुईयाँ चुंबकीय हो जाती हैं वैसे ही जिनबिम्ब चुम्बक है और हम हैं सुई।" मेरा इतना ही कहना हुआ और बालक को समझते देर नहीं लगी। वह बीच में ही बोल पड़ा – "समझ गया, मुनिश्री। जैसे लौह सुईयाँ चुंबक का स्पर्श पा चुंबकीय अर्थात् चुंबक जैसी बन जाती हैं वैसे ही जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-स्पर्शन से हम भी चुंबकीय यानि उन जैसे पावन हो जाएंगे। मुझे आज रहस्य समझ में आ गया कि मन्दिर क्यों जाना चाहिए और भगवान के दर्शन से क्या लाभ है।" और उसने उसी वक्त जिन दर्शन का दृढ़ संकल्प कर लिया।

अब प्रश्न यह रहा कि मन्दिर कैसे जाना चाहिए? तो देखिए –

बा अदब आना यहां, हर शख़्स को दरकार है ।
बादशाहे जैन का यह, महिर वा दरबार है ।।

मन्दिर देवाधिदेव अर्हन्त का दरबार है। समवशरण का प्रतीक है। इसमें सभी दर्शनार्थियों को अत्यन्त विनम्रता पूर्वक आना चाहिए। आचार्य वीरसेन स्वामी जय धवला में लिखते हैं – 'जिणबिंब दंसणेण णिधत्ति णिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादि कम्म कलावस्य खय दंसणादो' जिनबिम्ब का दर्शन करने से उन कर्मों भी क्षय देखा जाता है, जिन्हें कहते हैं निधत्ति और निकाचित कर्म। जो जीवात्मा को बिना फल दिए निर्जरित नहीं होते। उनका फल निश्चित रूप से देहधारी-कर्मधारी आत्माओं को भोगना पड़ता है। अतः हे देव! यदि मुझे इस जगत् में प्रतिदिन शुभ फल प्रदायक, सदा प्रसन्न रहने वाला आपका दर्शन प्राप्त होता है तो कल्पवृक्ष, कामधेनु, मंत्र, विद्या, गृह, समुद्र, देव एवं चिंतामणि रत्न से क्या प्रयोजन? क्योंकि आपका पवित्र दर्शन कल्याण को विस्तृत करता है। विवेक का वितान फैलाता है पाप का उन्मूलन कर और प्रकट करता है विशाल वैभव को।

ज्ञातव्य है; जिनेन्द्र देव का मुखावलोकन करने से मनुष्य को वैसा ही संतोष होता है जैसा कि मयूर को मेघ-गर्जन से, बिछुड़े हुए को बंधु-जन के मिलाप से। तृषित को मधुर जल-पान से, बंधन-बद्ध प्राणी को बंधन मुक्ति होने से। रोगी को आरोग्य लाभ से और दृष्टिहीन को नेत्र दृष्टि प्राप्त होने से।

यह सच्चाई है जिस श्रद्धालु भव्य ने क्षणभर भी आपका नयनाभिराम दर्शन किया उसने सदाचार धारक ज्ञानी तपस्वी को बार-बार दान दिया। दीर्घकालीन तपस्या धारण की, अनेक प्रकार की अनेक अर्चनाएं की एवं विश्व वन्दित निर्मल गुण समूह रूप शील धर्म को प्राप्त किया अर्थात् जितना पुण्य इन सब क्रिया-कलापों द्वारा प्राप्त होता है, उतना पुण्यार्जन भव्यात्मा वीतराग मुद्रा के दर्शन मात्र से प्राप्त कर लेता है। आचार्य कहते हैं जिनेन्द्र की स्तुति से वचन, स्मरण से मन और नमस्कार करने से यह शरीर पवित्र हो जाता है। प्रभु का दर्शन सम्पूर्ण जीवन को धन्यतम बना देता है।

त्वन्नुतेः पूत वागस्मि त्वत्स्मृतेः पूत मानसः ।
त्वन्नुतेः पूत देहोऽस्मि धन्योऽस्म्यद्य त्वदीक्षणात् ।।

जैसे समुद्र की लहरें, मेघ की जलधाराएँ, नभाङ्गण के तारे गिने नहीं जा सकते वैसे ही वीतराग प्रभु के मुखावलोकन से संचित पुण्य संसारी की बुद्धि द्वारा

गिना नहीं जा सकता। वस्तुतः जिनेन्द्र दर्शन आत्म-लाभ की पवित्र भावना से सागारों का पवित्र और आद्य कर्त्तव्य है। धर्माचरण को तरो-ताजा बनाए रखने के लिए एवं आत्म-संस्कृति की सम्पन्नता के लिए 'देव दर्शन' आत्म-दर्शन का दैनिक संविधान है। चैत्य और चैत्यालय हमारे आत्म-परिणाम की विशुद्धि के पवित्र स्थान हैं। जिनबिम्ब दर्शन मोह का क्षय कर वीतरागता का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

स्कूल, कॉलेजों में शाब्दिक ज्ञान मिलता है किन्तु जैन बादशाह के दरबार में जीवन का ज्ञान मिलता है। यह दरबार हमारी आध्यात्मिक सजगता का हाजिरी-पत्रक है। यहाँ आकर नित्य प्रति, सुबह-शाम श्रावक अपनी आध्यात्मिक डायरी के इन्द्राज करता है।

जिन चैत्यालयों के उतुङ्ग शिखर, आभावान् स्वर्णमय कलश, ऊर्ध्व लोक/सिद्धालय की ओर उद्धान का निर्देश देते हैं। उन पर फहराती हुई माला, मृगेन्द्र, ध्वज, कमल, मयूर, हंस, वैनेतेय, गज, अश्व, रथ इन दस चिन्हों वाली पालि ध्वजाएँ ऐसी सुशोभित होती हैं मानो अपने ऊँचे-ऊँचे हाथ फैलाकर भव्य जीव को अपनी ओर बुला रही हो यह कहती हुई आओ! भव्यों यहां आओ! त्रैलोक्येश्वर का अपूर्व दर्शन कर शिव-पथ का पाथेय तैयार करो।

अपनी क्रान्ति से कर्पूर, हार, हिमालय और चन्द्र की कान्ति को तिरस्कृत करते हुये ये जिनालय, कृत्रिम देवालय हैं अथवा अकृत्रिम देवालय, या कि विविध रत्नावलियों की विचित्र किरणावलियों से दैदीप्यमान यह जिनगृह क्या सुमेरू पर्वत है अथवा गन्धर्व, किन्नरों की क्रीडा स्थली। इस प्रकार सुर और नरों में अनेक भ्रान्ति की संभावनाएँ उत्पन्न करते हुए ये श्री जिनालय 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' जब तक नभ-मण्डल में सूर्य और चन्द्र है तब तक भूतल पर सुशोभित रहेंगे।

ऐसे पवित्र, लोक प्रशंसनीय जिन मन्दिर का जो श्रीमान भव्य जीव निर्माण कराता है, महेन्द्र पदवी भी दासी के समान उसका आचरण करती है। 'महेन्द्रपदवी ननु किंकरीव'। वह चिरकाल तक सुधारस का पान करता हुआ, दिव्य सुखों का उपभोग करता है। आचार्यों का कथन है जिसने चैत्यालय स्थापित किया वही वास्तविक संघपति है। 'स संघाधिपतिर्ज्ञेयो यः कुर्याच्छ्रीजिनालयं'। कारण यहाँ आकर असंख्यात जीव धर्म लाभ लेते हैं। मुनिराज आकर ठहरते हैं। धर्म साधन करते हुए श्रावकों को धर्मोपदेश देते हैं। जिससे श्रावकों का मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है। श्री जिन भवन का निर्माण कराने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में आचार्य पद्मनन्दि जी कहते हैं कि जिनभवन निर्माता न केवल जिन मन्दिर निर्मित करता है प्रत्युत्त ऐसा महान् पुण्यशाली श्रावक जिनशासन ही स्थापित करता है। उन्हीं के शब्दों को देखिए –

येन श्री मज्जिनेशस्य चैत्यागारमनिन्दितं ।
कारितं तेन भव्येन स्थापितं जिनशासनम ।।

वस्तुतः सद् गृहस्थों के लिए जिनमन्दिर से बढ़कर श्रेष्ठ कोई पुण्य नहीं है क्योंकि जिनमन्दिर स्वर्ग का प्रथम सोपान है और मुक्तिश्री का प्रदायक है।

जिनगेह समं पुण्यं न स्यात् सद् गृहिणां क्वचित् ।
स्वर्ग सोपानमादौ च मुक्ति स्त्री दायकं क्रमात् ।।

आगम शास्त्रों में उल्लेखित किया गया है कि जिनेन्द्र दर्शन का विचार करने मात्र से मनुष्य को एक उपवास का, उद्यम करने से दो उपवास का, मन्दिर की ओर गमन प्रारम्भ करने से तीन उपवास का, गमन करने पर चार उपवास का, बीच मार्ग में एक पक्ष के उपवास का, प्रतिमा जी के दूर से दिखने पर एक माह के उपवास का, मन्दिर के बाह्य मैदान में पहुंचने पर छह माह के उपवास का, मन्दिर के द्वार में प्रवेश करने पर एक वर्ष के उपवास का, प्रदक्षिणा करने पर सौ वर्ष के उपवास का, जिनमुख का दर्शन करने पर हजार वर्ष के उपवास का और जिनेन्द्र प्रभु की भक्तिपूर्वक स्तुति करने से अपने आप अनन्त उपवासों का फल प्राप्त होता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने जिन-दर्शन को 'प्रेक्षा' नामक ध्यान कहा है।

मन्दिर से सन्दर्भित कुछ शब्द/शर्तें

सिद्धान्त वेत्ता आचार्य प्रवर धरसेन जी ने षट्खण्डागम में कृति कर्म में सन्दर्भ में कहा है – 'सुद्धमणो धोतपादो' अर्थात् शुद्ध मन से पैर धोकर आना चाहिए। यहां मन शुद्धि से तात्पर्य है कि मन्दिर के पवित्र वातावरण में प्रवेश से पूर्व हम अपनी उन वस्तुओं, वृत्तियों को मन्दिर के द्वार पर ही पादत्राण की तरह छोड़ दें, जो हमारे अन्दर सांसारिकता का जहर घोलती हैं। मन विकृत, अस्थिर, चंचल और स्वार्थान्ध करती हैं। हमारे पास मन, वचन और काया के तीन सोपान हैं। इनको मणि सोपान बना हम जीवन के उन्नत मुक्ति सौंध को भी पा सकते हैं; तो इन्हीं को टूटे, खण्डित सोपान बना जीवन की जघन्यावस्था को भी पा सकते हैं। नीचे, बहुत नीचे सात राजू की निम्नता में बने नरक बिलों में भी उतर सकते हैं।

पंडित प्रवर आशाधर ने सागर धर्मामृत में एवं अन्य श्रावकाचारों के स्रजेताओं ने 'निःसही' शब्दोच्चार के साथ श्री जिनालय में प्रवेश करने का विधान किया है, जो आज सर्वत्र प्रचलित है। दर्शनार्थी जिनालय में 'ऊँ जय जय, निःसही, निःसही' बोलते हुए प्रवेश करते हैं किन्तु इस 'निस्सही' शब्द का वास्तविक अर्थ

क्या है? इससे लोग अनभिज्ञ हैं। न तो उन्हें इस शब्द का अर्थ ही ज्ञात है और न ही किसी श्रावकाचार के रचयिताओं ने इसका अर्थ स्पष्ट किया है। हाँ, सिर्फ एक लाहौर निवासी ज्ञानचन्द जैनी ने 77 वर्ष पूर्व अपने जैन बाल गुटका के द्वितीय भाग में इसका अर्थ किया था। 'यदि कोई व्यन्तरादिक देव जिनेन्द्र भगवान का दर्शन कर रहे हों तो वे वाहर निकल जायें अथवा एक ओर दूर हट जायें।' और यही अर्थ आबाल वृद्धों के मन-मस्तिष्क में घर कर गया है। परन्तु इसका पोषक प्रमाण अभी तक किसी जैनाचार्य प्रणीत आर्ष ग्रन्थ में दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

इतना जरूर है श्रमण-श्रावक प्रतिक्रमण पाठों में निषेधिका दण्डकों में 'णमो जिणाणं, णमो णिसीहीए' पाठ दृष्टव्य है। इसी 'णिसीहीए' का रूप अपभ्रंश होते हुए संप्रति में निःसही रूप में परिवर्तित हो गया है। इसका अर्थ है – जिनेन्द्रों एवं निषीधिकाओं (समाधि भूमियों) को नमस्कार हो; अस्तु 'णमो णिसीहियाए किंवा नमो निस्सही' शब्दोचार पूर्वक जिनालय की दहलीज को हाथ से तीन बार स्पर्श कर मस्तक से लगाते हुए विचार करें 'मैं जिनबिम्ब युक्त जिनालय को नमस्कार करता हूँ।' यहीं से वचन शुद्धि अथवा मौन का प्रावधान यावत्काल पर्यन्त के लिए हो जाता है; जब तक आप/श्रावक जिनालय में होते हैं। 'णमो णिसीहियाए' यह वचन शुद्धि का संकल्प सूत्र है। और यही निःसही शब्द का सही अर्थ है।

चूंकि मूलाचार के समाचार अधिकार 134 में यतियों के दस प्रकार के समाचारों में निसीहिया (निस्सही) और आसिया (आशिका/अस्सही) नामक दो समाचारों में यही अर्थ दृष्टिगोचर है। यथा –

> **कंदर पुलिण गुहादिसु पवेसकालो णिसिद्धियं कुज्जा ।**
> **तेहिंतो णिग्गमणे तहासिया होदि कादव्वा ।।**

गिरि, कन्दरा, सरिताओं के पुलिन/तट, मध्यवर्ती जल रहित स्थान और गुफादिकों में प्रवेश करते समय निषेधिका समाचार करें। जिसका मूल अभिप्रेतार्थ यह है कि उक्त स्थानों पर वहां के स्वामी से अनुज्ञा लेकर प्रवेश करें। यदि मनुष्य स्वामी है तो उससे पूछें और यदि किसी मनुष्य का आधिपत्य नजर न आये तो उस स्थान के अधिष्ठाता देव को सम्बोधित करके उनसे वहां ठहरने की अनुमति लें। इसी प्रकार उक्त स्थानों से गमन करते समय 'आशिका' समाचार करें। जिसका अर्थ है – मैं जा रहा हूँ, आप स्थान को सम्भालिएगा।

आचार्य वीरनन्दी जी ने आचारसार में इन दोनों समाचारों का अर्थ निम्न प्रकार किया है। श्रमण संघ उक्त गिरि-कंदरादि स्थानों में प्रवेश करके अधिष्ठित देवों को सम्बोधन करके कहे – हे क्षेत्रपाल यक्ष! हम लोग आपकी अनुज्ञा से यहाँ

निवास करना चाहते हैं, आप रूष्ट मत होना और जाते समय उनमें किसी तरह का वैमनस्य अवशिष्ट न रह जाये; अतः उन्हें आशीर्वाद देकर जाना चाहिए, ये दोनों ही क्रमशः 'निस्सही और अस्सही' के प्रयोजन भूत अर्थ हैं जो कि लौकिक शिष्टाचार व व्यवहारिक जगत के अति निकट हैं।

मूलाचार का दूसरा अभिप्राय यह भी है कि उक्त स्थानों में प्रवेश करके सम्यग्दर्शनादि में स्थिर होने का नाम निषेधिका है। लेकिन भ्रमवश भीरू-जनों ने इन दोनों शब्दों को मन्दिर से जोड़कर मानव मस्तिष्कों में भर दिया है कि निस्सही अर्थात् देवता गण दूर हो जाएं। अस्सही अर्थात् अब आप आ जाईएगा, मैं जा रहा हूँ। जो न तो आगमानुकूल है और न ही ऋषि परम्परा में मान्य है। अतः विवेकी, सुधी श्रावकों को 'णमो णिसीहियाए' अर्थात् जिनबिम्ब समन्वित जिन मन्दिर को नमस्कार हो, इस प्रमुख उद्देश्य को ध्यान में रखकर जिनालय में प्रवेश करना चाहिए।

सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र की दृष्टि में अज्ञानवश अज्ञानी गुरू के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को श्रद्धा सहित ग्रहण करने वाला सम्यग्दृष्टि है। किन्तु यदि समीचीन गुरू से समीचीन ज्ञान मिल जाने पर भी अपने आग्रह को नहीं छोड़ता तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है इसलिए विवेकी जनों को उपर्युक्त अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

आप अपने घर से चलकर जैन बादशाह के दरबार में आ रहे हैं तब 'बादशाह' से मिलने के लिए निश्चित है कि आप शारीरिक शुचिता, वस्त्रादिक की स्वच्छता एवं वेशभूषा का ध्यान रखेंगे। साथ ही उन-उन वस्तुओं को भी न लायेंगे जो श्रावक संहिता के प्रतिकूल हैं। अतः चमड़े के बेल्ट, जूते-चप्पल, पर्स, रेशमी वस्त्र या ऐसे सौन्दर्य प्रसाधन में हिंसात्मक तरीकों से निर्मित हैं वे सभी मन्दिर में वर्जित हैं।

दूसरी बात; जब आप बादशाह से भेंट करने जा रहे हैं, तब भेंट स्वरूप अवश्य कुछ ले जाइएगा, क्योंकि नीति है –

'रिक्त पाणिर्न गन्तव्यं देवगुरुराजान्प्रति'

देव, गुरू और राजा के प्रति/समीप खाली हाथ नहीं जाना चाहिए कारण, पूज्य पुरूषों के प्रति खाली हाथ जाना उनकी आसादना, अविनय है। दूसरी बात; खाली हाथ आने वाला खाली ही लौटता है। क्योंकि (भेंट) फल द्वारा फल की प्राप्ति होती है। आपकी मुट्ठी के अक्षतादि अर्हद्देव की भेंट है और संकल्प के प्रतीक हैं। कि; हे प्रभो! मैं आपके दर्शनार्थ ही आ रहा हूँ, अब दर्शन से पूर्व मैं

अन्यत्र कहीं और नहीं जाऊँगा तब घरेलु वस्तुओं के क्रय हेतु हाथ की बास्केट या अन्याभिप्राय स्वतः छूट जायेंगे। जब आप मन्दिर की भावना के साथ मन्दिर जा रहे होते हैं तो उस भावना की सफलता के उद्योतक उज्ज्वल अखण्डित तन्दुल फलादि आपकी मुट्ठी में होना चाहिए क्योंकि द्रव्यानुसार ही भाव परिणति होती है। यथा –

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरुपं ।
भावस्य शुद्धिमधि कामधिगन्तु कामः ।।

दर्शन कैसे करें

देवाधिदेव वीतराग प्रभु का दर्शन करते समय प्रत्येक दर्शनार्थी श्रावक को तीन अवनति/बैठकर अवनमन; 'ओणदं' अर्थात् गवासन से पंचांग नमस्कार तथा चतुः सिर। चार बार खड़े होकर नमस्कार करना चाहिए। अब देखिए अवनति और चतुः सिर का यथाक्रम प्रयोग – जिनविम्ब को देखते ही सिर झुकाना प्रथम नमस्कार है तथा जिनेन्द्र वीतराग मुद्रा के दर्शन से उत्पन्न हर्ष से पुलकित वदन होते हुए जिनेन्द्र के आगे बैठकर प्रणाम करना प्रथम अवनति है। इसके पश्चात् विवेक पूर्वक शनैः शनैः खड़े होकर

दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पापनाशनं ।
दर्शनं स्वर्ग सोपानं दर्शनं मोक्षसाधनम् ।।

इत्यादि, दर्शन पाठ एवं तीर्थंकरों का गुण संकीर्तन (विनती) हे जिनेन्द्र! आपके दर्शन रूपी धर्म तीर्थ में स्नान करने से मेरा सर्वाङ्ग शरीर प्रक्षालित हो गया तथा मेरे युगल नयन निर्मल/पवित्र हो गये हैं। ऐसे प्राञ्जल उद्गार अभिव्यक्त करते हुए जिसके दोनों नेत्र धर्म रूपी प्रेमाश्रुओं से स्रवित हो रहे हैं, वाणी गद्गद् हो गई है ऐसा श्रावक/श्रमण द्वितीय शिरोनति करके पृथ्वी पर उपविष्ट होकर द्वितीय प्रणाम करें। तदुपरान्त खड़े होकर सामायिक दण्डक अर्थात् कार्योत्सर्ग यानि शरीर के प्रति ममत्व और कषाय का उत्सर्ग (त्याग) करके चतुर्विंशति तीर्थंकरों का स्तवन करते हुए मस्तक झुकाकर तृतीय शिरोनति करें तदनंतर भूमि पर बैठकर प्रणाम करना तृतीय अवनति है। पुनः खड़े होकर निसंग और निःशल्य ईर्या समिति पूर्वक न अतिशीघ्र, न अति विलम्ब से; प्रत्युत शनैः शनैः देव, शास्त्र और गुरू की तीन प्रदक्षिणा करना चाहिए। तथा च पूजन, जप, स्वाध्याय करके 'भूयात्पुर्न दर्शन' की पवित्र भावना सहित पिछले पैरों से द्वार का उल्लंघन करना चाहिए अर्थात् जिन प्रतिमा की ओर पीठ किये बिना बाहर आना चाहिए ऐसा प्रासाद मण्डन में कहा है, देखिए।

अग्रतो जिनदेवस्य स्तोत्र मन्त्रार्चनादिकम् ।
कुर्यान्न दर्शयेत् पृष्ठं सम्मुखं द्वार लंघनम् ।।

दर्शनार्थी/पूजार्थी इस बात का विशेष ध्यान रखें कि श्री जिनबिम्ब के सम्मुख खड़े होकर दर्शन न करें।

व्यवहारिक क्षेत्र में जब न्यायपालिका की ओर मुड़ कर देखते हैं तो ज्ञात होता है कि कोई गुनहगार कभी न्यायालय में न्यायमूर्त्ति (मजिस्ट्रेट) के एकदम समक्ष खड़ा नहीं हो सकता। उसे सविनय, एक ओर (तिर्यक) दिशा में खड़े होकर अपना गुनाह प्रकट कर न्याय की याचना करनी पड़ती है। काश! यदि गुनहगार क्रोध या अहंकार में न्यायमूर्त्ति का रूब-रू करता है तो न्यायमूर्त्ति का अपमान होता है।

जब लोक में इस प्रकार की मर्यादाएं हैं तब पारलौकिक सुखेच्छुओं को जैन बादशाह तीर्थंकर के दरबार में कितना विनम्र और मर्यादित आना चाहिए इसका ख्याल स्वतः किया जा सकता है। फिर प्रश्न उठता है कि दर्शन कैसे करें? तो सुनिए –

यदि प्रतिमा पूर्वाभिमुखी है तो प्रतिमा के दाहिने हाथ की ओर खड़े होकर दर्शन/पूजन करें और यदि प्रतिमा उत्तराभिमुखी है तो दर्शन/पूजन वाम हस्त की ओर खड़े होकर करें। दक्षिण और पश्चिम महादिशाओं सहित चार विदिशाओं आग्नेय, नैऋत्य, ईशान और वायव्य दिशाओं की ओर मुख करके दर्शन/ पूजन न करें। पूजन प्रसंग में इसे सहेतुक उल्लिखित किया गया है। इस प्रकार विधि पूर्वक किया गया जिन दर्शन अचिन्त्य फल प्रदाता है और पाप प्रणाशक है। महाभारत में नारायण श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं – 'नंदीश्वरस्य मूर्ति दृष्ट्वा मुच्यते किल्विषः' अर्थात् नंदीश्वर द्वीप की प्रतिमा के दर्शन से पाप प्रनष्ट हो जाते हैं। महानुभाव! इसी सन्दर्भ में सुनिए –

प्रभु दर्शन से नूर मिलता है,
गमे दिल को सरूर मिलता है ।
जो इनके दर पर आता है,
उसे कुछ-न-कुछ जरूर मिलता है ।।

अस्तु; 'सर्वेषां शुद्धीनां मनः शुद्धि गरीयसी' को ध्यान में रखते हुए 'बादशाह जैन के दरबार' में आना प्रत्येक श्रावक का महत्वपूर्ण दायित्व है। जो उसकी अस्मिता को भी यथावत् रखता है। जहां मन शुद्धि होगी वहां अन्तरंग तप सूचक विनय भाव अवश्य होगा। शिर पर वस्त्र होगा। खुले या नंगे शिर दर्शनार्थ आना

अविनय है। चौरासी आसादनाओं में एक आसादना है। मन्दिर में प्रवेश करते समय सारी देह यष्टि ऐसी नम्रीभूत होना चाहिए मानों झूलता हुआ बेंत का वृक्ष हो।

जिनेन्द्र-अर्चना का साक्षात्फल

जिनेन्द्र भगवान के मुख की ज्योत्स्ना/लावण्य का दर्शन करने से दोनों नयनों का 'अमृतांजन' हो जाता है। जैसे कुशल वैद्य रसायन द्वारा नेत्रों में अमृत आंजकर मल विगलित कर नेत्र-ज्योति प्रकट करता है। वैसे ही गरलापहारिणी जिनेन्द्र वीतराग मुद्रा के अवलोकन से, उनकी दृष्टि से दृष्टि का सम्मेलन करने से उनके पुण्य परमाणुओं द्वारा नेत्र ज्योति तेज हो जाती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है – जब आचार्य पूज्यपाद स्वामी की नेत्र ज्योति विलीन हो गई तब उन्होंने शान्तिनाथ जिनालय में शान्तिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए 'शान्त्यटष्क' शान्ति भक्ति की रचना की और जैसे ही उन्होंने कहा – 'कारूण्यान्मम भाक्तिकस्य च विभो दृष्टिं प्रसन्नां कुरू' अर्थात् हे भगवन्! मुझ भक्त पर भी करूणा/दया करके दृष्टि प्रसन्न कीजिए। इतना कहते ही अचानक/यकायक उनके 'नयन युगल' ज्योर्तिमान हो उठे।

सर्वत्र भावों की ही प्रधानता है। भावों से ही फल प्राप्ति होती है अन्यथा प्रतिमा तो पाषाण की ही है, वह दे भी क्या सकती है। सन्त तुकाराम जी के शब्दों में –

पाषाण देव पाषाण पायरी,
पूजा एका एकावरी पाय हेवो ।
सार तो भाव सार तो भाव,
अनुभवी देवतेचि झाले ।।

भगवन्मूर्ति पत्थर की ही है और पैड़ी भी पत्थर की ही है किन्तु एक को पूजते हैं, दूसरे पर पैर रखते हैं। सार वस्तु भाव है। वही भाव अनुभव में भगवान होकर प्रकट होता है।

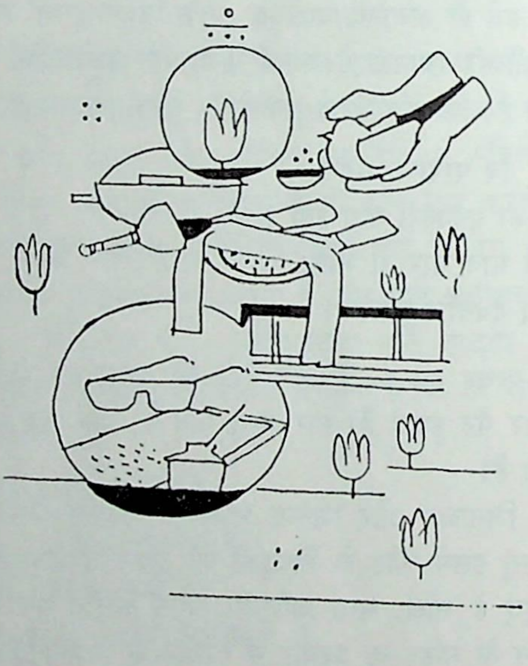
सचमुच ही जिनालय और जिनेन्द्र भक्ति से बढ़कर दूसरा कोई उत्तम पुण्य कार्य नहीं है। अस्तु इसमें संदेह के बिच्छुओं को अपने जहरीले डंक मारने के लिए अवसर न देते हुए हे भोले, भव्य प्राणियों! अपने कर्त्तव्य पथ से दूर नहीं जाइए और बादशाहे जैन के महिर वा दरबार में दरबार के नियमानुकूल बाअदब अवश्य आइए।

⌘ ⌘

मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष के षट् फल

जिनेन्द्र पूजा गुरुपर्युपास्ति, सत्वानुकम्पा शुभपात्रदानम् ।
गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य, नृजन्मवृक्षस्य फलान्यामूनि ।।

जिनेन्द्र पूजा, गुरू उपासना, जीव दया, सुपात्रदान, गुणों के प्रति अनुराग और शास्त्र श्रवण ये मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष के षट्फल हैं। इन्हें पाने के लिए मनुष्य को प्राणपण से अपनी श्रद्धा को एक बिन्दु पर केन्द्रित कर उद्यमी होना चाहिए। श्रद्धा के आलोक में जो सत्य उपलब्ध होता है, वह बुद्धि और तर्कवाद के आलोक में नहीं हो सकता। अकर्मण्य मनुष्य के जीवन वृक्ष पर ये फल नजर नहीं आते उसकी जीवन बगिया सूनी ही रह जाती है।



प्रथम फल जिनेन्द्रार्चना

आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि जिनेन्द्र पूजा सम्यक्त्व-वर्धिनी क्रिया है। इसके आचरण से मानव मन पवित्र होता है। सुसुप्त शक्तियों का जागरण होता है और कदम प्रगति पथ की ओर आगे बढ़ते हैं। जिनेन्द्र पूजा जीवन का टार्चवेअरर;

मशाल है। क्या आप ऐसा नहीं कर सकते कि इस वीतरागता के टार्चबेअरर को अपने हाथ में ले जीवन पथ पर आगे-आगे बढ़ते हुए उसकी रोशनी में अपनी बुराइयों को देखते, जूझते अपना निर्मलीकरण करें? पूजा चित्तवृत्तियों के निर्मलीकरण का सर्वोत्तम लोक सुलभ उपाय है, जो हमें सारी बुराइयों से उबार सकता है।

जिनेन्द्र पूजा परायण कोई पुमान आचार्य समन्तभद्र को नहीं मिला इसलिए उलझे पुमानों को सुलझे हुए पूजा परायण एक मेंढ़क का उदाहरण देना पड़ा। जब भगवान महावीर का समवशरण राजगृही के वैभार पर्वत पर आया था, उस समय का प्रसंग सर्वविदित है। एक लघुकाय मेंढक भक्तिभाव से भरा हुआ प्रभू पूजा के उद्देश्य से कमल पुष्प की एक पंखुडी मुख में ले फुदकता हुआ जा रहा था वैभारगिरि की ओर। मार्ग में श्रेणिक गज के पग तले आकर सदा-सदा के लिए शान्त हो गया। वह शान्त तो हो गया, परन्तु भविष्य के लिए इतिहास के कुछ पन्ने रंग गया। उसका मुकाम बदल गया। जिनेन्द्र पूजन के भाव थे। चित्त उनके ही चरण कमलों में आसक्त था फलस्वरूप उसने देवत्व प्राप्त किया।

'नाथ तेरी पूजा को फल पायो, तुरत स्वर्ग पद पायो'

एक अंतर्मुहूर्त में स्वर्ग पहुंचकर राजा श्रेणिक से पूर्व ही विशाल वैभव के साथ वीर प्रभु की पूजनार्थ प्रस्तुत हुआ। श्रेणिक का ध्यान अचानक ही आकृष्ट हुआ मेंढक के लांछन युक्त किरीट धारी देव के प्रति जो नति परायण पूजा के नारिकेल-सा अपना सिर उनके चरण मूल में रखे हुए था। महावीर से तत्काल प्रश्न किया – प्रभो! मेंढक के चिन्ह से चिन्हित किरीट धारी यह कौन-सा देव है? मेरा मन क्यों इसकी ओर आकर्षित हो रहा है? तब प्रभु ने आद्योपांत विशद व्याख्यान श्रेणिक के सम्मुख रख दिया। यह है जिनेन्द्र पूजा की भावना का फल। फिर सोचिए! पूजा को सांगोपांग करने वाला कितने महान फल को प्राप्त होगा। अभिषेक को आदि लेकर पूजा के षडंग है। अभिषेक, स्थापन, आह्वान, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन।

द्रव्य की शुद्धि और श्रेष्ठता का अनुसरण भावों की शुद्धि और श्रेष्ठता करती है, अर्थात् जैसा द्रव्य होता है वैसे ही परिणाम हुआ करते हैं। महादेवाधिदेव त्रेलोक्येश्वर के श्री चरणों में श्रावक जन जो वस्तुएं समर्पित करते हैं वे उत्तम ही नहीं सर्वोत्तम होनी चाहिए एवं उनसे जुड़ा हुआ मानसिक चैतन्योपयोग भी निर्दोष, निर्लुब्ध, एवं उज्ज्वल हो तभी यथेष्ट फल प्राप्ति सम्भव है। आराध्य और आराधना सामग्री दोनों में ही स्थापना की जाती है। आराध्य देव द्रव्य और स्थापना निक्षेप से हमारे पूज्य हैं। पूजन सामग्री में भी स्थापना निक्षेप से कल्पना की जाती है। सामान्य

नदी, कूप या वापिका के जल में यह क्षीरोदधि समुद्र का जल है। यह गंगा महानदी का जल है। यह जल मुनि मन सम उज्ज्वल है। ऐसी कल्पना करते हैं। जल की तरह शेष द्रव्यों में भी स्थापना, कल्पना करते हैं तब कल्पना या स्थापना में कृपणता को अवकाश नहीं होना चाहिए। जब श्रावक जल, चन्दन, अक्षत पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ्य चढ़ाता है तब उसे एक 'दिव्य' शब्द और बोलकर चढ़ाना चाहिए; अर्थात् दिव्य जलं, दिव्यचंदनं दिव्याक्षतान् (आदि) 'निर्वर्पामीति स्वाहा'।

इन दिव्याष्ट द्रव्यों को श्री चरणों में समर्पित करने के आचार्यों ने निम्न महाफल बतलाए हैं। परन्तु शर्त है चढ़ाने से पूर्व, चढ़ाते समय या चढ़ाने के पश्चात् किसी प्रकार की फलैषणा नहीं होनी चाहिए। निष्कांक्ष भक्ति ही सम्यक् फलप्रदात्री हुआ करती है।

जल – परम वीतराग के श्री चरणों के सम्मुख चढ़ाया गया कूप या नदी का दिव्य जल, जन्म, जरा और मृत्यु रूप महान व्याधियों की शान्ति कर समस्त पाप रूपी मैल का संशोधन करता है।

चन्दन – सौभाग्य सम्पन्न दिव्य वैक्रियक शरीर प्रदान करता है तथा अन्त में तीर्थङ्कर जैसे महासुगंधित शरीर प्रदान कर संसार ताप का उच्छेद करता है।

अक्षत – जिनेन्द्र के पाद-पंकजों में महा श्रद्धा से चढ़ाये गए स्वच्छ, अखण्डशाली अक्षय नौ निधि एवं चौदह रत्नों का स्वामित्व अर्थात् चक्रवर्तित्व पद प्रदान करते हैं। अखण्ड तन्दुल रूप अक्षत के प्रभाव से प्राणी सदा अक्षुब्ध अर्थात् रोग-शोक रहित निर्भय होता है। अक्षीण ऋद्धियाँ उसके चरणों का वन्दन करती हैं। एवं अन्त में वह भव्य श्रावक आत्मा के अक्षय, अव्याबाध सुख को प्राप्त होता है।

पुष्प – सुन्दर प्रासुक पुष्पों से पूजन करने वाला पूजक कमल के समान सुन्दर मुख वाला एवं तरूण युवतियों के नयन कमलों तथा दिव्य पुष्प की उत्तम मालाओं के समूह से समर्चित देह वाला कामदेव होता है।

नैवेद्य – ताजी और शुद्ध, विवेक पूर्वक बनाई गई नैवेद्य/चरू मनुष्य को शक्तिमान, कान्तिवान और तेज से सम्पन्न सौन्दर्य रूप समुद्र की बेला-वर्ती तरंगों से संप्लावित दिव्य देह प्रदान करती है। अर्थात् ऐसे प्राणी सूर्य, चन्द्र जैसे तेजस्वी अति सुन्दर शरीर के स्वामी होते हैं तथा उत्तम भोगों को प्राप्त होते हुए श्री सम्पन्न होते हैं।

दीप – जो सद्भक्त सम्यक् भावों के द्वारा अर्हदादि पंच गुरूओं के श्री चरणों में कपूर, धृत और तेल से प्रज्वलित और मन्द वायु के झकोरों से नाचते हुए दीप चढ़ाते हैं वे सद्भावों के योग से उत्पन्न हुए केवलज्ञान रूपी प्रदीप के तेज से समस्त जीवादिक पदार्थों के ज्ञाता अर्थात् केवलज्ञानी होते हैं। तथा सूर्य और चन्द्र

के समान ज्योतिर्मय शरीर पाते हैं क्योंकि दीप पूजा कान्ति-वर्धक है। एतदर्थ भगवान के दाहिने हाथ की ओर दीप दान रखकर पूजा करनी चाहिए।

धूप – धूप से उत्पन्न ध्रूम से आराधक की मनः शुद्धि के साथ देह शुद्धि तो होती ही है, साथ ही अनेक रोगों का शमन भी उस ध्रूम से हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह भव्यात्मा चन्द्र सम धवल कीर्ति से जगत्त्रय को धवल करने वाला अर्थात् त्रैलोक्य व्यापी यश वाला होता है। धूप; पूजक के लिए परम सौभाग्य-कारक होती है। अस्तु धूपदान प्रतिमा के बांये हाथ की ओर रखकर पूजन करना चाहिए।

फल – महा निर्वाण रूप इष्ट फल को प्राप्त करता है।

अर्घ्य – 'अर्घ्यं सर्व सिद्धयर्थं' – सभी द्रव्यों का समूह अर्घ कहलाता है और यह अर्घ सभी अर्थों/प्रयोजनों को सिद्ध करता है।

इनके अतिरिक्त जो मनुष्य मन्दिर में घंटा, ध्वजा, छत्र, चमरादिक भेंट करता है उनका फल भी अचिंत्य है।

घंटा – जिन मन्दिर में घंटा समर्पण करने वाला पुरूष घंटाओं के शब्दों से आकुल श्रेष्ठ कल्प विमानों में उत्पन्न हो सुर समूह से सेवित उत्तम-अप्सराओं के मध्य क्रीड़ा करता है।

ध्वजा – विजय पताका का प्रतीक है। इन विजय ध्वजाओं का दाता संग्राम के मध्य भी विजयी होता है। साथ ही षड् खण्ड रूप भरत क्षेत्र का निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है। ये ध्वजाएं माला, मृगेन्द्र, कमल, ध्वज, शुक, गज, वृषभ, रथ, मयूर और हंस इन दस प्रकार के चिन्हों से चिन्हित होती है। इन्हें पालि ध्वज कहते हैं।

छत्र – छत्र दान करने से दाता पुरूष शत्रु रहित हो पृथ्वी पर एक छत्रराज्य करता है।

चमर – चमर के दान से स्वर्गों में स्वयं चमर समूह से परिवीजित किया जाता है। अर्थात् चमरधारी वेणु आदि देवों एवं अप्सराओं द्वारा उसके ऊपर चंवर ढौरे जाते हैं।

इनके अतिरिक्त देवालय में वन्दनवार, चन्द्रिका (चंदौवा), अष्ट मंगल द्रव्य, शास्त्र, जिनवाणी वस्त्र, दीपदान एवं अन्य उपकरणों से प्रथमानुयोग का आख्यान करने वाली वैराग्य वर्धक तथा शिक्षाप्रद चित्रावलियाँ (भित्तिचित्र) चित्रित कराने वाला भव्य पुरूष 'विपुल वैभव' को प्राप्त होता है। उसके पापों की हानि होती है। जिनदेव की आरती सम्यक्त्व का उद्योतन करती है – 'आरत्तिउ दिण्णउ जिणहं उज्जोयइ सम्मत्तु' ऐसा वसुनन्दि श्रावकाचार में दृष्टव्य है।

इन सर्व क्रिया-कलापों से अनुरक्त-उपयोग सम्यग्दर्शन की विशुद्धि को बलवती

बनाता है। इस दर्शनविशुद्धि से तीनों लोकों में हलचल पैदा कर देने वाला तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध होता है। यह सम्यक्त्व वर्धिनी क्रिया है।

गुणों में अनुराग वश जिनेन्द्र की पूजा की जाती है और गुणानुराग का अपर नाम ही तो भक्ति है जिसमें सर्वाङ्ग हार्दिकता आपेक्षित है। पूजा करते समय इतना ध्यान अवश्य रखें कि सामग्री निष्पाप साधनों से तैयार की गई हो। प्रासुक जल से सावधानी पूर्वक बनाई गई हो, आरम्भ की बहुलता न हो।

प्रसंग वश पूजा के भेदों और फलों को बतलाना उचित समझता हूँ। पूजा तीन प्रकार की होती है –

भृत्यैश्च वन्धुभिः पूज्यैरिन्द्रै र्जिनपते कृता ।
तामसी राजसी पूजा सात्त्विकी भवति ध्रुवम् ।।

सेवकों-नौकरों से जो पूजा कराई जाती है वह है तामसी पूजा, सम्माननीय या बंधु वर्ग से जो पूजा कराई जाती है वह राजसी पूजा एवं जो इंद्रों द्वारा अर्थात् स्वयं में इन्द्र की स्थापना करके जो पूजा की जाती है वह है सात्त्विकी पूजा। इन तीनों पूजाओं का फल क्रमशः दस उपवास, सौ उपवास एवं स्वर्गश्री और मुक्तिश्री के समागम से प्राप्त होने वाला अनन्त सुख है।

पूजा सर्वार्थ साधिनी

पूजा करते समय दिशाओं का विशेष ख्याल/ध्यान रखें क्योंकि धार्मिक, वैज्ञानिक एवं स्वास्थ्यिक दृष्टिकोण से दिशाएं बड़ी प्रभावक हुआ करती हैं; एतदर्थ आयुर्विद् एवं वैज्ञानिक जैनाचार्यों ने श्रावकों को सावधान करते हुए कहा है –

तत्रार्चकः स्यात्पूर्वस्यामुत्तरस्यां च सन्मुखः ।
दक्षिणस्यां दिशायां च विदिशायां च वर्जयेत् ।।

पश्चिमाभिमुखः कुर्यात्पूजां श्रीमज्जिनेशिनः ।
तदा स्यात्सन्ततिच्छेदो दक्षिणस्यामसन्ततिः ।।

आग्नेयां च कृता पूजा धनहानिर्दिने दिने ।
वायव्यां सन्ततिर्नैव नैऋत्यां च कुलक्षयः ।।

ऐशान्यां नैव कर्त्तव्या पूजासौभाग्यहारिणीः ।
पूर्वस्यां शान्तिपुष्ट्यर्थमुत्तरे च धनागमः ।।

अर्थात् पूजन अथवा दर्शन करने का इच्छुक भव्य जीव पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके ही पूजन या दर्शन करे। प्रतिमा के सम्मुख होकर पूजन न करें।

दक्षिण, पश्चिम और चारों विदिशाओं की ओर मुख करके दर्शन-पूजन करना निषिद्ध है क्योंकि पश्चिम दिशा की ओर मुख करके पूजन-दर्शन करने वाले आराधक की सन्तान का उच्छेद अर्थात् मृत्यु हो जाती है। दक्षिणाभिमुख पूजन कर्ता के सन्तान ही नहीं होती है। आग्नेय की ओर पूजा करने से धन की हानि होती है! वायव्य दिशा की ओर मुख कर पूजन करने से कुल का क्षय होता है। ईशान की ओर मुख कर की जाने वाली पूजा सौभाग्यहारिणी होती है। पूर्व मुखी पूजा से विशेष शान्ति और पुष्टि प्राप्त होती है एवं उत्तर दिशा की ओर की जाने वाली पूजा से विशेष धन की प्राप्ति होती है। अस्तु; विवेकी श्रावकों को शान्ति और पुष्टि की इच्छा से पूर्व की ओर तथा धनागम की आकांक्षा से उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर पूजन करना चाहिए।

श्री मज्जिनेन्द्र की पूजा सम्यक्त्व रूप वृक्ष को सींचने के लिए मेघमाला के समान है। भव्यात्मों को ज्ञान प्रदान करने वाली मानों साक्षात सरस्वती ही है। शिवपुर के उतुंग महल की सोपान पंक्ति है। निष्कपट निष्कांक्ष चित्त से हर्ष एवं विधि पूर्वक की जाने वाली पूजा सर्व दुखापहारिणी है। दिशाएं भी उनके मनोरथों को पूर्ण करती हैं। इसलिए तो आचार्यों के अमर वाक्य अभी भी अनुगुंजित हैं 'ऋद्धिवृद्धिकरी पूजा, पूजा सर्वार्थसाधिनी।'

पूर्वाह्ने हरते पापं मध्याह्ने कुरुते श्रियं ।
ददाति मोक्षं सन्ध्यायां जिनपूजा निरन्तरं ।।

निरन्तर प्रभात में की गई पूजा पाप को दूर करती है। मध्यान्ह में की गई पूजा लक्ष्मी को देती है तथा संध्याकाल में की गई पूजा मोक्ष प्रदान करती है। अस्तु श्रावकों के दिग्दर्शक आचार्य उमास्वामि पूजन के सम्बन्ध में भरपूर प्रकाश डालते हुए कहते हैं। श्रावक को स्नानपूजा, विलेपन पूजा, पुष्पपूजा, सुगन्धपूजा धूपपूजा, प्रदीपपूजा, फलपूजा, तन्दुलपूजा, पत्रपूजा, पुंगीपूजा, नैवेद्यपूजा, जलपूजा, वसनपूजा, चमरपूजा, छत्रपूजा, नृत्यपूजा, वादित्रपूजा, गीतपूजा, स्वस्तिकपूजा एवं कोशपूजा अर्थात् व्रतभण्डार में दानादि देना इत्यादि इक्कीस प्रकार की पूजाओं में से जो जिसे प्रिय हो अपनी पात्रता और परिस्थितियों के अनुकूल हों उन्हें वह पूजा भावपूर्वक करके अपने पाप-मल का प्रक्षालन कर लेना चाहिए।

पूजन के सम्वन्ध में विवेक पूर्वक क्रियाएं करना श्रावक का अपना महत्वपूर्ण दायित्व है। 'पूजा सावद्य है, उससे पापास्रव होता है' ऐसा विकल्प भी श्रावक को स्वप्न में भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि 'सर्वास्रव निरोधिनी पूजा' ऐसे आचार्यों के उवाच मिलते हैं। कितना अकाट्य प्रमाण है – यदि केवल अकेला विष खाया जाए तो वह प्राणियों का प्राण विनाशक होता है किन्तु यदि वही विष कालीमिर्च आदि

विष घातक रसायनों के साथ खाया जाए तो प्राणियों के जीवन का कारण होता है। उसी प्रकार कुटुम्बियों के पोषण एवं भोगों के लिए जो आरम्भ होता है; वह पापों का उपार्जन करता है परन्तु दान पूजादिक शुभानुष्ठानों में किया गया आरम्भ सदा धर्म का ही कारण होता है। हाँ उसमें हिंसा का लेश अवश्य स्वीकृत है जो है अमृत सरोवर में एक बिन्दु के बराबर। विचारणीय बिन्दु हैं जो जिनेन्द्रपूजा सर्व दुःखों की विनाशक है क्या वह पूजा पूजन विधि में होने वाले अल्प पापों को नष्ट नहीं करेगी? जो लोग पूजा को सावद्य कहते हैं उनके प्रति यह श्लोक प्रश्न चिन्ह बनकर खड़ा है।

सारंभइं ण्हवणाइयहं जे सावज्जं भणंति ।
दंसणु तेहि विणासियउ इत्थु ण कायउ भंति ।।

अर्थात् जो अभिषेक पूजा आदि के समारम्भों को सावद्य/दोषपूर्ण कहते हैं उन्होंने सम्यग्दर्शन का नाश कर दिया इसमें कोई भ्रान्ति नहीं।

एक प्रश्न और शेष रह जाता है कि गन्धोदक क्यों और कहाँ लगाना चाहिए? समाधान देते हुए महर्षि वासुपूज्य दानशासन में कहते हैं।

'दृष्टिज्ञानविशुद्धयेऽर्चितजलं दृष्टिद्वये सिंच्यते'

दोनों आँखों में गन्धोदक लगाने का प्रयोजन यही है कि हमारे सम्यग्दर्शन की विशुद्धि हो। इन्हीं पवित्र भावनाओं के साथ श्रावक को दैनिक कर्त्तव्यों का अनुदिन अनुपालन करना चाहिए।

आचार्य पद्मनंदिजी कहते हैं जो जीव श्रद्धा-भक्ति से भगवान जिनेन्द्र का न दर्शन करते हैं, न पूजा करते हैं, और न ही उनकी स्तुति करते हैं उनका जीवन निष्फल है उनके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है।

द्वितीय फल गुरोपासना

ज्ञान, ध्यान और तप में संलग्न निर्ग्रन्थ गुरूओं की सम्यक् रीत्या परिचर्या, वैय्यावृति का नाम है गुरू-उपासना। जो कि मन से स्मरण, वचन से स्तुति और काया से सेवा के रूप में की जाती है। अनुकूल आचरण से युक्त निश्छल मनोवृत्ति से गुरू के मन में प्रवेश कर राजा की तरह उन्हें अपने अनुकूल करना अर्थात् दृष्टि प्रसाद प्राप्त करना, निरन्तर विनय से अनुरक्त करना। गुरूओं के दिखते ही उठकर खड़ा होना, उनका आगमन होते ही सम्मुख जाना, मस्तक पर अंजुलि रखकर स्वयं आसन पर आसीन कराना, भक्ति-भाव से नमस्कार करना, आदरपूर्वक सेवा करना,

उनके जाने पर पीछे चलकर विदा करना यह है गुरू-उपासना का क्रम। गुरू-उपासना से, उनकी प्रसन्नता के प्रसाद से उपासक को केवल ज्ञान रूपी नेत्र प्राप्त होता है। जो गुरू की उपासना नहीं करते वे सूर्य के रहते हुए भी अंधेरे में रहते हैं। उनके अज्ञान को दिवाकर भी दूर नहीं कर सकता। जिस प्रकार प्रकाश के बिना मनुष्य मार्ग को नहीं देख सकता उसी प्रकार धर्मार्थी गुरू के आलोकाभाव में धर्म मार्ग नहीं देख सकता। जो नित्य गुरू की उपासना करते हैं उनका चैतन्यदीप कषाय वायु से संस्पर्शित नहीं होता। षोडश कारण पूजा में कहा भी है –

'जो आचारज भक्ति करे है, सो निर्मल आचार धरे है'

जीवन की 'संस्कार धानी' गुरू उपासना ही है। जो हमें आध्यात्मिक सौंदर्य की नई ऊर्जा, नई उष्मा, नवीन ताजगी की अनुपम सुषमा प्रदान करती है। गुरू; सृष्टि में ज्ञान, आचरण एवं विचारों की खूबसूरत मीनार निर्मित करते हैं। जिससे मानव रूपी शिष्य समाज अंधकार की घाटियों से निकलकर आलोक के प्रकोष्ठ में प्रवेश करता है। जो अखिल विश्व को सम्पूर्ण संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर, संकुचित स्वार्थों से पृथक कर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के मखमली वातास में ले जाते हैं वे ही सच्चे अर्थों में गुरू हैं। गुरूवाणी के माध्यम से अनुभव की आंखें खुलने के बाद उनमें दिव्य ज्योति आ सकती है। 'गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम्।' सच है – गुरू समागम में जिनवाणी, जिनदेव और जिनगुरू तीनों ही मिल जाते हैं। अस्तु; संयम वर्धन, वैराग्योद्भूति एवं आत्म शान्ति के लिए 'तप निलय' गुरू की संनिधि ही श्रेयस्कर है। वे भाग्यशाली हैं जिन्हें गुरूकृपा प्राप्त है।

शकुन शास्त्र में जैसे हंस, भारद्वाज पक्षी, पूर्णकलश, गज, कन्या के दर्शन शुभ-निमित्तों के सूचक हैं वैसे ही जिनेन्द्र मुद्रांकित गुरू का दिगम्बर वेश सकल शुभ-निमित्तों का सूचक है।

समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है 'गुरू अर्थात् तपोनिधि; को प्रणाम करने से उच्च गोत्र, आहारादि दान देने से भोगोपभोग की सामग्री, उपासना करने से पूजा-प्रतिष्ठा, भक्ति से सुंदर रूप तथा स्तवन करने से कीर्ति की प्राप्ति होती है।' जो गुरू के समीप में न शास्त्र श्रवण करते हैं और न उनको हृदय में धारण करते हैं, न ही उनका दर्शन करते हैं। उनके न तो कान हैं, न हृदय, न ही नेत्र हैं। वे बहरे, असंज्ञी और अंधे हैं ऐसा मैं समझता हूँ।

तृतीय फल है जीव दया

जो धर्म रूपी महल की नींव है। धर्म पादप की जड़ है। ऐसे दया धर्म की रक्षा के लिए ही दुनियां में अनेक तरह के नियमों-उपनियमों का प्रावधान है। क्या कभी

आपने बिना नींव के महल की स्थिरता देखी है? मनुष्य में सम्पूर्ण गुण जीव दया के आश्रय में उसी तरह रहते हैं – जैसे पुष्पों की लड़ियां सूत्राश्रित रहती हैं। गुण-समुदाय जीव दया के आश्रय से स्थिर हैं। यदि माला के मध्य का धागा टूट जाता है तो उसके पुष्प बिखर जाते हैं उसी प्रकार दया के अभाव में या दया का धागा टूटने पर सम्यग्दर्शनादि सारे गुण बिखर जाते हैं। जब छाछ से आर्द्र भूमि पर तृण अंकुरित होते दिखलाई नहीं पड़ते तब क्या दयार्द्र मनोभूमि पर किसी के द्वारा लगाए गए दोषांकुर उत्पन्न हो सकेंगे?

जिन गृहस्थों का हृदय जिनागम के अभ्यास से ओतप्रोत हो चुका है, वे ही गृहस्थ वास्तव में धर्मात्मा हैं। दूसरे प्राणियों को कष्ट देने से ही पाप नहीं होता, बल्कि प्राणी की हिंसा के विचार मात्र से आत्मा दूषित होकर पापयुक्त हो जाती है। घटना का घटक अंदर ही है बाहर नहीं। जिन खर-नखरदार पंजों से मार्जार चूहों का शिकार करती है उन्हीं पंजों से कभी अपनी प्राण प्यारी संतान झेलती है। जिन पंजों में प्यार पलता है, उन्हीं पंजों में काल छलता नजर आता है। स्वतः सिद्ध है पंजे न स्वयं हिंसक हैं, न अहिंसक हैं। प्राण का पलना, काल का छलना अन्तर घटना है। बाहर तो मात्र अभिव्यक्ति है, तरंग यात्रा है। इसी पर आधारित है सारा घटना चक्र। वही विश्व को बनाता भुक्ति, वही दिलाता मुक्ति।

दया आत्मबल है। जिनमें दया नहीं होती उनमें प्रेम भी नहीं होता। जिसके पास दया धर्म है, उसके ऊपर आकाश भी निरंतर रत्नवृष्टि करता है। किसी ने कहा है – 'जिन प्रेम कियो तिन प्रभु पायो।' जैसे सत्य से भव्यतर कुछ नहीं है वैसे दया से दिव्यतर कुछ भी नहीं है। इसी दया के दृढ़तम आधार पर महान मनीषी अपना शाश्वत उत्कर्ष खड़ा करते हैं। सैकर कहते हैं – दया ऐसी दासी है कि वह अपने मालिक को भिखारी की हालत में मरते नहीं देख सकती। जैसे चंद्रमा चाण्डाल के घर-झोपड़े को भी रोशनी देता है वैसे ही दयालु हृदय क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी पर दया की वृष्टि करते हैं। जो शक्तिहीन हैं वे ही दयाहीन होते हैं, जो दयालु होते हैं वे बलिष्ठ माने जाते हैं। दयालुता चारित्र को सुंदर बनाती है। माता के समान चरित्र की सुरक्षा करती है और अपनी बढ़ती हुई उम्र के साथ चेहरे को भी सुंदर बना देती है। किन्तु जब दया का देवदूत दिल से दुत्कार दिया जाता है और आंसुओं का फव्वारा सूख जाता है तब इन्सान रेगिस्तान की रेत में रेंगते हुए सर्प की मानिंद हो जाता है। दया की महिमा सभी धर्मग्रन्थों में गाई गई है।

संसार वल्लरी का उच्छेदक चतुर्थफल सुपात्र दान

मनुष्य के जीवन में भोग और रोग दोनों रहते हैं। जो भोग और दान की भेद

रेखा को नहीं जानता वह केवल संचय ही करता है किन्तु उस संचय की भी जहां सार्थक समाप्ति नहीं वहां सिर्फ लज्जा है।

श्रावक का कर्त्तव्य है वह अपने न्यायोपात्त धन का कुछ अंश दान के रूप में अवश्य निकालें। गृहस्थाश्रम में गृह सम्बन्धी आरम्भ, उद्योग, व्यापारादि में अर्जित पाप को अतिथि के लिए दिया गया दान उसी प्रकार धो देता है जैसे रूधिर या मल को जल।

'रक्तेन दूषितं वस्त्रं न हि रक्तेन परिशुद्धयति'

रक्त से दूषित वस्त्र रक्त के द्वारा क्या कभी धोया गया है? यदि नहीं, तो पाप द्वारा पाप कैसे निजर्रित किए जा सकेंगे?

दान को चार कोटियों में विभाजित किया गया है – आहार, औषधि, अभय और उपकरण। कहीं-कहीं आचार्यों ने अभयदान के स्थान पर आवास (वसतिका) और ज्ञान/शास्त्रदान के स्थान पर उपकरण दान को स्वीकृत किया है। इन आहारादि चारों दानों का अपने-अपने स्थान पर अपना-अपना महत्व है। औषधि विज्ञान पर कल्याणकारक नामक ग्रंथ लिखा गया है। उसमें चारों दानों का महत्व इस प्रकार प्ररूपित किया है। आहार दान – जब तक पेट में भोजन रहता है अथवा जब तक पात्र पुनः क्षुधातुर नहीं होता तब तक अपना प्रभाव दिखलाता है अर्थात् दाता उतने समय तक ही प्रीति पात्र होता है चूंकि आहार दान से उसकी संयम साधना होती है, वह अध्ययन में सहायक होता है। इसलिए कहा है -- जिसने रत्नत्रयधारी साधु को आहार दिया उसने उसे रत्नत्रय प्रदान किया ऐसा समझिए। औषधदान तब तक प्रभावकारी है जब तक पुनः रोगोत्पत्ति न हो। अभयदान प्राणी जब तक पुनः भयभीत न हो अथवा जीवन पर्यन्त अपना प्रभाव दिखलाता है किन्तु ज्ञानदान ही एक ऐसा दान है जो जीव को भव-भवान्तर तक साथ देता है। इतना ही नहीं कैवल्योपब्धि में भी सहायक होता है। अमितगत्याचार्य के शब्दों में शुद्ध सम्यग्दर्शन रूपी जल से सींचा गया यह पात्रदान रूप महावृक्ष सज्जन पुरूषों का जो उत्तम फल देता है उसका मैं व्याख्यान नहीं कर सकता हूँ क्योंकि जो आकाश दिनमणि सूर्य के द्वारा प्रकाशित होता है, वह दीपकों के द्वारा किसी भी प्रकारेण प्रकाशित नहीं हो सकता। अस्तु; आप गृहस्थ हैं, कमाते हैं तो दान भी दें। दान और त्याग समाजवाद के सूत्र हैं। इसी सूत्र पर समाज व्यवस्था संतुलित रहती है।

जल संग्रह से मेघ श्याम्ल हो जाते हैं किन्तु जब वे जल दान कर देते हैं तो शुभ्र-स्वच्छ हो जाते हैं। धन संग्रही श्यामल और दान करने वाला शुभ्र मेघवत् होता है। दान का साक्षात्फल तो यह है कि दान आदमी को इस लायक बना देता है कि उसे दान न लेना पड़े। दान वशीकरण मंत्र है इससे धन की श्रीवृद्धि होती है।

दान में विवेक आवश्यक

दान देते समय सत्पात्र, अपात्र, कुपात्र का विवेक करना नितान्त आवश्यक है। सत्पात्र में गया दान वटवृक्ष के बीज की भांति विशाल छाया और अगणित फलों का दाता होता है। एक कुएं का जल गन्ने में गया मीठा हो गया, गाय के स्तनों में गया दुग्ध बन गया, सर्प के मुख में गया तो प्राण घातक जहर बन गया। सुपात्र दान का फल दर्शाते हुए कहा गया है –

सुपात्र दानेन भवेत् धनाढ्यां, धन प्रकर्षेण करोति पुण्यं ।
पुण्याधिकारी दिवि देवराज, पुनरेव भोगी पुनरेव दानी ।।

सुपात्र दान से दानी धनाढ्य होता है। धन की प्रकर्षता से पुनः दानादि पुण्य कार्य करता है। पुण्याधिकारी स्वर्ग का इंद्र होकर वहां भोगों का उपभोग कर पुनः मनुष्य-भव में भोग करता हुआ पुनः दानी होता है क्योंकि ठीक ही है बादलों का जल सीप में ही मोती बनता है। कुपात्र को दान देने से दारिद्रय घर में डेरा डाल देता है। दरिद्रता के दोष से दूषित प्राणी पापाचरण करता हुआ पापाधिकारी बन नरक में महाप्रयाण करता है। वहां से निकलकर पुनः दरिद्री होता हुआ पुनः भोगी होता है।

अपात्र में गया दान भस्म में हवनवत् व्यर्थ है अथवा यूं कहिए ऊसर भूमि में वपित बीज के समान निष्फल है। पाप बंध का ही प्रबल कारण है। अपात्र का दान श्रावक के सम्यग्दर्शनादि गुणों को उसी प्रकार दूषित करता है जिस प्रकार स्वच्छ नीर विषैले पात्र का संयोग पा विषैला हो जाता है। अतः श्रावक के लिए यह विचारणीय प्रश्न है कि किसे, क्या, कब और कैसे दें? इस पर पूर्वापर सम्यक् विचार करें। विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से ही दान में विशेषता आतीं है। जिससे स्व, पर का अनुग्रह हो वहीं दान दे। जिस गृहस्थाश्रम में अतिथियों को दान नहीं दिया जाता वह गृह नहीं पाषाण नौका है जो स्वयं डूबती है तथा आश्रित लोगों को भी डुबा ले जाती है। जैसे सूर्य के शरीर से अन्धकार दूर भागता है तद्वत उत्तम पात्र दान से लोभादि कषायें एवं पाप प्राणी से दूर भागते जाते हैं। इसलिए दान की महिमा और स्वरूप के ज्ञाता सज्जन पुरूषों के लिए अपने पुत्र की मृत्यु का भी दिन उतना बाधक, दुखप्रद नहीं होता जितना कि मुनिदान से रहित दिन।

सूनोर्मृतेरपि दिनं न सतस्तथा स्याद्,
बाधाकरं वत यथा मुनिदान शून्यं ।

अतः प्रत्येक श्रावक का श्रावकोचित कर्तव्य है कि वह गृह विमुक्त अतिथि को श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विवेक, क्षमा, सत्य और अलुब्धता इन सप्त गुणों से

युक्त नवधा भक्ति अर्थात् प्रतिग्रहण, उच्चासन, पाद प्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मन, वचन, काय एवं एषणा शुद्धि पूर्वक आहार दान दे।

पांचवा फल गुणानुराग

गुण यानि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र एवं अनुराग का अर्थ है राग, वात्सल्य, पुरस्कार। सद् गृहस्थ का पुरस्कार ही गुणानुराग कहलाता है क्योंकि वह शिवपथ गामी है, सतत् साधना निरत है, विश्वकल्याण से सदा उसका घट छलकता रहता है। गुणानुरागी बुलबुल की तरह है जो केवल बसंत की बात कहता है और बुरी बात उल्लू/दुर्जन के लिए छोड़ देता है। गुणीजनों को देखकर उसके हृदय में प्रेम की बदलियां उमड़ आती हैं। गुणानुराग एक ऐसा मित्र है जिसका आश्रय लेकर जीवन शान्ति से बिताया जा सकता है। इससे नित-नवीन बातें सीखने का सुयोग मिलता है, क्षितिज पर प्राणियों का प्यार मिलता है और पारलौकिक क्षेत्र में सुख-सुविधाओं का प्रबन्ध होता है। वस्तुतः गुणानुरागी इस नश्वर विश्व में अविनश्वर कीर्ति का विधान, कान्ति का कुलमन्दिर एवं सौन्दर्य का गम्भीर सागर है। गुणानुराग से आप्लावित हृदय केवल गुणों की ओर दृष्टि रखता है, दोष उसकी दृष्टि से ओझल रहते हैं। वह उपगूहन एवं वात्सल्य पूर्वक दूसरों के जीवन को संभालता है। इस प्रसंग में श्रेष्ठि जिनदत्त का गुणानुराग प्रशंसनीय, श्लाघनीय है।

प्रसंग इस प्रकार है – बिहार प्रान्त के पाटलिपुत्र का युवराज सुवीर कुसंगति वश सप्त व्यसनाभिभूत हो गया। ऐसे ही व्यसन व्यस्त चोर पुरूष उसके सेवक थे। उसी समय ताम्रलिप्त नगर में उदार महामना जिनेन्द्र भक्त श्रेष्ठि जिनदत्त रहता था। नामानुसार उसकी यश-कीर्ति सर्वत्र व्याप्त थी। धर्म और धर्मी में उनका निश्छल अनुराग था। उन्होंने सतमंजिले कक्ष पर भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा के ऊपर एक विशेष प्रकार का वैडूर्यमणि खचित छत्र लगा रखा था। कानों-कान यह बात सुवीर तक पहुंच गई। उसने अपने मित्र मंडल से कहा – क्या कोई सेठ जिनदत्त के जिनालय से उस मूर्ति को लाने में समर्थ है? 'सूर्य' नाम का चोर मेघ गर्जन करता हुआ बोला – यह मणि तो क्या, मैं इन्द्र का मुकुट मणि भी ला सकता हूं। बस फिर क्या था? बीड़ा उठाते ही उसने कपट का अवलम्बन लिया और एक देश रत्नत्रयधारी क्षुल्लक का वेश बनाकर कायक्लेश तप से काया को कृश कर अपनी यश-पताका दिगन्त में फहराता हुआ ताम्रलिप्त नगर आ पहुंचा।

जिनधर्मी व गुणानुरागी जिनदत्त का हृदय रत्नत्रय गुण समन्वित क्षुल्लक को देखकर श्रद्धा से भर उठा। ठीक ही है, गुण से अनुराग रखने वाला गुणी; गुणों से भिन्न नहीं होता जैसे नीलत्व से भिन्न नीलोत्पल। यही कारण था कि गुणानुराग वश

उस क्षुल्लक को जिनदत्त श्रेष्ठि ने अपने गृह चैत्यालय में स्थान दे दिया। अब तो क्षुल्लक की दसों अंगुलियां घी में थी। रोज सेठ के साथ तत्वचर्चा होती जिससे सेठ के मन में श्रद्धा क्रमशः दृढ़ीभूत होती गई। एक दिन क्षुल्लक से आज्ञा लेकर सेठ समुद्र यात्रा पर चल पड़ा। नगर के बाहर ही प्रथम पड़ाव था। अवसर के खोजी क्षुल्लक ने अवसर का लाभ उठाया। वह मध्य रात्रि में वैडूर्यमणि को छत्र से निकाल वस्त्र में आच्छादित कर भाग खड़ा हुआ, लेकिन मणि का तेज वस्त्र से छुप न सका। सच है; क्या कभी रूई में आग लपेटी जा सकती है?

कोतवाल और सिपाहियों ने उसका पीछा किया। अपने आपको बचाने में असमर्थ जानकर नगर के बाहर सेठ के चरणों में गिरकर गिड़गिड़ाते हुए प्राणों की भीख मांगने लगा। कोतवाल और सिपाहियों के शोरगुल से यद्यपि सेठ ने निर्णय कर लिया था कि यह चोर है परन्तु इस 'वेशधारी क्षुल्लक का उपहास' न हो जाए अन्यथा लोगों का गुणवान अर्थात् रत्नत्रय धारक पुरूषों पर से विश्वास उठ जायेगा, ऐसा सोचकर गुणानुराग वश बोले – अरे सिपाहियों! इन क्षुल्लक जी को परेशान क्यों कर रहे हो? मेरे कहने से यह मणिरत्न ला रहा था और तुम लोग उसे चोर समझ बैठे। सेठ के वचन श्रवणकर सभी शान्त व लज्जित हो गए। क्षुल्लक और सेठ को प्रणाम कर क्षमा याचना पूर्वक घर वापिस लौट गए। पश्चात् एकांत में सेठ ने चोर को बहुत समझाया। पुनः इस प्रकार की पुनरावृत्ति न हो ऐसी प्रतिज्ञा दिलाकर उसे छोड़ दिया। यह कहलाता है – गुणानुराग।

गुणानुरागी केवल गुण प्रशंसक होता है। वह गुणानुराग के रथ पर सवार हो शीघ्र शिव पत्तन को प्राप्त करता है। गुणानुरागी दरिद्र होते हुए भी सुशोभित होता है। किन्तु गुण-द्वेषी अनेक रत्न युक्त होता हुआ भी बेरूप है। जीर्ण-शीर्ण वस्त्र भी नेत्रवान की शोभा बढ़ाते हैं, लेकिन नेत्रहीन अंधे को स्वर्ग के अनुपम सौंदर्य शाली दिव्यालंकार भी सुशोभित करने में असमर्थ होते हैं। अतः श्रेष्ठि जिनदत्त जैसा गुणानुराग प्रत्येक मानव को प्राणिमात्र के प्रति रखना चाहिए, यही मानवीय कर्त्तव्य है। इससे सम्यग्दर्शन निर्मल और पुष्ट होता है।

शास्त्रश्रवण मानव जीवन के वृक्ष पर लगा हुआ अंतिम फल

मन भावों के उतार-चढ़ाव की परेशानियों से उद्वेलित न हो, सदा संतुलित रहे; इसके लिए तत्वज्ञान की महती आवश्यकता है। लेकिन ध्यान रहे! उसमें संदेह को अवकाश न हो, क्योंकि संदेह-ज्ञान अनिर्णयात्मकता का प्रतीक है। संदेह होने पर व्यक्ति फिसल सकता है। इसलिए सोमदेव सूरि 'नीतिवाक्यामृत' में रेखांकित करते हैं कि 'वरमज्ञानं नाशिष्ट जन सेवया विद्या।' ज्ञान, विद्या लाभ गुरू-मुख से ही श्रेष्ठ

है। दुष्ट संगति से ज्ञान प्राप्त करने से तो अज्ञानी रहना श्रेष्ठ है। क्योंकि 'अलं तेनामृतेन यत्रास्ति विषसंसर्गः?' उस अमृत से क्या लाभ जो विष मिश्रित हो? समीर जिस सुरभित-दुरभित देश को स्पर्श करती है तदनुकूल सुगंधित-दुर्गंधित हो जाती है। ज्ञान भी जैसी संगति पाता है वैसा ही रंग लाता है। जैसा लोकप्रसिद्ध है कि खानि से उत्पन्न मणि संस्कार से अत्यंत उज्ज्वल हो जाती है वैसे ही गुरू-मुख से निसृत शास्त्र रूपी अग्नि से अशुद्ध मानव मणि दैदीप्यमान हो उठती है। शास्त्र श्रवण से मानव की ज्ञान चेतना विकसित होती है। ज्ञान ही निर्मल तीर्थ है। इसमें स्नान कर आत्मा पवित्र होती है। आत्मा रूपी रथ यदि अतिशय ज्ञान रूपी सारथी से रहित है तो क्लेश रूपी घोड़े उसे अभीष्ट स्थान तक नहीं ले जा सकते। और यदि जिसका ज्ञान शास्त्र श्रवण से अनुभवी सारथी हुआ है तो वह अपने कुशल सारथ्य द्वारा क्लेश रूपी घोड़ों को ही क्लेशित करता हुआ आत्मरथ को यथेष्ट स्थान तक पहुँचा देता है। जैसे आग बिना पाक नहीं वैसे ही गुरू मुख से शास्त्र श्रवण बिना मुक्ति नहीं मिलती। अतः शास्त्र श्रवण एक ऐसा विस्तृत वितान है जिसकी शीतल छत्र-छाया में अनेकानेक भव्य आत्माएं अपने अज्ञान ताप को शान्त कर सुखपूर्वक विश्राम करती हैं।

मनुष्य जीवन रूपी वृक्ष उक्त षट्फलों से सहित है। उस पर विवेक, दया, क्षमा, संतोष, सत्य, सदाचार, ज्ञान, शुभदान, निरहंकारता, पवित्रता, मित्रता, ऋजुता, कृतज्ञता, सुशीलता, शूरता, धैर्य, त्याग आदि गुण रूपी विहग सदा चहकते रहते हैं। किन्तु इन फलों से रहित जीवन वृक्ष पर कोई भी गुण रूपी पक्षी आना नहीं चाहता। जैसे विद्या मनुष्य को विभूषित करती है वैसे ही ये षट्फल मानव जीवन को सनाथ करते हैं। इन्हीं सम्यक् गुणों से मनुष्य गौरव को प्राप्त होता है।

भक्ति के उठते हुए सरगम

भक्ति के उठते हुए सरगम भक्त की चेतना को ऊर्ध्वमुखी बना, जीवन वीणा को स्वर-ताल दे, सब ओर से सुरभित, आनंदित कर जीवन में नित-नवीन ज्योति प्रदान करते हैं। भगवद् पद की ओर अग्रसर कर शाश्वत सत्ता से मिलाते हैं, जो कहलाती है शुद्ध अरहंत भक्ति।

अर्हद् भक्ति साता वेदनीय का प्रवन्ध कर जन-जीवन में सुख-शान्ति का वातावरण स्थापित करती है तथा आयु, विद्या, यश, बल और सम्मान की अभिवृद्धि करती है। जगत प्रसिद्ध हनुमान की रामभक्ति उन्हें हर स्थिति, हर घड़ी में वरदान सिद्ध हुई एवं धरती पर एक उत्तम आदर्श बन गई। जिसे आज सारा विश्व आचरण में ला रहा है। सचमुच ही अहंकार रहित भक्ति भक्त को भगवान बना देती है।

भक्ति के लिए कोई खास स्थान और तिथि की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि भक्ति श्रद्धा का शुद्ध रूप है। निर्ग्रन्थ संत हमारी श्रद्धा के जीवन्त केंद्र हैं। जहां मानव अपने विकारों को विसर्जित कर बुराईयों से बचता है। जिनके श्री चरणों की स्मृति मात्र से विघ्न, बाधाएं पलायन कर जाती हैं। डाकिनी-शाकिनी, भूत आदि बहिरंग दैहिक समस्त भय दिन रहते अस्त हो जाते हैं। सर्पों द्वारा सताया गया प्राणी स्वस्थ, निर्विष हो जाता है।

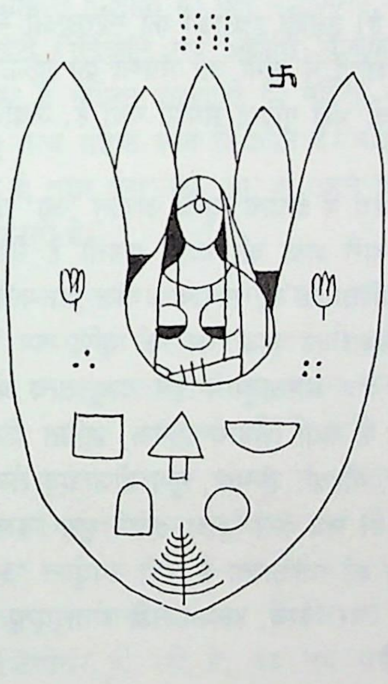
महाकवि सेठ धनञ्जय जब भगवद् भक्ति में लीन थे, उस वक्त उनके इकलौते बेटे को सर्प ने दंश कर दिया। वह मूर्च्छित हो गिर पड़ा। परिणामस्वरूप परिवार में कोहराम मच गया। सेठ भक्ति में तल्लीन थे और इतने तल्लीन कि उन्हें इस बात का जरा भी अहसास नहीं हुआ। उनकी अर्द्धांगिनी ने कुपित-दुखित हो मृतप्राय पुत्र को मन्दिर में ही भगवद् भक्ति करते सेठ के पैरों पर रख दिया। किन्तु धनञ्जय सेठ जरा भी विचलित नहीं हुए और दुगुने उत्साह से भक्ति में तल्लीन हो गए। उनकी निष्काम भक्ति ने पुत्र के विष को निर्विष कर दिया। सेठ की पत्नी अत्यंत प्रभावित हुई अपने स्वामी द्वारा निष्कांक्ष भक्ति का प्रभाव देख और अपने पति की आरती उतारने लगी।

महानुभाव! भक्ति सदा निष्कांक्ष ही होनी चाहिए। 'निष्कांक्ष भक्ति' भक्त को सदा वरदायिनी हुआ करती है। लोक प्रसिद्ध है कि आचार्य मानतुंग 48 तालों के भीतर राजा भोज द्वारा बंद किए गए थे किन्तु वे अपने प्रभु में इतने तल्लीन हो गए कि उन्हें अपने शरीर का भी भान नहीं रहा। भक्ति के प्रभाव से उनके शरीर की सारी बेड़ियां एवं 48 कोठरियों के समस्त ताले तड़-तड़ करते हुए टूट गए। भक्ति का माहात्म्य देख राजा भोज जिनधर्म से प्रभावित हुए बगैर न रह सके और उन्होंने उसी भरी सभा के बीच वीतराग धर्म को स्वीकार कर लिया। अतः आप भी भगवद् भक्ति कीजिए किन्तु बिना किसी अपेक्षा के; तो जीवन धन्य हो जाएगा। आचार्य समन्तभद्र जैसे तार्किक उद्भट्टाचार्य, आप्त की स्तुति रूपी सागर में अवगाहन करते हुए अपने पाप मल प्रक्षालित करते रहे। यदि मनुष्य अपने जीवन रूपी वृक्ष पर लगे देवार्चना, गुरोपासना, जीवदया, सुपात्रदान, गुणानुराग एवं स्वाध्याय (शास्त्र श्रवण) जैसे षट् महान मधुर फलों को भक्ति पूर्वक यावज्जीवन चखता रहे तो उसे किसी दुःख, संकट, विपत्ति की भयावनी छाया छू भी नहीं सकती। ऐसा भक्ति वन्त प्राणी ही सदा सर्वदा शान्तिमय सुखद जीवन का पात्र होता है।

⌘ ⌘

नारी : तरुवर की सघन छांव

क्षीर समुद्र की लहरों में अमृत और विष दोनों पाये जाते हैं। समीर के मृदु झोंके से उत्पन्न लहरें मृदुस्पर्शी एवं सुखावह होती हैं, किन्तु वे ही लहरें अनिल के तीखे झोंके एवं प्रचण्ड पवन अथवा चक्रवात जैसी संवर्तक वायु के सम्मिश्रण से विषतुल्य अर्थात् जीवनघाती हो जाती हैं। तद्वत् नारियों में भी अमृत यानि सुख देना एवं विष अर्थात् दुख देना, दोनों तत्व विद्यमान हैं। एतावता नारी मृदुता और क्रूरता का कुल जोड़ है।



नारी का हर्ष : मंगल का कारण

जनश्रुति है; देवता भी उसी गृह को अपने आवास से मंगलमय करते हैं, जहाँ 'भारतीय गौरव का प्रतीक नारी' को कमल पत्र के अग्रभाग जैसे कोमल हृदय से अपनी हृदयस्थ मृदुता को लुटाने का पूर्ण अवसर मिलता है। देवोपभुक्त अमृत

प्रसाद भी वहीं बरसता है जहाँ नारी को सम्माननीय दृष्टि से देखा जाता है। जहाँ एक ओर नारी के नेत्रों और अधरों की मृदु मुस्कान पर ही घर की सारी खुशियाँ निर्भर हैं। उसके चरण-क्रम में सारा स्वर्गी वैभव लुण्ठित है, अप्सराएं छाया की तरह किंकरी हैं, सम्पदाएँ दासीवत् कार्य करती हैं, वहीं दूसरी ओर नारी के नेत्रों एवं अधरों की क्रूरता पर गृह महारौरव नरक का दल-दल, तम-तम तमकता अंधकार एवं प्रेतों की ताण्डवी लीला स्थली मात्र बनकर शेष रह जाता है। परिवार का उत्कर्ष-अपकर्ष नारियों की मुष्टि में है। जहाँ जिस कुल में नारियाँ शोकमग्न रहती हैं, उस कुल का त्वरित विनाश हो जाता है तथा जिस कुल में नारियाँ हर्षमय रहती हैं, उस कुल में सदा उत्कर्ष एवं मंगल ही मंगल घटता है।

नारी को पुरूष समाज ने स्त्री, महिला, अबला, कुमारी, सुता, दुहिता, वधु, पत्नी, भार्या, कामुकी वल्लभा, दैवी, प्रिया, अंगना, जाया, माता इत्यादि अपनी सुविधानुसार अनेक नामों से पुकारा है और पुरूष के कर्मठ पौरूष ने सदा उसके हृदय पर शासन किया है। उसकी इच्छाओं को स्वेच्छाओं में केन्द्रित किया है। नारी को 'मंत्री' कहने वाले लोगों ने कभी उसे मंत्रणा का खुला अवसर नहीं दिया। उसे सदा पति आज्ञा की चाबी भरी गुड़िया समझा गया है, जबकि नारी के अभाव में नर अधूरा है।

'नर' शब्द के चरित्र में दीर्घत्व, वृद्धि अर्थात् 'आ' एवं शक्ति बीज 'ई' कार अनुपस्थित है। किन्तु नारी शब्द की ध्वनि कहती है मेरे साथ 'अ' जो अव्यय शक्ति और बुद्धि का परिचायक है, सारस्वत बीज का जनक, माया बीज के साथ-साथ कीर्ति, धन एवं आशा का पूरक 'अ' की वृद्धि रूप 'आ' कार जुड़ा हुआ है, वह बड़ा वैज्ञानिक है। मंत्र शास्त्रानुसार इसे वायु तत्व बीज संज्ञक भी कहा है। 'आ' मेरा अभिन्नावयव है तथा शिवत्व प्रतीक, शक्ति बीज, अमृत बीज की मूल कार्य साधिका, स्तम्भक, मोहक, जृम्भक, गुण बीज एवं तेजो बीज रूप 'ईकार' मेरे पीछे मुझे संभाले खड़ी है। जब 'नर' शब्द अपने मूल स्वरूप में, अपने अस्तित्व में किसी और के अस्तित्व को स्वीकारता है तभी उपर्युक्त 'आ' और 'ई' गुण संपन्न बीज मंत्रों के संयोग से 'नर' ह्रस्व, हलका नहीं होता प्रत्युत उसकी अस्मिता अपना पृथक् अस्तित्व रखती है।

नारी का हाथ, नारी का हृदय, एवं अमृत-प्लावित मृदुता उसके साथ है, जो अपनी मृदु मुस्कान के साथ अपने स्वरूप का उद्घोष करती है। 'न अरि यस्या सा नारी', अथवा 'या न अरि यस्य कस्यापि सा नारी'। जैसे वायु की अपनी कोई सुगंध नहीं होती, वह जैसा सम्पर्क पाती है वैसी ही सुरभित-दुरभित होकर बहती है। उसी प्रकार नारी की स्थिति है। वह कभी स्वतः कुपथ पर नहीं चली। हाँ! उसने

पुरूषों से बाध्य होकर कुपथ पर चलना सीखा है। उसके स्वयं के पाद-निक्षेपों ने तो सदा सुपथ पर ही गमनशील हो प्रतिष्ठार्जित की है। परतंत्र होकर ही उसमें प्रतिपल पापभीरूता पलती है। वह पल भर भी पाप पालडी भारी नहीं होने देती यदि ऐसा न होता तो आप ही बतलाइए उसका नाम भीरू क्यों पड़ा?

नारी की आंखें करूणा की कटोरी

नारी की आंखें करूणा की कटोरी हैं; जो शत्रुता से अनछुई हैं। इन धृति धारिणी जननियों ने जिंदगी के प्रति उदासीन पुरूष के बुझते शौर्य दीप में सदा ही साहस और उत्साह की घृताहुतियाँ दी हैं। आधार के भूखों को आधार देती हुई उनमें अपूर्व आस्था जागृत करती हैं एवं गन्तव्य के सम्यग्दिग्दर्शन में अनूठी पथ-प्रदर्शिका का कार्यवहन स्वयं करती हैं। परिग्रह, आग्रह और विग्रह पीड़ा से जिनकी संयम की जठराग्नि मंद पड़ी है, ऐसे लोगों को 'इच्छा निरोध' (जिसमें से स्नेह, राग निकाल दिया है) ऐसी औषधि पिलाती है। पक्ष में (जिसमें से नवनीत निकाल दिया गया है) ऐसी मठ्ठा महेरी निर्विकृति रूप औषधि पिलाकर उसकी संयमाग्नि को उद्दीप्त करती हैं, इसलिए वे महिला कहलाती हैं। महिला के पास 'इ' और 'आ' क्रमशः अग्नि और वायु तत्व संज्ञक बीज विद्यमान है। महि की 'इ' से वह संयम-अग्नि को उद्दीप्त करती है तथा 'ला' के 'आ' से उसमें प्राण वायु का संचार कर ध्यान की ओर अग्रसर करती है।

भोगों में आकण्ठ लिप्त पुरूषों को नारी समाज ने सदा सावधान कर पतन की राह से बचाया है। कटी पतंग की तरह निराशाओं से टूटे पुरूषों को नारियों ने आशाओं की गांठ बांधकर उत्तुंग ऊंचाईयों का दर्शन कराया है। सुधाहार तुल्य, विशुद्ध शीला, धर्म निष्ठा नारियों ने पुरूषों की चित्तवृति को विगत की दशाओं, अनागत की आशाओं से पूर्णतः हटाकर आगत में लाकर खड़ा किया है। राजा श्रेणिक के 'सम्यक्त्व लाभ' एवं तीर्थंकर प्रकृति के वंध में रानी चेलना की भूमिका को ही प्रथम श्रेय जाता है।

वृद्ध परम्परा ने अनुभूत सच ही कहा है कि जो कुछ संयम की छाया, प्रतिच्छाया पुरूषों में दृष्टिगोचर हो रही है, वह सब धर्मशीला नारी के धार्मिक संस्कारों की फलश्रुति है।

श्रुतियाँ संदेश देती हैं – 'नारी गुणवतीं धत्ते स्त्रीः सृष्टेरग्रिमं पदम्' – अर्थात् गुणवती स्त्री नारी जाति में अग्रगण्यनीया हैं। विपद्ग्रस्त पुरूष नारी का हाथ छोड़ सकता है; छोड़ देता है, किन्तु नारी कभी पुरूष का साथ नहीं छोड़ती। नारी में यदि

एक छोटा-सा भी दुर्गुण पुरूष की दृष्टि का विषय बन जाता है तो पुरूष उसे जंगल में छुड़वा देता है, या घर से निकाल तलाक दे देता है, किन्तु दमयन्ती ने द्यूत में सर्वस्व हारे महाराज नल का साथ नहीं छोड़ा। बन्धुमती ने वेश्यासक्त चारूदत्त का घर लौटने पर पूर्ववत् सत्कार सुरक्षित रक्खा।

नारी सा चरित्र क्या किसी पुरूष में देखा?

युद्ध के लिए प्रस्थान करते हुए पवनंजय के 'अमंगलमुखी! कुलटे! मंगल बेला में अमंगल मुख क्यों दिखाती है?' जैसे वाक्-वाण एवं पाद प्रहार को अंजना यह सोचकर सहन कर गई आखिर मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ जो बारह वर्ष से पतिदर्शन से वंचित मुझे पाद प्रहार के बहाने पति का चरण स्पर्श तो हुआ एवं मेरे तरसते कर्ण पुटों में अमृत तुल्य कुछ शब्द तो पड़े। मानसरोवर तट से रात्रि में मित्र सहित छुपकर आये पवनंजय का उसने स्वागत ही किया। न ही पवन से प्रश्न किया, न ही व्यंग किया कि प्रभात में अमंगलमुखी कहने वाले रात्रि में अमंगला का मुख देखने क्यों आ गए?

पवनंजय की इच्छा पूरी करने के बाद अंजना ने पवनंजय के चरणों में सिर रखकर सिर्फ इतना ही कहा – हे आर्यपुत्र! मेरे किस अपराध ने आपको मुझे परित्यक्ता घोषित करने के लिए बाध्य किया? क्रूर कर्म को अभी इतने से संतोष नहीं हुआ। अपने पति द्वारा आरोपित बीज को उसने सतर्कता पूर्वक सुरक्षित रखा। पति एवं पुत्र की शुभ दर्शनेच्छा से कठोरतम यातनाएं सहती हुई जंगल में जीवन धारण किये रही, किन्तु कभी स्वप्न में भी पति के प्रति ग्लानि का भाव उसके हृदय में नहीं जन्मा। क्या ऐसा चरित किसी पुरूष नायक में देखा है?

पति के लिए शील, सन्तान के लिए ममता, समाज के लिए नैतिक सदाचार पूर्ण गौरव, विश्व के लिए दया और जीव मात्र के लिए अपने लक्ष्य में करूणा संजोकर रखने वाले प्राणी का नाम ही नारी है। उसने अपने अपमान को भी सदा आशीर्वाद के रूप में स्वीकारा है; यही उसकी महानता है।

यदि हम यह कहें कि सूर्य जैसा तेज, चन्द्रमा जैसी शीतलता, समुद्र जैसा गाम्भीर्य, पर्वत जैसी दृढ़ता, पृथ्वी जैसी क्षमा, आकाश जैसी विशालता और वृक्षों जैसा त्याग, ये समस्त गुण एक ही स्थान पर देखने हैं, तो नारी के हृदय को देखिए! तब कोई अत्युक्ति न होगी क्योंकि नारी में वे समस्त गुण विद्यमान हैं, जो अन्य प्राणियों में दुर्लभ ही नहीं वरन् मुश्किल हैं।

सच ही किसी ने कहा है –

नारी में अति उज्जवल सतीत्व, उज्जवल सतीत्व में महातेज ।
उस महातेज के दीपक में, नारी रखती है रवि सहेज ।।
वह औरों को स्वजन बना लेती, देखो स्वजनों का संघ छोड़ ।
औरों का सदन बसा देती, प्रिय जन्म सदन सम्बन्ध तोड़ ।।

'नुः नरस्य वा धर्म्या नारी' नर का धर्म ही नारी है अर्थात् नारी की सुरक्षा पुरूष का धर्म है। उसी प्रकार नारी का संयम उसकी कद्र है। नीति है –

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः ।
इति विज्ञाय मतिमान्स्वस्थानं न परित्यजेत् ।।

दाँत, केश, नख और मनुष्य यदि अपने स्थान से भ्रष्ट हो जाते हैं तो वे शोभा नहीं देते, अस्तु इस तत्व को भली-भाँति समझकर बुद्धिमान पुरूष को अपना स्थान, कर्त्तव्य, धर्म नहीं छोड़ना चाहिए। किन्तु आज अर्थप्रिय पुरूष के सामने नारी धर्म की रक्षा के प्रति च्युताच्युत का प्रश्न कोई महत्व नहीं रखता। इसलिए सम्प्रति में घर-घर में गृह युद्ध छिड़ा हुआ है। 'गृहस्थ-धर्म' धर्म संकट में पड़ा कराह रहा है। लोग भले ही अपने को सद्गृहस्थ मानें किन्तु यह उनका भ्रम मात्र है चूंकि वे स्वस्थ सद्गृहस्थ धर्म की परिभाषा नहीं जानते। आचार्यों ने गृहस्थ धर्म निम्न प्रकार निरूपित किया है –

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता प्रियालापिनी ।
इच्छापूर्तिधनं स्वयोषिति रतिः स्वाज्ञापराः सेवकाः ।।
आतिथ्यं सुरपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्न-पानं-गृहे ।
साधोः संगमुपासते च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ।।

जिस गृहस्थाश्रम में आनन्दपूर्ण गृह, बुद्धिमान पुत्र, प्रियंवदा स्त्री, इच्छापूर्ति के लिए पर्याप्त धन, अपनी पत्नी से प्रीति, आज्ञाकारी सेवक, अतिथि-सत्कार, देव-पूजन, प्रतिदिन मधुर भोजन तथा सत्पुरूषों के संग-सत्संग का सुअवसर सदा सुलभ होता है वह धन्य है।

भार्याहीनं गृहं वनम्

पद्मपुराणकार रविषेणाचार्या ने गृहस्थाश्रम को परम पवित्र एवं गृह को सदा तीर्थ के समान कहा है –

गृहस्थाश्रमः पुण्यतमः सर्वदा तीर्थवद्गृहम् ।

वृहत्पराशर संहिताकार भी कहते हैं –

न गृहेण गृहस्थः स्याद् भार्याया कथ्यते गृही ।
यत्र भार्या गृहं तत्र भार्याहीनं गृहं वनम् ।।

केवल घर में रहने से कोई गृहस्थ नहीं होता, पत्नी के साथ रहने से मनुष्य गृहस्थ कहलाता है। जहाँ भार्या है वही घर है, भार्याहीन गृह तो वन तुल्य है। मध्यकालीन कवि ने तो यहाँ तक कह डाला है 'बिन गृहिणी घर भूत का डेरा'। जिस कुल में स्त्री-पुरूष परस्पर एक दूसरे से संतुष्ट रहते हैं उसका अवश्य कल्याण होता है। क्योंकि जव पुरूष नारी को अर्द्धांगिनी के रूप में स्वीकारता है और अपने आधे अंग जैसी सुरक्षा करता है तब वह अर्द्धांगिनी नारी अपने पुरूष का सर्वांग क्षेम चाहती है। उसके जीवन रथ का उत्तम सारथ्य करती है। संसार में जिसका कोई सहायक नहीं उसकी पत्नी उसको जीवन यात्रा में साथ देती है। 'असहायस्य लोकेऽस्मिन् लोक यात्रा सहायिनी।'

नर क्यों शक्तिमान है?

दुर्भाग्य है देश का, कि ये नीतियां न जाने किस अन्ध गुहा-गह्वरों में खोती चली जा रही हैं। आज नारी-पुरूष के बीच की आत्मीयता-संवेदना कहाँ विलुप्त होती जा रही है? क्यों आज आदमी, आदमी नहीं, उसका अपभ्रंश मात्र शेष रह गया है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए जिस पति-पुरूष को जीवन संगिनी की ओर से सहयोग नहीं मिलता वास्तव में वे अभागे हैं। नारी; **'भावना के राज्य की दुर्बल प्रजा नहीं है वह भावना के साम्राज्य की साम्राज्ञी है! वह विधाता का वैभव है, मानवता का मानदण्ड है।'** स्त्री सौन्दर्य का आकार, कोमलता की पराकाष्ठा है, और है प्रेम का पर्वत। स्वर्ग के समीरण का नृत्य उसके नूपूरों की झंकारों में सन्निहित है। नारी महान शिव का मनोहर रूप है। महाशक्ति रूप नारी की शक्ति, उसका खून, दूध एवं मांसल सहयोग पाकर ही मनुष्य शक्तिमान है। 'कहना नहीं; करना' उसका मूलमंत्र है। यदि वह कार्य न करे तो संसार अचल हो जायेगा।

जग जीवन पीछे रह जाये, यदि नारी न दे पाये स्फूर्ति ।
इतिहास अधूरे रह जावे, यदि नारी कर न पाये पूर्ति ।।
संसार महा सागर अपार, नारी सागर में बनी नाव ।
जीवन की उष्ण दुपहरी में, नारी तरुवर की घनी छांव ।।

महानुभाव! जैसे चिड़िया एक पंख से नहीं उड़ सकती वैसे ही नारी के अभाव में नर जीवन नहीं चल सकता। नारी कहती है मैं पढ़ती हूँ संतान को शिक्षित करने एवं पति के क्लान्त मन को शान्ति प्रदान करने के लिए। मैं गाना-बजाना सीखती हूँ शौकीनों की शान, लालसा पूर्ति के लिए नहीं, प्रत्युत हृदय को कोमल बना उसमें पूर्णता भरने के लिए। मैं नृत्य सीखती हूँ; लोक रंजन के लिए नहीं, अपितु जग को नचाने के लिए। ध्यान रखना मैं अपत्य जानती हूँ, आदर्श महामानव बनाने के लिए। मैं गुलाम पैदा नहीं करती हूँ। मैं आपत्-विपद सब कुछ सहन करती हूँ कारण मैं सहना जानती हूँ। मैं मनुष्य को अपने अंक में दुलार कर मनु बनाती हूँ, क्योंकि मैं आदर्श सृजन जानती हूँ। लोगों ने मुझे 'कामुकता की काल कोठरी' कह कर पुकारा है, यह मुझे अस्वीकार है, तथापि मैं उन पर क्रोध नहीं करती हूँ, क्योंकि मैं जानती हूँ यह उनका क्रोध है। **पुरूषों के पास विध्वंसक क्रोध को शालीन कर्तृत्व में परिणत करने की क्षमता का अभाव है।** मैं यह भी सम्यक् प्रकारेण जानती हूँ कि उनका यह कथन अहेतुक है यह उनके भावों की भावुकता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। फिर भी मैं उनके दिए सम्बोधन को स्वीकारती हूँ।

हजार पिताओं से श्रेष्ठ : एक माँ

नारी क़हती है, मैं अपने सम्बन्ध में अब और कुछ कहना उचित नहीं समझती। अन्यथा पुरूष समाज इसे आत्म-शंसा समझकर मेरा मजाक उड़ा देंगे। तो लीजिए, अब मैं आपके समक्ष इतिहासकार ही प्रस्तुत करती हूँ। इतिहासकारों ने माता, पिता, समाज, लौकिक विद्या गुरू एवं लोकोत्तर शिक्षा प्रदाता लोकोत्तर गुरू। इस प्रकार पांच गुरू मानें हैं। इन पंच गुरूओं की गणना में सर्वप्रथम माता का नाम स्मरण किया गया है –

गुरुगण गणनारंभे प्रथमैव पतति कठिनी संभ्रमा मातुश्च ।

ऐसा ही भाव मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में भी दृष्टव्य है –

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ।।

अर्थात् बड़प्पन की दृष्टि से दश उपाध्यायों से बढ़कर एक आचार्य होता है। सौ आचार्यों से बढ़कर एक पिता है एवं हजारों पिताओं से बढ़कर एक 'माता' होती है। मान्टेसरी का मन्तव्य भी यही है।

"A good mother is better than hundred teachers."

नारी कामुकता की काल कोठरी नहीं

नारी समाज की रीढ़ है। उसके विविधायाम हैं – कन्या, कुमारिका जो आचार्यों द्वारा मंगल रूप में स्वीकृत है 'कण्णा मंगल-कन्यकाश्च मंगला'। जो माता-पिता व पारिवारिक सदस्यों द्वारा सस्नेह पालनीया है। स्वसा के रूप में भ्राता द्वारा रक्षणीया है। भार्या के रूप में कामुकता की काल कोठरी नहीं किन्तु अभिनन्दनीया (सब ओर से आनन्दनीय अर्थात् आनन्द पात्र) एवं माता के रूप में सदा-सदा से पूज्या अभिवंदनीया रही हैं। अस्तु नारी किसी भी रूप में हेय अथवा उपेक्षणीय नहीं है। इन तमाम तथ्यों से आईना की तरह जाहिर है कि उसके हाथों को सबल बनाये बिना मानव जाति का उत्कर्ष असंभव है? यहां महाराज मनु का एक बोध वाक्य ज्ञातव्य है, 'जिस दुष्ट के व्यवहार से नारी की आंखों में से संग्रहणीय दुर्लभ अश्रु बहते हैं वह देवता के क्रोध दावानल से भस्म हो जाता है।' एतदर्थ नारी की अस्मिता को अखण्डित, सुरक्षित रखते हुए उसके रिक्त अंचल को मान-सम्मान से आपूरित कर स्वयं के, नारी एवं देश के मस्तक को स्वाभिमान से समुन्नत बनाने की अविचल चेष्टा देश के प्रत्येक नागरिक को करनी चाहिए।

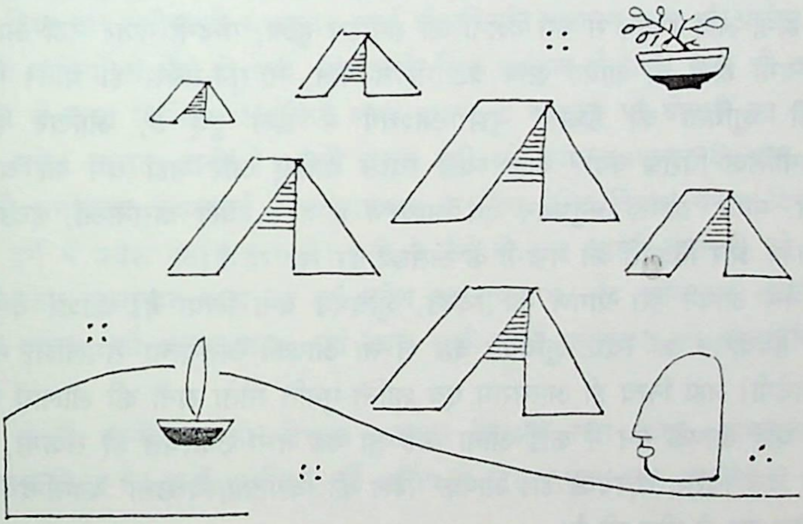
⌘ ⌘

किसने मेरे ख्याल में दीपक जला दिया?

श्रमण संस्कृति के अमर गायक, विशुद्ध सौन्दर्यवादी आचार्य प्रवर श्री कुन्दकुन्द ने हमारी उस कहानी को कहा है जो न केवल हम सबके जीवन की कहानी मात्र है, प्रत्युत्त सत्य तथ्य भी है। वे कहते हैं –

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ।।

जगत्त्रयवर्ति शरीरधारियों के द्वारा ये काम-भोग, बंध-विषयक कथायें कर्णगत हुई हैं, इनसे उनका परिचय भी हुआ है एवं अनुभूत भी हुई हैं एतदर्थ सुलभ हैं किन्तु आत्म-वैभव, एकत्व-विभक्त की कथा न कभी श्रवण की है, न ही उनसे परिचय, साक्षात्कार हुआ है, और न ही वे अनुभव का विषय वनी हैं। अतः वे दुर्लभ हैं। संसार वर्धिनी/सहभागिनी ऐसी कौन सी वस्तुएँ इस सृष्टि पर अवशिष्ट हैं, जिसका इस जीव ने स्वाद न लिया हो।



सुनते थे जगत्गुरू भारत के त्रिवर्गी उत्तम जाति के लोग नियमतः आजन्म शाकाहारी होते थे किन्तु वे आर्य ही आज आर्य वृत्ति को छोड़ आसुरी, राक्षसी वृत्ति अपनाने में तत्पर नजर आने लगे हैं। आसुरी वृत्ति की जघन्यतम स्थिति में पहुंच आज वे उच्चवर्गीय लोग 'नर मांस' का भी स्वाद लेने लगे हैं।

लगाइए मन-झरोखे पर एग्झास्ट फेन

मैं समझता हूँ ऐसा कोई जीव नहीं जिसने सांसारिक एवं संसार-संवर्धक सभी भोगों को न भोगा हो, अनुभव न किया हो। अथवा तमाम पदार्थों के बाह्य स्वरूप का व्यवहार-नीति से साक्षात्कार न किया हो। आज सभी के लिए एक बात समझना अत्यावश्यक है। वह यह है कि हमारे इस दुर्लभ नर देह में जो इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के षट् द्वार खुले हैं, उनका सदुपयोग हो रहा है अथवा दुरूपयोग। सम्प्रति में उनकी स्थिति किमात्मक है। षट् द्वारों से प्रविष्ट पदार्थ हमारे भीतर संगतियाँ पैदा कर रहे हैं, अथवा विसंगतियां निर्मित कर जीव की दुर्गति कर रहे हैं। इन द्वारों से क्या गन्दगी मात्र अन्तः आयात हो रही है या कि अन्तर्प्रविष्ट गन्दगी, दुर्गन्ध बाहर भी निर्यात हो रही है? क्या हमारे 'सोच' ने, मन और इन्द्रिय रूपी खिड़कियों पर 'एग्झास्ट फेन' लगा रखे हैं अथवा नहीं इत्यादि अनेकानेक प्रश्न रूपी दैत्य हर संसारी प्राणी के समक्ष प्रश्नचिन्ह बनकर खड़े हैं।

अनिवार्यता है इन प्रश्नों का समाधान देने की, इनके चरित्र को जानने की एवं जानकर आचरणात्मक रूचि पैदा करने की। विचार मात्र कार्यकारी नहीं है क्योंकि आचरण विहीन विचार तो केवल गर्भपात जैसे हैं। आप जैसा interest पैदा करेंगे, वैसा ही वातावरण निर्मित होगा। किसी दिन जहां हम बैठे हैं वहां पर गन्दगी का ढेर रहता होगा लेकिन जब से धर्म देशना का समारंभ हुआ; गन्दगी नजर नहीं आ रही है। गन्दगी होती तो शायद आप बैठ भी न पाते, न सुन-समझ ही पाते। किन्तु आपकी 'शुचिता की द्वैधता' मुझे आश्चर्य में डाले हुए है, आखिर इतना गंभीर/मौलिक विरोध क्यों? बाह्य स्थल स्वच्छ चाहिए और जहां धर्म का श्रवण, चिन्तन, मनन, ग्रहण, अनुभवन एवं आचरण होना है; वहां वासनाओं, इच्छाओं, कामनाओं और विकारों की गन्दगी के असंख्य ढेर सड़ रहे हैं।

जैसे आपने इस प्रांगण को स्वच्छ, शुचिमय बना लिया है। काश! वैसे ही भीतरी हृदयांगन को स्वच्छ-शुचिमय कर लें तो आपकी अंतरात्मा रामलीला मैदान बन जायेगी। जहां नित्य ही आत्मराम एवं शान्ति-सुमति सीता रानी की लीलायें होती रहेंगी। यदि आपके मन में कोई आना चाहे तो वह तभी उपस्थित हो सकेगा, जब तुम्हारा दिल विराट हो/स्वच्छ हो। आपके 'दिल की विराटता/स्वच्छता' कामेन्द्रिय एवं भोगेन्द्रिय द्वय ने छीन ली है।

ये हैं कामेन्द्रिय की वीभत्स कथाएँ

आचार्य जयसेन ने स्पर्शन और रसना को कामेन्द्रिय तथा घ्राण, चक्षु और श्रोत को भोगेन्द्रिय में परिगणित किया है। इन दोनों के पीछे सारी दुनियां दौड़ रही

है। भोगेन्द्रियों से कामेन्द्रियां अधिक खतरनाक हैं। विश्व के समग्र कलहों एवं विध्वंसों में इसी की मूल/अहं भूमिका होती है। 'काम' के कारण सर्व विनाश जैसी असंख्य घटनाएं इतिहास के गवाक्ष से झांक रही हैं। इसके पीछे पति; पत्नी को, पत्नी; पति को भी मरवा डालने में नहीं हिचकिचाते।

एक मार्मिक रूपक प्रस्तुत है – जो काम का दुष्परिणाम उद्घाटित करता है। रानी अमृता कुबड़े गीतकार पर आकृष्ट हो गई। प्रतिदिन राजा को सुला देने के पश्चात् अन्तःपुर के निजी शयनकक्ष के गवाक्ष से गज शुण्डा द्वारा उतरकर अश्वशाला में कूबड़ से मिलने जाया करती थी। किसी प्रकार राजा के ज्ञात हो जाने पर उसे अपनी मीठी-मीठी बातों में फंसाकर नौका-विहार के लिए ले गई। शुगर कोटेड कुछ मिष्ठान्न खिला दिया। जिससे शनैः शनैः राजा के आंगोपांग गलने लगे और आखिर एक दिन उस कुलटा ने राजा को सरिता में धक्का देकर गिरा दिया।

ऐसे भी प्रसंग कथा ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। एक राजा नलकूबर अत्यन्त शूरवीर था। रण-कौशल, कला-विज्ञ, न्याय-नीतिज्ञ पराक्रम में उसके शासन में उस जैसा अन्य कोई शूरवीर नहीं था। न्यायप्रिय नृप ने राज्य की सुरक्षा हेतु अभेद्य दुर्ग, कोट, खातिकायें बनवा रखी थी। शत्रु तो क्या उसकी श्वासोच्छवास भी दुर्ग के भीतर नहीं पहुंच सकती थी। दुर्ग प्रवेश का मार्ग राजा ने अपनी रानी को स्नेहवशात् बता दिया था। समीपवर्ती रूपसुन्दर स्वर्ण लंकाधिपति दशानन राजा की प्रशंसा उसने अपनी दासियों से जैसे ही सुनी, वह उसके लिए व्याकुल हो उठी। रानी की दयनीय स्थिति से राजा चिन्तित थे लेकिन लाख प्रयत्न के बावजूद भी बीमारी का पता न लगा सके। अन्ततः रानी ने अपनी चतुरा दूती को राजा रूपसुन्दर के पास भेजा। अपनी मनोव्यथा कहलवाई और आक्रमण के लिए प्रेरित किया। पन्द्रह दिन तक सेना दुर्ग में प्रवेश नहीं कर सकी। रानी ने जैसे ही सुना अपनी गुप्तचरी को कटक में भेजकर रूपसुन्दर राजा को दुर्ग प्रवेश का गुप्तमार्ग, भेद बतलाकर अपने पति राजा दुर्मेधष को मरवा डाला, एवं स्वयं खुशी-खुशी रूपसुन्दर की पट्टमहिषि बन गई।

ये हैं कामेन्द्रिय की वीभत्स कथाएं। जिन्होंने सदा दुःख, आपदाओं का आह्वान किया है। इन्हीं द्वयेन्द्रियों की अर्चिष में सारा जमाना जल रहा है।

अष्टांगुलाओं ने पराजित कर दी चतुरंगिनी सेनाएँ

आचार्य श्री कुन्दकुन्द कहते हैं – सारे अनर्थों की जड़ अष्टांगुलाएँ हैं। चतुरांगुला स्पर्शा, चतुरांगुला रसना। यथा –

चदुरंगुला च जिव्हा असुहा चदुरंगो उवत्थो वि ।
अट्ठगुंल दोसेण दु जीवो दुक्खं ख्रु पप्पोदि ।।

चार अङ्गुल की कामेन्द्रिय के कारण आयरन, स्टील मेन कहलाने वाला फौलादी पुरूष चार टके की छोकरी के सामने घुटने टेक देता है/हथियार डाल देता है। चतुरंगुला के पीछे मुक्ति प्रदायिनी चतुरंगिनी सेना, अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं केवलि प्रणीत धर्म को भूल जाता है। महाराज दुष्यन्त की शकुन्तला से कौन अपरिचित है? राजर्षि विश्वामित्र जैसे तपस्वी मेनका के समक्ष तप च्युत हो गये उनकी साधना की बुनियादी जड़ें हिल गईं। इन्हीं जघन्य कृत्य का परिणाम थी शकुन्तला।

स्पर्शा को बल देने वाली है रसना। इसके पीछे दुनिया में भागमभाग मची हुई है। चतुरांगुला रसनेन्द्रिय के कारण चतुरंगिणी महा सेना दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप को भूलकर प्राणी चारों महा दिशाओं में अहर्निश ठोकरें खा रहा है। इसलिए कहा है जो काम का गुलाम है वह पैर की जूती है। जो रसना का गुलाम है वह सबका गुलाम है। यह रसनेन्द्रिय द्विकर्मिक है। खाकर कामेन्द्रिय विकृत करती है तो कृपाण की तरह कटु बोलकर कलह-क्लेशों को जन्म देती है। 'अतिभुक्तिरतीवोक्तिः सद्यः प्राणापहारिणी'। इस सर्वभक्षी राक्षसी रसना को जिसने जीत लिया वह सर्वेन्द्रिय जेता क्या संसार जित् नहीं हो जायेगा? रसेन्द्रिय देश है तो शेषेन्द्रियाँ प्रान्त। किसी देश को जीत लेने पर शेष प्रांत बिना जीते विजित हो जायेंगे।

विवेक वारिधि का दिव्य रत्न; संतोष

आचार्य कहते हैं – जिस प्रकार नीरस, शुष्क वृक्ष पर विहंग नहीं बैठते, उसे दूर से ही छोड़ देते हैं उसी प्रकार रसना विजयी को काम-पक्षी नहीं सताता। कारण रसत्याग से तन-तरू शुष्क एवं इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं। कृषक जानते हैं खेत में हल चलाते समय कहीं कोई गड्ढा भरना हो तो आसपास की मिट्टी सरकाकर गर्त पूर्ण कर काम निकाल लेते हैं, जर्मन-जापान से मिट्टी नहीं मंगाते। आप चाहें तो 'सहज यथालब्ध' से उदरपूर्ति कर काम निकाल सकते हैं। लेकिन आज आम आदमी भी विदेशी वस्तुएं पसन्द करता है इसलिए अध्यात्म संस्कृति सम्पन्न जगत्गुरू भारत भी दूर-दराज के सभी देशों से वस्तुएं आयात कर रहा है। स्पष्ट है इन्सान सहज प्राप्त से अतृप्त है और अप्राप्त के पीछे भाग रहा है इसीलिए दुखी है।

संतोष जीवन का श्रृंगार है। यह वह ताज है जिसे सिर पर नहीं हृदय पर धारण किया जाता है। अशेष कामनाओं के दोहन में संतोष से बढ़कर अन्य कोई

कारगर समर्थ-साधन नहीं है। मुक्ति मार्ग की प्रेरणा देने वाला इसके अतिरिक्त कोई उपकारी मित्र नहीं है। पुण्य प्रसाधक परिणामों का कल्पद्रुम संतोष ही है विवेक-वारिधि से समुत्पन्न दिव्य रत्न है। आत्म वैभव के अधिपति बनने का प्रमाण पत्र है। कारण संतोष की ऊर्मियां जिसके हृदय सागर में अनवरत आन्दोलित होती रहती हैं उस पुण्यात्मा को पाप-पंक स्पर्श नहीं कर पाता। उसकी दृष्टि में सारे धन-वैभव धूलि समान हैं। उसे दुर्घटना होने का अब कोई खतरा नहीं है, क्योंकि वह अब न स्वार्थ को जियेगा न ही स्वाद को। अब वह जियेगा केवल स्वास्थ्य... परम स्वास्थ्य के लिए। चूँकि अब वह जानने लगा है –

यतो न किञ्चित् ततो न किञ्चित्,
यतो यतो यामि ततो न किञ्चित् ।
विचार्य पश्यामि जगन्न किञ्चित्,
स्वात्माऽवबोधादधिकं न किञ्चित् ।।

इसका अर्थ है – न यहां कुछ है, न वहां कुछ है। जहां-जहां भी मैं जाता हूँ, देखता हूँ, वहां कुछ भी नहीं है। विचार कर देखता हूँ तो जगत में कुछ भी सारभूत नहीं है। वास्तव में आत्मानुभव से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है।

जो जीवन-यापन के लिए पर्याप्त है तथा स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है ऐसा स्वच्छ-शुद्ध, निर्मल सात्त्विक आहार तो सर्वत्र सहज उपलब्ध हो जाता है। उसके लिए अधिक दौड़-धूप की आवश्यकता नहीं है किन्तु जो असंतोषी हैं, जिह्वा लम्पट हैं, वे स्वादेन्द्रिय की आज्ञा पर तन-मन दोनों से दौड़ पड़ते हैं एवं उन्हीं की पूर्ति-सम्पूर्ति में जिन्दगी की सारी सुख-शान्ति खो बैठते हैं। बन्धुओं! यही है कामेन्द्रिय संसर्ग जन्य दुःखों की कहानी।

तोड़ दी मर्यादाओं की रीढ़ 'केबल' ने

अब जरा भोगेन्द्रियों की पर्तों को उद्घाटित कर देखिए! वहाँ कितने नट-नर्तन कर रहे हैं। घ्राण, चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय रूपी दीमक; दिमाग को ही नहीं अनुदिन तन-मन को भी खोखला कर रहे हैं। घ्राण की भूमिका भिन्न किस्म की है। चक्षु और श्रोत्र इन इन्द्रिय द्वय ने सारी मर्यादाओं की रीढ़ ही तोड़ दी है। तरह-तरह की मेट्रो टी.वी., स्टार टी.वी., जी.टी.वी., मल्टी टी.वी. ने तो मूल भारतीय संस्कृति का ढांचा ही बदल दिया है। आज घर-घर में ही नहीं कमरे-कमरे में 'केबल टी.वी.' आ गई है। जिन-जिन परिवारों ने टी.वी. से रिश्ता जोड़ा है, उन-उन परिवारों में अशान्ति एवं आपसी मन-मुटाव ने जन्म लिया है। वैमनस्यताएं जन्मी एवं पनपी हैं। मर्यादाएं भंग

हुई हैं। कारण स्वच्छन्द वृत्ति के प्रसारक दूरदर्शन ने सभी को स्वच्छन्द बनने के लिए बल एवं प्रेरणा दी है। 'केबल' न केवल समय बर्बाद करता है, प्रत्युत उसने पारस्परिक कुशल वार्ता, मेल-जोल, सहानुभूति तथा एक साथ मिल-बैठकर सुख-दुख के आख्यानों के आदान-प्रदान करने वाले सुख को भी छीन लिया है।

ज्ञात रहे! ये 'इडीयट बाक्स' आपके इर्द-गिर्द चक्कर डाल रहे हैं। इनके दुष्चक्र से अपने आपको बचाना होगा। दूरदर्शन के माध्यम से धन कमाना एक व्यापारिक चाल है। शासन के सामने आज धन ही प्रयोजन भूत तत्त्व रह गया है। धर्म या धर्म नीति से उसे कोई सरोकार नहीं। मानवों का दुर्भाग्य ही समझिए कि कौन हमें अपने स्वार्थ की ढ़ाल बनाये हुए है? यह समझने की सामर्थ्य, प्रज्ञा उनके पास अवशेष नहीं है। मनुष्य जीवन का प्रमुख उद्देश्य धनोपार्जन नहीं, धर्मार्जन भी है; जो है सर्व सुखों का स्रोत। ये न्याय है कि धर्मशील की सन्निधि में धनसमृद्धि उसी प्रकार दौड़ी-भागी चली जाती है जैसे सिन्धु के समीप सरिताएं।

'छाया मध्याह्निकी श्रीः' धन-सम्पदा मध्याह्न की छाया सदृश है। 'लक्ष्मी' चंचल न होती तो राज सिंहविष्ठर/राज सिंहासन पर बैठने वाले नरेशों को पथ-भिखारी क्यों होना पड़ता? जैसे गुणों में कृतज्ञता दुर्लभ है तद्वत् त्रसत्व और उसमें भी नासिका एवं चक्षु का प्राप्त होना और भी दुर्लभ है। पंचेन्द्रियत्व प्राप्त होना तो चतुष्पथ पर पड़ी रत्नराशि वत् दुर्लभतम है। सुरदुर्लभ मनुष्यत्व तथा इन्द्रिय सम्पदा (संयम साधिका) पाकर 'श्री एवं भोगों' में गंवाना अमृत कुंभ से पाद प्रक्षालन जैसा मूर्खता पूर्ण कृत्य है।

आवश्यकता है सुसंस्कारों की

शक्रेन्द्र को देखिए, तीर्थङ्कर बालक के जन्मोत्सव के समय अभिषेकोपरान्त आनन्द नाटक प्रसंग पर तांडव नृत्य करते हुए बालक का रूपपान दो नयनांजलियों से करते हुए तृप्त नहीं हो सकने से अपने सर्वांग में सहस्त्र नेत्रों की रचना करता है; फिर भी अलौकिक रूप से तृप्त नहीं हो पाता। सहस्त्राक्ष अन्वर्थ संज्ञावान् देवेन्द्र अपने नेत्रों सहित जीवन सफल कर लेता है, किन्तु आप दूरदर्शन के करीब बैठकर दुनियां भर की मार-काट, खून-खराबा, सोसाइट जैसे शालीन दिखने वाले कुटिलताओं के रंगीन विचित्र चित्र देखकर धन, स्वास्थ्य, समय और न जाने क्या-क्या गंवाकर नेत्र ज्योति भी खो बैठते हैं। आचार्य कहते हैं यदि इन नेत्रों से प्रभु दर्शन किया होता तो नेत्रों के पावन द्वारों से पहुंचकर वह प्रभु दर्शन आत्म दर्शन का प्रबल प्रेरक निमित्त बन जाता और जीवन सफल हो जाता।

'अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य, देव त्वदीय चरणाम्बुज वीक्षणेन'

दो वर्ष के नन्हें बालक से पूछो – "बेटे! णमोकार मंत्र आता है?" तो फिल्मी गुड़िया की तरह नकारात्मक सिर हिला देता है। कहता है "नहीं; मुझे तो फिल्मी गीत आते हैं। सुना दूं?" कभी-कभार मैं सुकुमार मति बालकों से पूछ लेता हूँ – "बेटे! क्या आपको चतुविशंति तीर्थङ्करों के नाम याद हैं?" तो बालक कहता है – "ममा... महाराज जी; किसके नाम पूछ रहे हैं? क्या अंकल अमिताभ वगैरह के।" वह चौबीस तीर्थङ्करों को नहीं जानता न ही उनके नाम। देखिए! यह है आपकी भावी पीढ़ी की स्थिति एवं आपका दूषित चित्त वृत्ति का परिचायक प्रमाण पत्र।

महानुभाव! आपने इन्हें किस जाति के संस्कार दिये हैं। ये काम-भोग बंध की गाथाएं तो संस्कार गत उसे सुलभ थी। आवश्यकता थी मदालसा की तरह 'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि, संसार माया परिवर्जितोऽसि' जैसी एकत्व-विभक्त कथा के संस्कार दान की। क्या कहूं और किस-किस से कहूँ? सारा जमाना इन कामादिक कथाओं में उलझ कर इस प्रकार अस्वस्थ हो गया है कि धर्मामृत जैसा अनुत्तर पदार्थ उसे वैसा ही अरूचिकर हो गया है जैसे पित्तज्वर वाले को शर्करा मिश्रित दुग्ध। जैसे-जैसे आदमी की उम्र बढ़ती जाती है वैसे-वैसे इन्द्रियां शिथिल होती चली जाती हैं। किन्तु खेद है उसकी वासनाएं, इन्द्रिय लिप्साएँ अम्लिका (इमली) के खट्टेपन की तरह बढ़ती चली जाती हैं। आश्चर्य तो देखो इन्द्रियां जरा से जीर्ण हो रही हैं और मन यौवन पूर्ण हो रहा है। जब आपके श्रवण और नेत्र काम नहीं करते तब सांसारिक कथाएं सुनने-देखने आप श्रवण यंत्र एवं नयन पर उपनयन लगाते चले जाते हैं। एक व्यक्ति के पास चार प्रकार के उपनयन देखने को मिले। पूछने पर बताया, एक पास का है, दूसरा दूर का, तीसरा इन दोनों के ढूँढ़ने का और चौथा 'शो' का; मैंने सिर पकड़ लिया, वाह रे महामानव! श्रवण शक्ति कमजोर होने पर कृत्रिम श्रवण यंत्र, स्वाद और शो के लिए कितने कृत्रिम उपकरणों का उत्पादन और उपयोग कर रहा है। असली दंतपंक्ति गिर जाने पर नकली दंतपंक्ति फिट करवा लेते हो और सुन्दर दृश्य-अवलोकनार्थ चार-चार उपनयन का परिग्रह संग्रह कर आनन्द लेते हो। बन्धवर! ये सब क्या है?

कब तक स्वीकारोगे गुलामी?

आचार्य जिनसेन स्वामी कहते हैं – सज्जनानन्द दायिनी, मनोहारिणी, उभय लोक सुख प्रदात्री सत्पुरुषों की सत्कथा श्रवण करने वाले श्रवण ही वास्तविक श्रवण हैं, अन्य श्रोत तो विदूषक के कानों के समान केवल श्रवणाकार मात्र है। जिनके मस्तक में सत्पुरुषों की पवित्र कथा करने वाले वर्णाक्षर घूमते हैं वह मस्तक है 'अन्य मूर्द्धा न तु नारिकेल करंक वत्' अन्य मस्तक तो नारियल के करंक, कठोर-

आवरण के समान हैं। विशद चरित्र के कीर्तन रूप-शब्दावलियों के निसृत होने में सहयोगी दंतपंक्ति ही पवित्र हैं शेष दन्तावलियां तो कफ निकलने वाले द्वार को रोकने वाले मानों कठोर कपाट ही हैं।

चिर भजे विषय कषाय अब तो त्याग निज पद वेइये ।

इन्द्रियों की गुलामी कब तक स्वीकारोगे? जनश्रुति है – मन बड़ा खतरनाक है लेकिन मैं कहता हूँ मन नहीं; मन के माध्यम से आप जो सोचते हैं, वह आपका सोच खतरनाक है। आपका सोच ही मन एवं इन्द्रिय रूपी अश्वों की बल्गा ढीली कर उन्हें खतरनाक, भयावह मोड़ पर ले जाता है। जिन्होंने अपने चिन्तन को संभाल लिया उनका मन-इन्द्रियाँ मुष्टिगत हो जाती हैं। तृष्णा का ताप बर्फ की तरह विगलित हो जाता है। **जैसे अग्नि और नकार का कोई रिश्ता नहीं वैसे ही तृष्णा और तृप्ति का कोई रिश्ता नहीं।** तृष्णा का चरित्र कभी तृप्ति नहीं हुआ। तृष्णा पूरी करने वाला स्वयं पूरा हो गया किन्तु वे अद्य-दिन भी अपूर्ण हैं, 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णः।' इन अमरेच्छाओं ने अमरेन्द्रों को भी मारा है। जीव की सदा चतुर्गतियों द्वारा दुर्गति की है इन अतृप्त कामनाओं ने। अस्तु; सकृदपि सद्गति पाने हेतु काम-भोग-बंध की कथाओं को विराम दो।

आचार्य गुणभद्र जी कहते हैं –

शरीर की अपेक्षाओं की पूर्ति सम्भव है पर मन की अनन्त आकांक्षाओं का गड्ढा सुमेरू पर्वत जितने विशाल स्वर्ण और रजत के पर्वतों से भी नहीं भरा जा सकता। मनुष्य की आकांक्षाएँ बड़ी हैं, सपने बड़े हैं। बड़े-बड़े साधक आकांक्षा में फँसकर अपनी साधना को धूमिल कर देते हैं। संग्रह की तीव्र आकांक्षा व्यक्ति को मृत्यु के कगार पर खड़ा कर देती है। छलनी को पानी से भरा जा सकता है पर अभिलाषाओं, इच्छाओं की पूर्ति कभी भी सम्भव नहीं हो सकती। व्यक्ति की आकांक्षा रहती है कि वह रातों-रात धनाढ्य बन जाए। उसके लिए वह आकाश में सीढ़ियां लगाने की बात सोचता है और समुद्र में सुरंग बनाने की कल्पना करता है। सच है आकांक्षा का जगत बहुत बड़ा है, किन्तु आसक्ति की ग्रन्थि खुलने पर संग्रह का इलाज आपों-आप हो जाता है।

महत्वपूर्ण कौन?

महत्व वस्तुओं का नहीं है, वे दूसरों को भी मिली हैं। सर्प के मस्तक में मणि है। सीप के उदर में मोती है, भू-गर्भ में स्वर्ण-रौप्य का अक्षय भण्डार भरा पड़ा है। धन का स्वामित्व किसी के गौरव का चिन्ह नहीं है। कला दृष्टि से मयूर की

सर्वांगीण काया चित्रकला से भरपूर है। नृत्य भी उसे कितना सुन्दर आता है। भ्रमर-गुंजन एवं कोकिला-कूज कवियों के मनः प्राणों में प्राणों की तरह बसी है, परन्तु इनका कोई सदुपयोग नहीं। आपके परितः समग्र-ऐन्द्रिय सम्पदा एवं तद् पुष्टि कारक अन्य सामग्रियाँ चरणों में नित्य नृत्यार्चन कर रही है, किन्तु महत्व इनका नहीं है। महत्व है भोक्ता और भोक्ता के उच्च विचारों का। जिन्होंने अपने उच्च विचारों से इन्हें हासिल कर अनेकशः उच्छिष्ट कर वमन, विरेचन कर दिया है। क्या कभी किसी ने वमन का महत्व देखा-सुना है, उसे संभाला है? यदि नहीं तो उनका महत्व कैसा? अपने ख्याल में विवेक का दीपक जलाओ फिर सोचो! महत्वपूर्ण कौन है भोक्ता या भोग्य पदार्थ? भीतर खोजेंगे उत्तर मिलेगा। महत्वपूर्ण है एकत्व विभक्त की कथा; जो सहज-सुलभ नहीं है। जो अविसंवादिनी एवं लोकोत्तर सुन्दर है। जो जीव से आज तक अजानी, अननुभूत हैं। इसके अतिरिक्त काम, भोग और बंध की कथाएँ अनेकशः श्रवण, अनुभव और परिचय में आई हैं।

एक बार इन काम, भोग और बन्ध की कथाओं का श्रवण बन्द कर दो। इनसे परिचय का कनेक्शन काट दो और इनके अनुभवों का आधार छोड़कर मन-ही-मन गुनगुनाओं कुन्दकुन्द की अमर गाथा –

> सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स वि कामभोगबंध कहा ।
> एयत्तस्स सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ।।

इस गाथा सूत्र को अनेक बार दुहराने पर आप पायेंगे कि आपके जीवन में अभिनव अध्याय खुलने लगा है। कोई नया मोड़ देने वाली नवीन ज्योति भीतर-ही-भीतर ज्योतित होने लगी है। आपके विचारों का तालाब बलात् आन्दोलित होने लगा है। आपका चित्त संकल्प-विकल्प रूपी तरूओं की जड़ों को उन्मूलित कर उनके विष-बीजों को दग्ध करता हुआ परमात्मा में सल्लीन होने का संकेत दे रहा है। आपका अस्थिर रागान्वित मन-पक्षी लम्बे-चौड़े इस विशाल संसार में सर्वत्र फैले पंचेन्द्रिय विषयों के वितान से लौटकर अपने प्रशान्त चैतन्य-गृह की ओर लौट रहा है।

आखिर इतना बदलाव क्यों? क्या किसी महापुरूष की छवि या दिव्य वाक्यावली ने आपको प्रभावित किया है? या उनके विचारों से आपके दिशा-बोध मिला है? क्या किसी घटना-दुर्घटना विशेष ने आपको आन्दोलित किया है? अथवा किसी पुरातन प्रशस्त कर्म ने आपको प्रेरित किया है? प्रश्नों की तहों में जाने पर आप पायेंगे नहीं! नहीं! ऐसा कोई भी प्रसंग घटित नहीं हुआ किन्तु फिर भी मेरे ख्यालों में एक दिव्य दीप जल रहा है कौन है वह जो हमें रोशनी दे रहा है? कौन है

वह जो हमारे ख्यालों को शिवालय की ऊँचाई से जोड़ने संकल्पित हुआ है। इत्मीनान से विचार कीजिए –

किसने मेरे ख्याल में दीपक जला दिया।
ठहरे हुए तालाब का पानी हिला दिया ।।

उत्तर पायेंगे 'णवरि ण सुलहो विहत्तस्स' एकत्व-विभक्त्व की कथा सुलभ नहीं है जो सर्वत्र सुन्दर लोकोत्तर, अविसंवादिनी है। इसे प्राप्त करना ही हमारा ध्येय है। इसी ने मेरे ख्याल में नया दीप जलाया है और इसीलिए ही आपके जीवन की दिशा और दशा में अनूठा परिवर्तन आया है; जो अब सदैव प्रवर्धमान रहेगा। यही एकत्व, विभक्त्व (मैं अकेला हूँ, अकेला ही रहूँगा) की कथा जो मुझसे अब तक अपरिचित अनछुई थी उससे परिचय कर कुन्दकुन्द की कृपा, करूणा के कलशों से अभिषेक कर जगत की कलह-क्लेशों से आपूरित कंटीली राहों पर चलते हुए मुझ अकिंचन के ख्यालों में दीप जलाती हुई भव-कूल तक ले जायेगी।

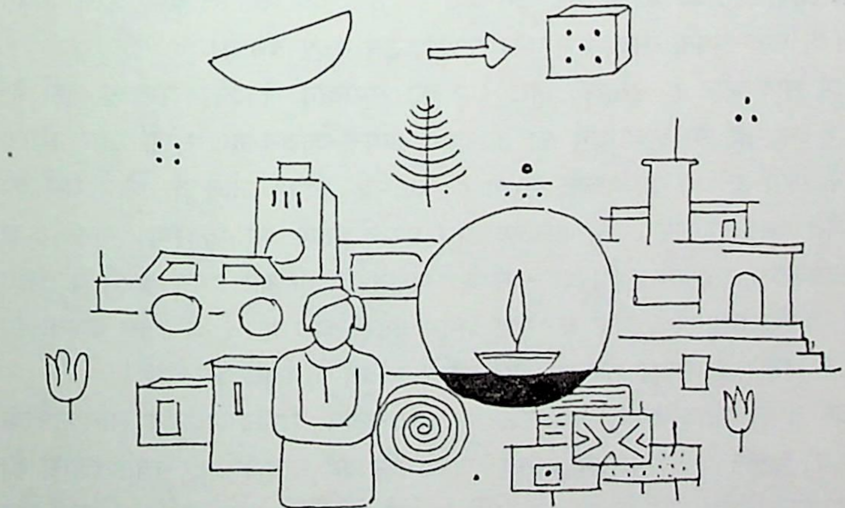
⌘ ⌘

धर्म वृक्ष पर फलते हैं सर्वेन्द्रिय सुख

धर्म की परिभाषा समझने में अनेक बार हमारे सामने कठिनाइयाँ आ जाती हैं। धर्म क्या है? आज के युग में उसकी परिभाषा सीमित शब्दों में नहीं की जा सकती। दर्शन की भाषा में धर्म की परिभाषा है – आत्मा की शुद्धि। साहित्य की भाषा में – जिसके द्वारा ज्ञान, आनन्द और शक्ति का विकास हो, वही धर्म है। मनोविज्ञान की भाषा में धर्म का अर्थ है – समता।

मूल तत्त्व है कषाय मुक्ति। जो व्यक्ति इससे मुक्त होता है, वही सही अर्थ में धार्मिक है। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, घृणा, हीन भावना की मनोवृत्ति आदि अधर्म हैं। धर्म उनके मन में टिकता है, जो शक्तिशाली हैं, पवित्र हैं, भय रहित हैं। चूंकि अभय, समता और क्षमाशीलता ही धर्म है। दूसरों की उन्नति देखकर सबके विकास की इच्छा करना धर्म है। मित्रता की भावना का विकास करना धर्म है। क्रोध नहीं करना, ऋजुता, सरलता, संतोष धर्म है। कर्त्तव्य का अनुपालन धर्म है। दुनिया में कौन समर्थन नहीं करेगा इस परिभाषा का?

धर्म का विश्लेषण सही दृष्टिकोण से किया जाये तो निश्चित रूप से स्वस्थ व सुखी जीवन बिताने का साधन मिल जाएगा। आइये, धर्म के व्यापक स्वरूप पर विवेचनात्मक दृष्टिपात करें।



धर्म बनाम जीवन की कला

धर्म जीवन जीने की कला है – स्वयं सुख से जीने तथा दूसरों को सुख से जीने देने की अनूठी कला है। जो विकारों से मुक्त रहना सिखाती है, वही जीवन जीने की सच्ची कला है। वही विशुद्ध धर्म है। शुद्ध धर्म का स्वरूप बड़ा ही मंगलमय और कल्याणप्रद है। हम जब विकार विमुक्त होकर निर्मल चित्त से आचरण करते हैं तब स्वयं तो सुख-शान्ति भोगते ही हैं, औरों की सुख-शान्ति का भी कारण बनते हैं। इसके विपरीत विकारग्रस्त होकर मलिन चित्त-जन्य आचरण से स्वयं तो संतापित होते ही हैं, अन्य के संताप का कारण बनने के साथ-साथ समाज की शान्ति भी भंग करते हैं। मनोविकारों के बिना कोई भी शारीरिक या वाचिक दुष्कर्म संपन्न हो ही नहीं सकता। जब-जब हमारा मन विकार-विमुक्त और निर्मल होता है, तब-तब स्वाभाविक ही वह स्नेह और सद्भाव से मैत्री और करूणा से भर उठता है। ऐसा ही स्नेहिल, संवेदित, कारूणिक मन परिवार के साथ-साथ, अड़ौसी-पड़ौसी, नाते रिश्तेदार सभी को खुशहाल जीवन जीने का अवसर प्रदान करता है। चूंकि हमारे निर्मल चित्त की तरंगें आसपास के वातावरण को प्रभावित कर उसे यथाशक्ति निर्मल बनाती हैं एवं जीवन मूल्यों को ऊँचा उठाती हैं।

सच पूछिये तो जीवन मूल्यों के लिए ही तो धर्म साधना है। यदि धर्म के अभ्यास से जीवन-मूल्य ऊँचे नहीं उठते, हमारा लोक व्यवहार नहीं सुधरता, हम अपने लिये तथा औरों के लिये मंगलमय जीवन नहीं जी सकते तो ऐसा धर्म हमारे किस काम का? धर्म इसलिये है कि हमारे पारस्परिक सम्बन्ध सुधरें। हममें व्यवहार-कौशल्य आवे और बढ़ें। अतः शुद्ध धर्म यही है कि प्रत्येक व्यक्ति यहीं, इसी जीवन में औरों के साथ अपना व्यवहार-सम्बन्ध सुधारें, उसे मधुर बनायें।

धर्म सार्वजनीन है, इसलिये शुद्ध धर्म का सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई लेन-देन नहीं है। शुद्ध धर्म का अभ्यासी अपने जीवन को सुखी और स्वस्थ बनाने के लिये ही धर्म का पालन करता है। धार्मिक जीवन जीने के लिये धर्म को भली-भाँति समझकर उसे आत्म-कल्याण और पर-कल्याण का 'कारण' मानकर ही मनुष्य उसका पालन करता है। वह धर्म का पालन दूषणों का दमन करने के लिए ही नहीं, बल्कि प्रज्ञापूर्वक दोषों का पूर्ण शमन और रेचन करने के लिए करता है। बहुजन के हित-सुख, मंगल कल्याण और स्वस्ति-मुक्ति के लिये करता है।

धर्म तभी तक शुद्ध है, जब तक वह सार्वजनीन, सार्वदेशिक व सार्वकालिक है। धर्म का पालन यही समझकर करना चाहिये कि वह सार्वजनीन, सर्वहितकारी है। किसी संप्रदाय-विशेष, वर्ग-विशेष या जाति-विशेष से बंधा हुआ नहीं है। यदि धर्म बँध जाता है तो उसकी शुद्धता नष्ट हो जाती है। प्रत्येक आत्मा धर्म की इस शुद्धता

को समझे और धारण करे। जिससे निस्सार का अवमूल्यन हो, उन्मूलन हो तथा धर्म के शुद्ध सार का सही मूल्यांकन/प्रतिष्ठान हो सके।

धर्म के सार को समझें

धर्म के सार को समझे बिना धर्म का ठीक से पालन नहीं किया जा सकता है। सार को समझेंगे तभी उसे ग्रहण कर पायेंगे अन्यथा अंदर के सार तत्त्व को छोड़कर छिलकों में ही उलझे रह जाएँगे। सार में सदा समानता रहती है। अनेक रूप-रूपाय भिन्न-भिन्न बाह्याडम्बर, वेश-भूषा, आकार-प्रकार, बनावट-सजावट, खान-पान जो भिन्न-भिन्न संप्रदायों के प्रतीक मात्र थे, वे आज भिन्न-भिन्न धर्म बनकर पारस्परिक विरोध का कारण बन गये हैं। इन बाह्याचार और बाह्याडम्बर रूपी स्थूल छिलकों में बुरी तरह उलझ गया है सारा मानव समाज। हमें जब तक धर्म की वास्तविक 'मणि' प्राप्त नहीं होती तब तक हम कंगाल हैं। हमारा जीवन निस्सार दिखावों, निरर्थक कर्मकाण्डों और निकम्में बुद्धि-किलोलों से भरा रहता है। धर्म का सार तो चित्त की शुद्धता में है, राग-द्वेष-मोह के बंधनों से मुक्त होने में है। विषम स्थितियों में भी चित्त की समता बनाये रखने में है। मैत्री, करूणा, मुदिता में है। और साथ-साथ जो यह भी समझते हों कि ये गुण हममें नहीं है तो देर-सवेर वे भी धर्म के सार को प्राप्त कर ही लेते हैं। लेकिन जब हम बाह्याडम्बर के निस्सार छिलकों को ही धर्म मानने लगते हैं तब शुद्ध धर्म प्राप्त कर सकने की सारी संभावनाओं को खो देते हैं। हम यह जाँच कभी करते ही नहीं हैं कि जिसे धर्म माने जा रहे हैं, उसकी वज़ह से हमारे मन-मानस में क्या सुधार हो रहा है? अथवा हमारे जीवन-व्यवहार में कुछ सुधार हो रहा है? अतः धर्म की शुद्धता को जानना, समझना, जाँचना, परखना पहला आवश्यक चरण है।

शुद्ध धर्म सदा स्पष्ट और सुबोधक होता है। उसमें रहस्यमयी गुत्थियाँ नहीं होती। शुद्ध धर्म में कपोल-कल्पनाएँ नहीं होती। जो कुछ होता है यथार्थ ही होता है। धर्म कोरा सिद्धांत निरूपण के लिए नहीं प्रत्युत स्वयं का साक्षात्कार करने के लिये होता है। धर्म राजमार्ग की तरह ऋजु है; उसमें भूल-भुलैया नहीं होती। धर्म आदि, मध्य और अन्त हर अवस्था में कल्याणकारी ही होता है मिश्री की तरह, जहां से चखो, मुँह मीठा ही करेगा। यदि ऐसा हो तो धर्म यथार्थ है, शुक्त है, शुद्ध है, अन्यथा धर्म के नाम पर कोई धोखा हो सकता है। अतएव यदि शुद्ध धर्म का सार ग्रहण नहीं करेंगे तो द्वेष, द्रोह, दौर्मनस्य, दुराग्रह, अभिनिवेश, हठधर्मी, पक्षपात, संकीर्णता, कट्टरता, भय, आशंका, अविश्वास, प्रमाद, कठमुल्लेपन से भरा हुआ जीवन निस्तेज, निष्प्राण, निरूत्साही ही होगा। कुत्सित, कलुषित, कुटिल ही होगा।

व्याकुल-व्यथित और व्यग्र ही होगा। शुद्ध धर्म का सार ग्रहण कर लेंगे तो प्यार, करूणा, स्नेह, सद्भाव, त्याग, बलिदान, सहयोग, सहकार, श्रद्धा-विश्वास, अभ्युदय और विकास से भरा हुआ जीवन ओजस्वी, वर्चस्वी ही होगा। शुद्ध धर्म के यही प्रत्यक्ष लाभ हैं। प्रत्यक्ष लाभ ही शुद्ध धर्म की सच्ची कसौटी है। इस धर्म रूपी महावृक्ष पर कभी भी म्लान नहीं होने वाले दया रूपी पुष्प विकसित होते हैं; और इसी धर्म तरू पर सर्वेन्द्रिय सुख रूपी फलों के साथ-साथ मुक्ति रूपी महाफल फलता है।

केवल बुद्धि विलास धर्म नहीं

धर्म का सही मूल्यांकन किया जाना चाहिये। मूल्यांकन करते समय यदि दृष्टि सम्यक् रहेगी तो नीर-क्षीर विभाजन/विवेक बना रहेगा तथा धर्मपथ पर हम अपना संतुलन बनाए रख सकेंगे। सम्यक्-दृष्टि यही है कि जिसका जितना मूल्य है उसको उतना ही महत्व दें – न अधिक, न कम। कंकर-पत्थर, काँच-हीरा सबका अपना-अपना, अलग-अलग महत्व है। जितना महत्व है, उसका उतना ही मूल्य है। लौकिक क्षेत्र में काँच और हीरे का, मिट्टी और सोने का एक जैसा मूल्यांकन नहीं किया जाता। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी सबका मूल्यांकन समान नहीं होता। कोरा वाणी-विलास और बुद्धि विलास धर्म नहीं है। किसी तथ्य का प्रतिपादन कर देना या उसे कह देना अलग बात है उसे किसी के गले उतार देना दूसरी बात है और स्वयं उसे हृदयंगम कर लेना तीसरी बात है।

एक दिन आश्रमवासी एक शिष्य ने अपने गुरू से पूछा – गुरूदेव! इतने लोग धार्मिक उपासना करते हैं; धर्म चर्चा करते हैं; प्रवचन सुनते हैं परन्तु उनके व्यवहारिक जीवन में कोई ठोस परिवर्तन परिलक्षित क्यों नहीं होता? प्रश्न बड़ा व्यापक था। सार्वकालिक और सार्वभौमिक था।

उत्तर भी उतना ही व्यापक होना चाहिए। सच है आज के धार्मिक जगत की ऐसी स्थिति क्यों है? धर्म करने पर भी जीवन में रूपान्तरण क्यों नहीं? गुरू गम्भीर हो गए। अनुभवी थे; प्रश्न की गहराई तक पहुंच गए। कुछ देर बाद आँखें खोली; बोले – एक काम करो मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूं इससे पूर्व तुम शराब से लबालब भरा एक घड़ा ले आओ। शराब का नाम सुनते ही शिष्य चौंक पड़ा। जिस शराब को स्पर्शित करना तो दूर जिसका नाम भी गुरू आश्रम में वर्जित है; उसे गुरू आज लाने को कह रहे हैं। बात क्या है? मैंने प्रश्न किया रूपान्तरण का; गुरूजी उत्तर देंगे शराब-घट से। अनर्थ हो गया। क्या करूँ? लाऊँ तो आफत; नहीं लाऊँ तो गुरू

आज्ञा का उलंघन। और गुरूवचन अनुलंघनीय होते हैं। विचारों के सागर में वह तैरने-उतराने लगा।

> विकासयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः ।
> रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः ।।

जैसे सूर्य की तीक्ष्ण रश्मियां कोमल कमल कलियों को विकसित कर देती हैं तद्वत् गुरू की कठोर उक्तियां भव्य शिष्यों की मन/चित्त रूपी कलियों को विकसित कर देती हैं। अन्तर्द्वन्द से जूझते शिष्य को देखकर गुरूजी बोले – वत्स! तर्क और विचारों की आवश्यकता नहीं है। आश्वस्त होकर जाओ और मेरी आज्ञा का पालन करो। शिष्य तो शिष्य था। उसे आज्ञार्थ जाना पड़ा। जब वह शराब का घड़ा लिए आश्रम में लौटा तब ऐसा लग रहा था जैसे सब कुछ खोकर लुटा-पिटा कोई राजपुत्र हो।

"यह लो गुरूजी आपकी आज्ञा का प्रासाद" कहते हुए शिष्य ने घृणात्मक दृष्टि गुरू-मुख पर डालते हुए शराब के घड़े को लकड़ी की बेंच पर ऐसे रख दिया जैसे कोई जहरीले विषधर की पोटली को पुनः न छूने की इच्छा से पटक देता है। गुरू का स्वर निशान्त वातास में गूंजा – सारे शिष्यों इधर आओ। मेरा आदेश है; प्रत्येक शिष्य इस घड़े से एक-एक चुल्लू शराब मुंह में ले और हलक में एक भी बूंद उतारे बिना इसे तत्काल कुल्ला कर थूक दें।

आश्रम के प्रांगण में समवेत स्वर गूंजा – गुरूवर्य! यह क्या? शराब और उससे कुल्ले? सारे शिष्य काना फूसी करने लगे। सभी ने प्रश्नात्मक निगाहें गुरू के चेहरे पर ऐसे गड़ा दी जैसे मानों पूछ रही हों "गुरूदेव कहीं आपको कुछ हो तो नहीं गया?" अपनी ओर घूरती निगाहों का समाधान देते हुए गुरू ने कहा – मेरे प्रिय शिष्यों! मैं आज एक महान रहस्य का उद्घाटन करने जा रहा हूँ। फिक्र मत करो; सोचो मत और अति शीघ्र सावधानी पूर्वक मेरी आज्ञा का पालन करो। सभी शिष्यों ने वैसा ही किया। कुछ ही क्षणों में घड़ा खाली हो गया। गुरू ने एक-एक को क्रमवार बुलाया और पूछा – क्यों वत्स! नशा आया? सारे शिष्यों ने एक स्वर में उत्तर दिया – नहीं! गुरूदेव! नशा नहीं आया। आता भी कैसे? नशा तो तब आता जब शराब गले के नीचे उतरती। हम लोग तो केवल मुँह में लेकर थूक देते थे। और बाहर-के-बाहर थूक देने पर नशा का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

गुरू उस शिष्य की ओर मुखातिब होकर बोले जिसने प्रश्न पूछा था – वत्स! तुम्हें तुम्हारे प्रश्न का समाधान मिल गया।

शिष्य बोला – नहीं तो। वह कैसे गुरूदेव?

गुरू ने समझाया बेटा आज घड़े भर-भर धर्म किया जा रहा है और कुल्ले के रूप में थूका जा रहा है। वह गले के नीचे उतर ही नहीं पा रहा है। हृदय का स्पर्श ही नहीं कर पा रहा है। तब जीवन में परिवर्तन या रूपान्तरण रूप परिणाम कैसे आ सकता है? जैसे शराब गले के नीचे उतरेगी, नशा आयेगा। वैसे ही धर्म का भी अपना एक नशा होता है। जब वह हृदय में उतरता है तब 'परिवर्तन रूप' नशा का परिणाम प्रत्यक्ष होता है। किन्तु जब वह केवल कथन, प्रवचन, श्रवण तक ही सीमित रह जाता है। आचरण की भूमिका को स्पर्शित नहीं करता तब उसका नशा/परिणाम/परिवर्तन/जीवन में रूपान्तरण कैसे घटित हो सकता है? बेटे! बुद्धि या तर्क बल पर किसी विषय का विवेचन करना अलग है। दूसरों को अनुभव द्वारा समझाना भी सरल है किन्तु जीवन में धर्म का अवतरण ही धर्म की सच्ची सुषमा है; जो वर्तमान सन्दर्भों में अनछुई सी रह गई है। धर्म की सच्चाई पाने के लिए धर्म का साक्षात्कार विशेष महत्वपूर्ण तथ्य है एवं ऐसा ही जीवन में उतरा हुआ शील-सदाचार ही धर्म है।

सत्य/सम्यक् धर्म

सत्य ही धर्म है। सत्य के अतिरिक्त धर्म की और क्या व्याख्या हो सकती है? सत्य का अर्थ केवल वाणी की सच्चाई नहीं, बल्कि धर्म शब्द की भाँति इसका भी वही व्यापक अर्थ है – यानि स्वभाव, गुण, नियम व विधान। प्रकृति के अपने गुण स्वभाव हैं, नियम-विधान हैं। इनमें चराचर विश्व बंधा हुआ है। इस व्यापक अर्थ में सत्य और धर्म पर्यायवाची हैं।

समता का संतुलन

सुखद से प्रफुल्लित हो उठना और दुखद से मुरझा जाना वैषम्य है। दोनों रहते संतुलित-समरस रहना समता है। समतावान ही सच्चा धर्मात्मा है। वह सोचता है –

सुख दुःख दोनों धूप-छांव है हर्ष-विषाद क्या करना ।
फिल्म हाल में बैठ के पगले क्या हँसना क्या रोना ।।

समता धर्म है; विषमता अधर्म। समता अनासक्ति है; विषमता आसक्ति। समता धर्म जीवन-जगत से दूर भागना नहीं है, वह पलायन नहीं है। जीवन विमुख होना भी नहीं है। प्रत्युत समता-धर्म जीवन अभिमुख होकर जीना है। समता आती है तो मन, वाणी और शरीर के कार्यों में शुद्धता आती है। उनमें सामंजस्य आता है।

परिणामतः जीवन में स्वस्थता आती है। समता ही स्वस्थता है। मन की समता नष्ट होती है तो अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं – मानसिक भी और परिणामतः शारीरिक भी। समतापूर्ण जीवन जीने वाला कलावंत व्यक्ति ही स्वस्थ जीवन जीता है। समतामय जीवन जीने वाले का अहंभाव नष्ट होता है। समता पुष्ट होती है तो सामंजस्य आता है। समन्वय आता है। स्नेह सौहार्द्र आता है। सहिष्णुता आती है। सहयोग, सद्भाव और सहकारिता सहज भाव से ही आ जाती हैं। समता के सधने से औरों के हित साधन भी सहजभाव से हो जाते हैं। जैसे चंदन की लकड़ी स्वयं कटती है पर बदले में कुल्हाड़ी का मुख भी सुरभित करती है और सबके लिये सुरभि ही बिखेरती है।

सरलता का सोपान

समता की साधना के लिये सरलता के सोपान पर चढ़ना आवश्यक है। सरलता बिना समता को पाना कठिनतम है। सरलता तो चित्त की विशुद्धि है। इन्सान नैसर्गिक स्वच्छ मन/स्वभाव से ही सरल होता है। सरलता सर्वहितकारिणी है, सर्वार्थ साधिनी है। मन जब पानी की तरह सहज सरल-तरल होता है तो अपने आपको सच्चाई के पात्र के अनुकूल ढाल लेता है और अपनी सरलता भी नहीं गँवाता, क्योंकि सरलता मृदुता है, कुटिलता कठोरता है। सरलता ग्रन्थि विमोचन है, कुटिलता ग्रन्थिबंधन है। सच्चा सुख तो ग्रन्थि विमोचन में ही है, विमुक्ति में ही है। सरलता को छोड़कर कुटिलता को अपनाने पर मानसिक संतुलन गड़बड़ा जाता है। आंतरिक व्याकुलता चिड़चिड़ाहट के रूप में बाहर प्रकट होती है, जबकि इसके विपरीत मन जब सरल-सहज रहता है तो मृदु, सौम्य और शान्त रहता है। इसलिये आत्महित, परहित और सर्वहित के लिये सरलता को अपनाना अत्यंत आवश्यक है।

गंगा हिमालय से जुड़ी न हो तो उसका प्रवाह निर्बाध कैसे बहेगा? विद्युत्केन्द्र के तारों से सम्बन्धित हुए बिना विद्युत् कहाँ से जलेगी? वादक की अंगुलियों का स्पर्श हुए बिना वीणा के तार कैसे झनझनायेंगे? उसी प्रकार धर्म वृक्ष के बिना सर्वेन्द्रिय सुख एवं आत्मिक सुख रूपी फल कहाँ फलेंगे? धर्म मित्र है, अधर्म शत्रु है। अधर्म की शक्ति प्रबल है तो धर्म शक्ति उससे भी अधिक प्रबल है। एक रूपक है।

दैत्य का मर्दन करने वाले, कंस को मौत का रास्ता दिखलाने वाले, पाण्डवों के सन्धि प्रस्तापक शान्ति दूत श्रीकृष्ण की अति प्राण वल्लभा पट्टरानी रूक्मिणी का पुत्र प्रद्युम्न जब छह दिन का था; तब पाप शक्ति से प्रेरित धूमशिखी नामक दैत्य ने उसका अपहरण कर महाखदिर नामक भीषण अटवी में शिला के नीचे दबा दिया।

कारण प्रद्युम्न के जीव ने पूर्व पर्याय में जब 'दैत्य मधु राजा के रूप में था' की पत्नी का बलात् हरण किया था। अधर्म का फल फला स्वयं प्रद्युम्न का अपहरण हुआ परन्तु धर्म का बीज साथ में था। उसका अंकुरण हुआ। देखिए छह दिन का बालक शिला तल के नीचे दबा पड़ा है। उसकी श्वांस ऐसे हिल रही थी मानों महीन रेशमी वस्त्र हिल रहा हो। बालक शिला के नीचे किलकारियाँ भर रहा था। धर्म का फल उसे अतिशीघ्र मिल गया। विद्याधरों का स्वामी कालसंवर राजा जैसे ही आकाश मार्ग से उसके ऊपर से निकला प्रद्युम्न के पुण्य ने विमान को रोक दिया। विद्याधर नीचे उतरा उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने बालक की प्रदक्षिणाएं दी और उसे सहर्ष गोद में उठाकर अपनी प्रियतमा को सौंप दिया। बालक का न केवल उनके द्वारा पालन-पोषण हुआ अपितु सोलह विद्याओं का अद्भुत लाभ भी हुआ। सच है धर्माराधना संकट, विपत्तियाँ दूर करती है, क्योंकि दीपक से प्रकाशित क्षेत्र में अन्धकार की सत्ता नहीं रह सकती।

धर्म का फल तत्काल मिलता है अंगूर की तरह। अंगूर को चखते ही उसी क्षण मुंह मीठा हो जाता है। ऐसा नहीं कि आज अंगूर खाओ कल फल मिले। धर्म आते ही जीवन में शान्ति एवं सन्तोष रूप फल तुरन्त प्राप्त होने लगते हैं। धर्म का पथ अथ से इति तक बिल्कुल सीधा-सरल है। संकीर्ण विचारों की पौध पर धर्म के फूल कभी नहीं खिल सकते। धर्म मित्र है और मित्रता जैसे पवित्र रिश्ते के लिए निश्चल और विराट हृदय की सौ फीसदी आवश्यकता है। धर्म का सम्बन्ध आत्मीय गुणों से है और स्वर्गिक-सम्पदाएँ तो ऐसी हैं जैसे रोते हुए नन्हें मुन्ने को चुप कराने के लिए झुनझुना। विवेकी 'झुनझुना' से खुश नहीं होता उसे चाहिए आत्मिक शान्ति का प्रौढ़ साधन। जो है धर्म... केवल... धर्म... ।

⌘ ⌘

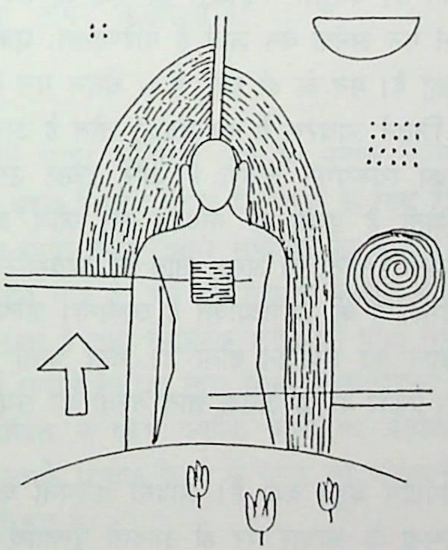
मन : विचारों का विश्वविद्यालय

मन शब्द से हर कोई परिचित है। मन का साम्राज्य विशाल है। योग की एक प्रसिद्ध सूक्ति है – 'यत्र पवनस्तत्र मनः' अर्थात् जहाँ पवन है वहाँ मन है। वर्तमान युग मानसिक समस्याओं का युग है। हर व्यक्ति के समक्ष मन की समस्या है और वह उससे मुक्ति चाहता है। मानसिक समस्या से मुक्ति पाने के लिये मन को समझना जरूरी है।

मन क्या है? यह प्रश्न सहज ही उठता है। सामान्य शब्दों में कहें तो – जो चेतना बाहर जाती है, उसका प्रवाहात्मक अस्तित्व ही मन है।

मन के मायने

मन का अर्थ है – संकल्प-विकल्प। मन का अर्थ 'स्मृति और चिन्तन' के ईर्द-गिर्द घूमता है। मन का अर्थ समय की परिधि में तीनों कालों में बँटा हुआ है। मन अतीत की स्मृति करता है, भविष्य की कल्पना करता है तथा वर्तमान का चिन्तन करता है। मन की प्रकृति चंचल है। इसीलिये मन कभी व्यग्र होता है तो कभी एकाग्र।



मन के स्थान के सम्बन्ध में पृथक-पृथक धारणाएँ प्रचलित हैं। कोई इसे हृदय के नीचे, कोई हृदय के बीच तो कोई समूचे शरीर में व्याप्त बताता है। शरीर शास्त्र के अनुसार मन का स्थान मस्तिष्क है। वस्तुतः मन का शासन सर्वत्र व्याप्त है।

मन का स्वरूप

मन के स्वरूप को जानना इसलिये आवश्यक है कि वह हमारी साधना का मुख्य आधार है। उसी के आधार पर ध्यान, उपलब्धियों, अनुपलब्धियों का लेखा-जोखा होता है। मन के साथ चेतना का योग न हो तो ध्यान की कोई आवश्यकता नहीं है। मन का स्वरूप चेतना की धारा से निर्मित होता है। वह न चंचल; न स्थिर। जैसा उत्पादन होता है वैसा ही वह निर्मित हो जाता है।

हमारे मन में हजारों अवस्थाएँ अनुदिन घटित होती हैं। जब मन बाह्य-साक्षात्कार में लगता है तब मन में हजारों घटनाएँ घटित होती हैं। अकारण प्रेम, शत्रुता व भय के भाव आ जाते हैं। बाह्य-साक्षात्कार में बड़ी परेशानियाँ होती हैं। मन में जितने विकल्प उठते हैं, उतना ही मन अशान्त होता है। जब थकान व बेचैनी से आदमी परेशान हो जाता है, तब आदमी सोचता है कि दूसरे रास्ते से चलना चाहिये। और वह रास्ता होता है आत्म-साक्षात्कार का।

इसी से विरोधी विचार आदमी के मन में पैदा होते रहते हैं। एक मन कहता है यह करूँ और दूसरा मन कहता है यह न करूँ। तब सहज विचार आता है कि आदमी के कितने मन हैं। वस्तुतः मन/चित्त तो एक ही है। किन्तु उसकी वृत्तियाँ अनेक होती है। इससे मन अनेक बन जाते हैं परिणामतः एक मन भी अनेक जैसा प्रतिभासित होने लगता है। मन के दो स्तर हैं – चेतन मन का स्तर और अचेतन मन का स्तर। हमारे जितने आचरण हैं उन सबका स्रोत है अचेतन मन।

चेतना प्राणी का स्वरूपगत लक्षण है और इच्छा उसका व्यवहारिक रूप। चेतना अभिव्यक्त होती है इच्छा के माध्यम से। जीव की गति और प्रवृत्ति इच्छापूर्वक भी हो सकती है/होती है। अस्तु; जीव का व्यवहारिक लक्षण है इच्छा।

इच्छा और अभिलाषा की अभिव्यक्ति है कल्पना। कल्पना में कोई नया ज्ञान नहीं होता; केवल ज्ञान का संयोजन होता है। ज्ञात बातों का विभिन्न प्रकार से संयोजन होता है। इस प्रकार दो या अनेक ज्ञात तत्त्वों का संयोजन कर देना कल्पना है।

कल्पना का उपयोग बहुत बड़ा है। आदमी कल्पना करता है। वही कल्पना प्रेरक बनती है। कल्पना के आधार पर ही आदमी पुरूषार्थ करता है और अपनी कल्पना को साकार बनाता है। विश्व में जितने आविष्कार होते हैं पहले उन सबकी

कल्पना की जाती है। कल्पना को आकार तक पहुँचने में लम्बी प्रक्रिया से गुजरना होता है। कल्पना जब क्रियान्वित होती है, आकार लेती है तब नया तथ्य संसार के सामने आ जाता है।

कल्पना का दूसरा रूप है – विकल्प। यह मान लेना कि 'मैं सुखी हूँ' यह कल्पना ही तो है। वास्तव में सुख-दुख अनुभव के साथ जुड़ता है। कल्पना के साथ तो सुख और दुःख की तीव्रता आती है। जिस प्रकार की विकल्पना होती है उसी प्रकार की अनुभूति होने लग जाती है।

तीसरा रूप है – विचार। आदमी निरन्तर चिन्तन करता रहता है, सोचता रहता है। शब्द का व्यवहरण तो उसका माध्यम है। शब्द भी विचार है। विचार का अर्थ है – विचरण करना, गतिशील होना। हमारे भीतर जो संस्कार, वृत्तियाँ और इच्छाएँ हैं; उनका संयोजन, नियोजन, विनियोजन करना, एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना अथवा किसी व्यक्ति, वस्तु या स्थान के सम्बन्ध में जानना, सम्पर्क स्थापित करना, ये सारी मानसिक क्रियाएँ विचार कहलाती हैं।

मन की अवस्थाओं पर यदि हम विचार करें तो पायेंगे कि मन की मुख्यतः तीन अवस्थाएँ हैं – विक्षेप, एकाग्रता और अमन। विक्षेप अर्थात् स्मृतियों, कल्पनाओं और विचारों का सतत विचरण। जबकि एकाग्रता का अर्थ है – एक स्मृति पर टिके रहना। तीसरी अवस्था है – अमन। अमन का अर्थ है – मन को उत्पन्न ही नहीं होने देना। स्थिरता की मान्यता भ्रांत है क्योंकि मन कि प्रकृति ही 'चंचलता' है। चूंकि मन स्थाई तत्त्व नहीं है अतः वह उत्पन्न और नष्ट होता रहता है। निर्विकल्प और निर्विचार की अवस्था 'अमन' कहलाती है।

शब्दशक्ति

समाज के लिये भाषा अनिवार्य अंग है। मनुष्य ने भाषा का बहुत विकास किया है। शब्दों का बहुत निर्माण किया है। भाषा के साथ ही सभ्यता और संस्कृति का विकास होता है। भाषा हमारे विचार सम्प्रेषण का सशक्त माध्यम है। शब्द भावों के ढोने का एक वाहन मात्र है। मन की गुहा से निकला हुआ शब्द जब जिह्वा के वाहन पर चढ़कर आता है तभी वैचारिक जगत की यात्रा संभव होती है। शब्द ज्ञान ज्योति का महत्वपूर्ण साधन है। यह सारा संसार अन्धकारमय हो जाता यदि लोकत्रय में शब्द ज्योति प्रदीपित न होती क्योंकि प्राणी का प्रत्येक कार्य भाषा के द्वारा सम्पादित होता है। उसके प्रत्येक कार्य में भाषा का योगदान है। इस दृष्टि से मन और भाषा गहरे जुड़े हुए हैं।

ध्वनि दो प्रकार की होती है – शब्द ध्वनि और श्रवणातीत ध्वनि। हम शब्द को सुनते हैं – यह है शब्द ध्वनि। एक सेकिण्ड में न्यूनतम बीस प्रकम्पन होते हैं और अधिकतम बीस हजार। शब्द 'ध्वनि' को सुनने का माध्यम है – कान। वे एक सेकेण्ड में बीस प्रकम्पन सुन सकते हैं। इससे अधिक प्रकम्पन कोलाहल की श्रेणी में आता है। जिसे सहन न कर पाने पर आदमी विक्षिप्त भी हो जाता है।

श्रवणातीत ध्वनि को हम सुन नहीं पाते हैं परन्तु इसका भी प्रभाव पड़ता है। सारा प्रभाव होता है प्रकम्पनों का। जैन दर्शन में प्रकम्पन पर बहुत चर्चा हुई है। इसी के अनुसार हम शब्द को नहीं, शब्द की प्रतिध्वनि को सुनते हैं। जैसे ही शब्द उच्चरित होते हैं भाषा की तरंगें पूरे आकाश में फैल जाती हैं। उन तरंगों के प्रकम्पन आते हैं तब हम उनको सुन पाते हैं।

इसी आधार पर महान वैयाकरण भर्तृहरि ने शब्द को 'ब्रह्म' कहा है – शब्दः ब्रह्म। भारतीय दर्शन में शब्द पर सूक्ष्म मीमांसा हुई है। महर्षि पंतजलि के अनुसार शब्द और आकाश दोनों पर संयम करने से स्वर की शक्ति बढ़ती है।

अच्छे शब्दों का चुनाव अच्छा प्रभाव पैदा करता है और बुरे शब्दों का बुरा प्रभाव। यदि वाचक के अक्षरों की संयोजना उपयुक्त होती है तो वह शक्ति वरदान बन जाती है और यदि संयोजना गलत होती है तो वही शक्ति अभिशाप बन जाती है। इसीलिये कहा गया है –

अमंत्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम् ।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभः ।।

अर्थात् – ऐसा कोई अक्षर नहीं है जो मन्त्र न हो। ऐसा कोई मूल (जड़) नहीं है जो औषधि न हो। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो योग्य न हो। प्रत्येक आदमी में योग्यता होती है किन्तु योजना करने वाला योजक पुरूष दुर्लभ है।

हमारे जीवन और मन पर शब्दों का बहुत असर होता है। शब्द में शक्ति होती है। शब्द का सूक्ष्म प्रभाव होता है। एक बार स्वामी विवेकानन्द से एक व्यक्ति ने कहा – शब्द निरर्थक है। उनका प्रभाव या अप्रभाव कुछ भी नहीं होता। विवेकानन्द जी ने सुना एवं कुछ देर मौन रहने के बाद बोले – "बेवकूफ हो तुम! बैठ जाओ।"

इतना कहते ही वह व्यक्ति आग बबूला हो गया। उसकी आकृति बदल गई। आँखें लाल हो गई। उसने कहा – "आप इतने बड़े सन्त हैं। कल्पना भी नहीं की थी मैंने कि आप गाली भी दे सकते हैं। कितनी नासमझी है जो शब्दों का ध्यान ही नहीं रहा आपको।"

विवेकानन्द जी ने मुस्कुराते हुए कहा – "अभी तो तुम कह रहे थे कि शब्दों का कोई प्रभाव नहीं होता और स्वयं 'बेवकूफ' शब्द से इतने प्रभावित हो गये? क्रोध में आ गए।"

विवेकानन्द का इतना कहना था कि वह आगन्तुक शर्मिन्दा होकर निरुत्तर हो गया।

अतः शब्द की शक्ति को, उसके अर्थ को और उच्चारण को समझना चाहिये। व्यक्ति को उन शब्दों का चुनाव करना चाहिये जिनसे बुरे विकल्प रूक जाएँ। जो शब्द जीवन यात्रा को विकासशील और कल्याणमय बनाए, वक्ता (वोलने वाले) को विघ्नों से बचाएं। एतदर्थ ऐसे शब्दों का चुनाव आवश्यक है जिनसे जीवन की दुर्गन्ध मिटे, सुरभि फैले।

रंग और मन

शब्दों की तरह रंगों का भी शरीर, मन और भावना के स्तर पर प्रभाव पड़ता है। रंगों का भी अपना चमत्कार होता है। हम स्वयं अनुभव करते हैं – जिस दिन आकाश बादलों से घिरा रहता है उस दिन उदराग्नि मन्द हो जाती है, शरीर सुस्त होने लगता है। तथा धूप होती है तो आदमी में स्फूर्ति होती है।

रंग, शब्द, उच्चारण और मन ये चार मुख्य बातें हैं। रंग का हमारे चिन्तन और जीवन के साथ वहुत गहरा सम्बन्ध है। रंग हमारे शरीर और मन को प्रभावित करता है। आचार्यों ने रंग के आधार पर ही द्रव्य लेश्याओं का विभाजन किया है। वर्तमान में 'रंग चिकित्सा' प्रयोग में है। इसकी एक विधि है – दिव्य किरण चिकित्सा। रंग और सूर्य की किरण दोनों के साथ इसका सम्बन्ध है। शारीरिक और मानसिक रोगों के निवारण में रंगों का अपना विशिष्ट स्थान है। रंग थोड़ा सा विकृत हुआ आदमी विक्षिप्त हो जाता है। रंग की पूर्ति हुई, आदमी स्वस्थ हो जाता है। शरीर में रंग की कमी के कारण अनेक बीमारियाँ उत्पन्न होतीं हैं।

हमारे चिंतन के साथ भी रंगों का सम्बन्ध है। जब मन में खराब चिन्तन आता है, अनिष्ट बात उभरती है, अशुभ विचार आते हैं तब चिन्तन के पुद्गल काले वर्ण के होते हैं। उनके ग्रहण होते ही मुखाकृति मुरझाने लगती है जिसे लोग अपनी भाषा में कहते हैं इसका मुँह फीका/काला पड़ गया। जब हित चिन्तन करते हैं, शुभ विचार आते हैं तब चिन्तन के पुद्गल पीत वर्ण के होते हैं। श्वेत वर्ण के भी हो सकते हैं। तब मुरझाया मुख कमल की तरह खिलने लगता है। बुरे चिन्तन के पुद्गलों का वर्ण काला और अच्छे चिन्तन के पुद्गलों का वर्ण पीला, लाल या सफेद होता है। रंग का मनोवैज्ञानिक प्रभाव ही नहीं होता प्रत्युत उसका रासायनिक

प्रभाव भी होता है। मन्त्र शास्त्र में भी रंगों पर गहराई से विचार किया गया है। यथा-शान्ति और पवित्रता के लिये श्वेत रंग, सक्रियता और स्फूर्ति के लिये लाल रंग, बौद्धिक विकास के लिये पीला रंग, इसी प्रकार हरा रंग विषापहारी होता है एवं नीला रंग अध्यात्म विकास का प्रेरक होता है।

मनोबल की कमी

रोगग्रस्तता के लिए कीटाणु या विषाणु ही जिम्मेदार नहीं होते हैं बल्कि मनोविज्ञान के मुताबिक मानसिक विकृतियाँ और मनोबल की कमी भी इसका कारण होते हैं। प्रत्येक घटना के साथ मानसिक प्रभाव का होना सहज है। कष्ट में भी यही होता है। रोग; कष्ट से नहीं होता। कष्ट होता है रोग के संवेदन से। दर्द होता है संवेदन से, स्थान या रोग से नहीं। इसके अलावा अतीत के भाव भी बीमारी उत्पादन में अपनी अहं भूमिका रखते हैं।

जो व्यक्ति अपने मनोभावों का शिकार होता है, वह बीमारियों को निमंत्रित करता है। बीमारी को मिटाने के लिये चिकित्सक के पास जाने से पूर्व अपना आत्मालोचन कर लेना चाहिये।

भाव चिकित्सा का महत्वपूर्ण सूत्र है – बीमारी का स्वयं निरीक्षण करना। ज्ञातव्य है कि क्रोध, भय, चुगली व निन्दा से बीमारियाँ पैदा होती हैं। अठारह पापों के सेवन से बीमारियाँ होती हैं। ये सावद्य रोग/बीमारियों के उत्पादक हैं। सब अनुभव करते हैं कि जब डर लगता है तो हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, रक्तचाप बढ़ जाता है। बीमारी किसने पैदा की? कीटाणुओं ने या मनोभावों ने? क्रोध के तीव्र आवेश से हृदय की बीमारी हो जाती है। यहाँ तक कि जुगुप्सा, ग्लानि भाव से क्षय रोग तक हो जाता है।

इसी प्रकार घृणा, कपट आदि मनोभाव भी मन के साथ-साथ शरीर को प्रभावित करते हैं। आजकल तनाव शब्द बहुत प्रचलित हो गया है। औद्योगीकरण के साथ-साथ तनाव भी उतना ही तेजी से बढ़ रहा है। शारीरिक श्रम से उतना तनाव नहीं बढ़ता जितना मानसिक उलझनों से। जो अंततः शरीर की अस्वस्थता का कारण बनता है। मानसिक तनाव के और भी कारण हो सकते हैं, परन्तु उसके प्रतिकार का प्रमुख साधन है कायोत्सर्ग। चूंकि मन को सरल बनाना स्नायविक तनाव से मुक्ति पाने का प्रथम सोपान है।

मन की शक्ति

संसार में सर्वाधिक प्राथमिक आवश्यकता है – शक्ति की। शारीरिक शक्ति के

लिये भी मन की शक्ति का होना जरूरी है। मन का वल टूटते ही शरीर का वल टूट जाता है। मन मजबूत होता है तो शरीर भी साथ देता है, मन दुर्वल हुआ तो शारीरिक शक्तियाँ भी क्षीण होने लग जाती है। शक्ति का संचय और सुरक्षा का उपाय है तनाव से बचना। मानसिक तनाव मन की शक्ति को और भावनात्मक तनाव आत्मा की शक्ति को क्षीण करता है।

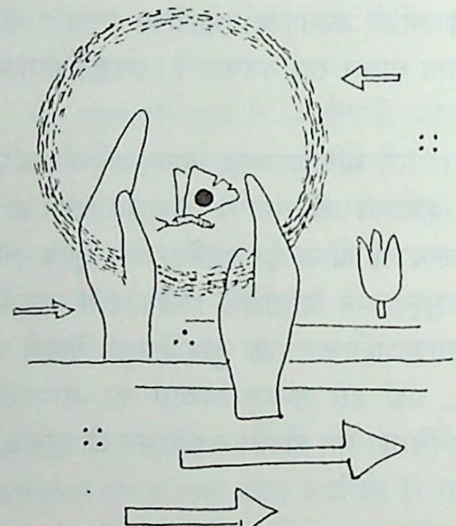
शक्ति का सबसे बड़ा रहस्य है – शरीर और मन दोनों का एक साथ रहना। जिसने दूसरों को जीता और अपने आपको नहीं जीता वह दुर्वल है। मन और इच्छाओं को जीतना वहुत बड़ी लड़ाई है। प्रत्येक व्यक्ति का मन इन शक्तियों को संजोए हुए है। हम मन की शक्तियों से परिचित नहीं हैं। उसमें असीम शक्तियाँ हैं। यदि हम मन की शक्तियों से परिचित हो जाएँ, उन्हें विकसित कर लें, तो क्या नहीं हो सकता? आवश्यकता है मन को पटु, कुशल और सहिष्णु बनाने की। उसे इस तरह प्रशिक्षित करने की जिससे कि हम शारीरिक और मानसिक शक्तियों का संतुलन बनाए रख सकें। कहा भी गया है कि – 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।' मन किसी भी अप्रिय घटना से ऐसा तड़प जाता है जैसे चारों ओर से लाल चींटियों द्वारा डसा जाता घायल सर्प तड़पता है। बदला और प्रतिशोध तो चंचल मन की क्षुद्र कल्पनाएँ हैं।

प्रतिशोध से भरा मन यदि अवरूद्ध भावनाओं की खदबदाती दल-दल है तो प्रेम से भरा मन का हिमालय जो गंगा के हिमालय पर्वत से भी ऊँचा है। मन की ऊँचाई के आगे हिमालय भी वौना है। इसलिए मन सुदृढ़ और प्रशिक्षित अश्व की भाँति होना चाहिए। सुदृढ़ मन प्रशिक्षित इन्द्रिय और संयमित शरीर में ही टिक सकता है। मन को आकाश पाताल के **कुलावें मत मिलाने दो**। मानव मन विचारों का विश्वविद्यालय है; यहाँ उसे सम्यक् विचारों का अभ्यास कराओ। अभ्यास की किसी भी मन्जिल पर निराश मत होओ। सच्चा मन ही तुम्हारा, हमारा, सबका सच्चा साथी है।

⌘ ⌘

आख्यान नहीं आचरण है : अहिंसा

हम सब एक ही पृथ्वी पर जी रहे हैं। एक ही सौर मण्डल से श्वास ले रहे हैं। अंतर्नक्षत्रीय विकिरण हम सबको प्रभावित कर रहा है। प्रकृति ने ही हमें एक साथ रहना और जीना सिखलाया है किन्तु मनुष्य के अवचेतन मन से जुड़ा हुआ अहंकार है और उसी से मिलने वाला रस, मनुष्य को प्रकृतियों के नियमों से दूर धकेल रहा है। हमने बहुत सारी धारणाएं-मान्यताएं पाल रखी हैं। इन्हीं कल्पनाओं, मान्यताओं के ताने-बानों से बुनी चादर को ओढ़कर हम घूम रहे हैं। वास्तविकता से हमारा वास्तव में कोई वास्ता नहीं है।



कल्पना के चोगे को उतारो

आज मानव की भोगवादी वृत्ति से जाने-अनजाने हिंसा को प्रोत्साहन मिल रहा है। चारों ओर अशान्ति के घोर बादल छाये हुए हैं। यदि व्यक्ति शान्ति से जीना चाहता है तो उसे सर्वप्रथम अहिंसा और त्याग के महत्व को समझना होगा। मात्र समझना ही नहीं; स्वीकारना भी होगा और करना होगा आचरण की चेतना का

विकास। यदि अहिंसा आचरण में न लाये केवल विचारों और वाणी में उसका अस्तित्व रहे तो यह वैसा ही हुआ; जैसे हजारों जीवों को मारकर गो-दान। हमारे मन में, हमारे विचारों में घनघोर अशान्ति व्याप्त हो और हम विश्व शान्ति की बात करें तो आप ही बतलाइए शान्ति हमारे मन, परिवार, समाज, राष्ट्र, देश में किस द्वार से भीतर प्रवेश करेगी? कल्पना के चोगे को उतारे विना विश्व शान्ति का स्वप्न साकार नहीं हो सकता क्योंकि कल्पना का चीर इतना पतला है कि तुम उसमें से देख तो सकते हो किन्तु वास्तविकता से अनभिज्ञ, सूने ही रह जाते हो।

लौटो वहीं से जहाँ से चले थे

आश्चर्य होता है मानव के दो तरफा विचारों पर। वह शान्ति का इच्छुक है। उसे शान्ति पाने की गहरी तड़प है फिर भी अशान्ति से क्यों घिर जाता है? जब-जब इस पर विचार करता हूँ इसका एक ही समाधान पाता हूँ कि शान्ति का अमोघ शस्त्र है अहिंसा, जिसे हमने खो दिया है। विचारों की अहिंसा, आचरण की अहिंसा से हमने अपने आपको मोड़ लिया है; हिंसा के एक ऐसे खतरनाक मोड़ पर जहां भूल भूलैया है, घुमाव है साथ ही दलदल भरी सुहावनी फिसलन एवं अंधकार। आप क्या सोच रहे हैं? आप इन दुर्घटनाओं से बच जाएंगें। ध्यान रखिए! बच न सकोगे। हम बहुत आगे बढ़ चुके हैं हमें जरूरत है पीछे बहुत पीछे लौटने की, जहां से हमने चलना शुरू किया था।

तोड़ो धागा ममत्व का

अहिंसा का प्रारंभिक रूप हमें समझना होगा। उसकी कोई लंबी-चौड़ी परिभाषा नहीं है। अहिंसा कोई नारा नहीं है, कोई धर्मान्धता, कोई पन्थ, कोई वाद नहीं है। महज वह एक स्वस्थ विचार है। अहिंसा तो जीवन है। मानव मात्र के जीवन की तर्ज है, जो केवल 'जी कर' पहचानी जा सकती है। अहिंसा की जन्मभूमि है मनोवृत्ति। सिर्फ हमें भीतर झांकने की आवश्यकता है। जब इंसान भीतर झांक लेता है तब ममत्व का धागा टूट जाता है और तब आदमी अनजाने अहिंसा से जुड़ने लगता है, लेकिन इससे विपरीत जब आदमी, आदमी के प्रति जागता है अपने प्रति सो जाता है तब ममत्व का धागा रबर की तरह फैलता चला जाता है और वह सिमट कर केवल अपने तक सीमित रह जाता है। परिणाम स्वरूप स्वार्थपूर्ति से हिंसा बढ़ जाती है। पुनः हिंसा से हिंसा वैसी ही बढ़ती चली जाती है, जैसे बैर-से-बैर। हजारों वर्षों से मनुष्य इस शाश्वत सत्य से परिचित है फिर भी हिंसा एवं बैर की पुनरावृत्ति क्यों हो रही है? यह प्रश्न रहस्यमय है, गांभीर्य है; पर अजेय नहीं।

इसका समाधान खोजा जा सकता है। चूंकि हिंसा के आगे अहिंसा हतप्रभ नहीं हो सकती।

अहिंसा के वस्त्र बदल दिए

आज हिंसा को मनुष्य ने मान्यता दे दी है और इसकी पुष्टि भी सरलता से किये जा रहा है। आज संहारक अस्त्रों के अनुसंधान में हजारों वैज्ञानिक समर्पित हैं। उसने हिंसा के वस्त्रों को बदल लिया है, जैसे कुरूपता की देवी ने सौन्दर्य की देवी के वस्त्रों को बदल कर पहिन लिया था।

एक प्रसंग है – एक बार सौंदर्य और कुरूपता दोनों देवियां झील के किनारे वस्त्र रखकर झील में नहाने उतर गई। स्वभावतः सौन्दर्य की देवी को पता भी न था कि उसके वस्त्र बदले जा सकते हैं। दरअसल सौन्दर्य को न वस्त्रों का भान रहता है न ही देह का। सौन्दर्य को बाह्य सौंदर्य की आवश्यकता भी क्या है? कुरूपता को अपना देह-बोध होता है। उसे वस्त्रों की आवश्यकता अपनी कुरूपता छिपाने के लिए पड़ती है। उसे छिपाने का उपाय भी खोजती है। कुरूपता की देवी उस दिन उपाय खोज ही बैठी, जब सौन्दर्य की देवी झील में बहुत दूर स्नान करते निकल गई। कुरूपता की देवी ने मौका पाया, सौन्दर्य की देवी के वस्त्र पहने और चलती बनी। सौन्दर्य की देवी जब झील से बाहर आई तो हैरान हो उठी क्योंकि उसके वस्त्र नहीं थे सुबह हो चुकी थी। मजबूरी में उसे कुरूपता के वस्त्र पहनने पड़े।

जोर पकड़ते प्रयोग

ठीक वैसे ही वैज्ञानिकों ने अहिंसा का चोला बदल दिया है। उनकी प्रयोग-शालाओं में जाओ तो हैरान हो जाओगे; कितने चूहे मारे जाते हैं। कितने मेंढ़क काटे जाते हैं। कितनों की चीर-फाड़ की जा रही है। कितने केचुओं का डिसेक्शन होता है। कितने खरगोश और बन्दरों की आँखें प्रयोगों में अन्धी की जाती है। यह सब होते हुए भी उनका पक्का ख्याल है कि वे हिंसा नहीं कर रहे; वरन् आदमी के लिए, अनुसंधान के लिए सब कुछ कर रहे हैं। एक-एक देश के पास आज विनाशकारी सामग्री है। विज्ञान उसे अपना आविष्कार कहती है, भविष्य की सुरक्षा कहती है। उसी सामग्री में से जिस दिन किसी का दिल-दिमाग काबू में न हो और एक ही बम का विस्फोट कर दे तो सारा विश्व; जो विनाश के कगार पर खड़ा है, पता नहीं चलेगा एक पल में ही विनाश के गर्भ में खो जाएगा।

हिंसा के अनुसंधान, प्रशिक्षण और प्रयोग प्रतिदिन जोर पकड़ते जा रहे हैं और हमारा अहिंसा-देवता किसी कोने में बैठा सिसक रहा है। हिंसा के विकास को रोकने

के लिए हमारे पास अहिंसा का कोई शक्तिशाली मंच नहीं है। इसलिए अहिंसा निस्तेज होती जा रही है। हम केवल अहिंसा के कोरे सिद्धांतों की वाचनिक चर्चा द्वारा, आख्यान द्वारा हिंसा के विराट मुँह फाड़ें खड़े साम्राज्य से लोहा नहीं ले सकते। आज देश को अहिंसा के आचरण की नितांत आवश्यकता है। इसके बिना शान्ति की कल्पना वैसी ही धूर्तता की पराकाष्ठा होगी जैसे चम्पक पुष्प गुलाब बनने की झूठी कोशिश करे या गेंदा का फूल सूरजमुखी बनने की व्यर्थ नादान प्रयास करे।

आवाज हृदय से नहीं उठी

हिंसा के विरोध में कुछ लोग आवाज तो उठाते हैं परन्तु हिंसा के नगाड़ों की आवाज में अहिंसा की बांसुरी की आवाज सुनाई नहीं देती। कुछ अहिंसक लोगों में अहिंसा के प्रति ईमानदारी की कमी भी स्पष्ट दिखलाई देती है। वे अहिंसा का जयघोष तो करते हैं परन्तु वह उनकी आवाज कण्ठ से उठी आवाज होती है, हृदय से उठी हुई नहीं। अहिंसावादियों से अनुरोध है कि वे अपना कर्त्तव्य समझें। अहिंसा को निवीर्य न बनने दें। हताश न हों। अंधकार था, है, और रहेगा। इसे दूर करने के लिए आदमी ने दीपक जलाया था, जलाता है और भविष्य में भी जलायेगा। अंधकार और प्रकाश दोनों की सत्ता त्रैकालिक है। ऐसा संभव नहीं है कि अंधकार हो और प्रकाश का उपाय न हो। इसी प्रकार हिंसा का त्रैकालिक अस्तित्व होने पर भी अहिंसा उसका उपाय है, उसकी आधार शिला, बैक-बोन भी है।

अहिंसा की अतल गहराई में उतरकर महावीर ने एक अद्भुत रत्न खोज निकाला था – अपरिग्रहवाद। स्मरण रखो! अपरिग्रह की साधना के अभाव में अहिंसा टिक नहीं सकेगी। अपरिग्रह तत्त्व हमारी आंखों से ओझल है, जिसे महावीर ने भीतरी हिंसा से लड़ने के लिए मनुष्य के हाथ में थमाया था। बाहर की हिंसा रोकने के लिए प्रेम का तत्त्व दिया था क्योंकि वे समझते थे कि सहृदयता का अभाव, ऊँच-नीच का दर्प, घृणा और आतंक ये हिंसा के बीज हैं, और जब तक ये हैं तब तक मानवीय एकता, समानता और प्रेम के मूल्यों का विकास नहीं होगा। ये बीज फलते-फूलते रहेंगे। उनके विष फलों को चखकर जीव-जगत स्वयं मरता रहेगा और दूसरों को भी मारने से नहीं चूकेगा। शक्ति शस्त्र-सज्जा में ही नहीं, अभय में ही है।

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः

जहाँ अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है, वहाँ पर जन्मजात बैर-विरोधी जीव अपने बैर का त्याग कर देते हैं। सर्प-नेवला एक साथ खेलने लगते हैं। बिल्ली, चूहे को

दुलारती है। नेवला सर्प से प्यार करता है एवं सिंह और गाय एक घाट पर पानी पीते हैं। पुरूदेव चम्पू में बड़ा सुन्दर रूपक है – जब ऋषभदेव वन में विराजमान थे तब उन्हीं के निकट से जिसके कोमल-कोमल बाल थे ऐसी एक चमरी गाय गुजर रही थी। उसके केश झाड़ी के कांटों में उलझ गए। गाय सोचती है यदि झटका दूंगी तो बाल टूट जायेंगे। वह वहीं खड़ी हुई थी कि एक सिंह उसके समीप पहुंच गया और अपने तीखे-पैनें नखों से कौतुक पूर्वक बालों को सुलझाने लगा; यह है अहिंसा की पराकाष्ठा। जीव मात्र के प्रति वात्सल्य भावना का प्रभाव। जिनकी सन्निधि मात्र बैर-त्याग का निमित्त बन गई।

क्या कमल आग से प्रसूत हुआ है?

वस्तुतः 'अहिंसा' धर्म की आत्मा है। उसके बिना धर्म की वही स्थिति है जो सूर्य बिना दिवस की। तैल बिना दीपक की एवं चैतन्य बिना देह की। दूसरों के अधिकारों को कुचलना, दूसरों पर अनुशासन करना, धोखा देना, कष्ट पहुंचाना, दास बनाना इत्यादि प्रवृतियाँ हिंसा के रूपान्तरण हैं। अहिंसा न डरना सिखलाती है न डराना।

अहिंसा प्रेम की पर्याय है और इसी अहिंसा प्रेम की पर्याय थी एक सहृदय नारी अंजना। जब उस निरपराध सती को उसकी सासू केतूमती ने दोषी ठहराकर गर्भस्थ स्थिति में गहन जंगल में छुड़वा दिया तब वह धैर्य की देवी; वात्सल्य मूर्ति अहिंसा का अवतार अंजना उस भीमाटवी में अहिंसा धर्म का आश्रय ले काल यापन करने लगी। जहाँ दिन में भी निविडान्धकार था। जहाँ जहरीले नागमणि विषधर अपने विकराल मुखों विष-फेन/झाग उगल रहे थे। ऐसे विषधरों से आकीर्ण भयानक जंगलों में जहाँ आँखों/हाथों को हाथ भी नहीं सूझ रहे थे वहाँ वह मंगलमूर्ति अंजना चली जा रही थी। उसने अनुभव किया उसके पैरों तले कोई गुदगुदीदार मुलायम वस्तु रेंग रही है वह निर्भय थी "जब मेरे मन में किसी के प्रति द्वेष नहीं है तब मेरे प्रति किसी को द्वेष क्यों होगा" ऐसी स्नेह पूर्ण भावना से आप्लावित वह सिद्धान्त वेत्ता अनुपल आगे बढ़ती जा रही थी। अचानक नागों ने अपने फण ऊपर की ओर उठाये। उनके मस्तक के चमकते मणि प्रकाश में उसने देखा कि मैं विषधरों की अटवी में हूँ। वह किंचित भी भयभीत नहीं हुई और न ही विषधरों ने उसे किंचित भी कष्ट पहुँचाया। चूंकि वनभूमि विषधर से इतनी व्याप्त थी कि तिल मात्र रिक्त स्थान न होने के कारण उसे विषधरों पर पैर रखकर जाना पड़ा। वह विषधरों के बदन पर दयापूर्ण पैर रखती हुई जंगल पार कर गई। यह है दया, प्रेम और अहिंसा पूर्ण भावों का सम्प्रेषण। जिनके अहिंसक भावों के समक्ष विषधर भी निर्विष हो गये।

अंजना के समान ऐसे ही अनेक प्रसंग मिलते हैं जो कि छदमस्थों के जीवन से सम्बन्धित हैं। शकुन्तला जब अपने पति दुष्यन्त द्वारा विस्मृत कर दी गई तब वह भी जंगल में ऋषि-आश्रम में जीवन बिता रही थी तब क्रूर हिंसक प्राणी मित्र बनकर उसका दिल बहलाया करते थे। और वह 'सत्वेषु मैत्री' के सूत्र प्रकृति की गोद में वन्य प्राणियों के मध्य जिया करती थी। सच है जब प्रेम का दायरा निस्सीम हो जाता है तब ऐसी ही स्थिति निर्मित होती है।

जीसस कहता है – love is god – प्रेम परमात्मा है। पर वह प्रेम जो असीम हो जो 'सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं' का मधुर संगीत गुनगुनाता हो। **सीमित प्रेम घृणा से अछूता नहीं रहता** क्योंकि सीमित प्रेम के पीछे मिश्रित रूपेण घृणा की छाया चलती ही रहती है। जो कमल जल में उत्पन्न होता है क्या वह आग से प्रसूत हो सकता है? अमृत से प्राप्त होने वाला अमरत्व क्या विष से मिल सकेगा? यदि नहीं, तो क्या सीमा युक्त प्रेम अथवा पक्ष व्यामोह से ग्रसित प्रेम अहिंसा का रूप ले सकता है? नहीं; कदापि नहीं।

अहिंसा आख्यान नहीं आचरण है

अहिंसा हरीतकी के समान है। जैसे हरड उदरस्थ विकारों को दूर कर देती है; वैसे ही अहिंसा भय-विरोध, उद्वेग-उत्तेजना, असहिष्णुता-असंतुलन, चिन्ता-ईर्ष्या, क्रोध और द्वेषादि सभी विकारों को नष्ट कर देती है। अहिंसा अभय बनाती है क्योंकि अभय के विना अहिंसा का अवतरण हो ही नहीं पाता। अहिंसा और भय की कभी एक दिशा नहीं होती। जिसमें अहिंसा का तेज विद्यमान है वह न स्वयं का हनन करता है न ही दूसरों का। कारण, हिंसा जीवमात्र का स्व-धर्म नहीं विधर्म है और विधर्म में प्रवेश की अपेक्षा मृत्यु श्रेष्ठ है। जैसे जीवों की आधार स्थली पृथ्वी है वैसे ही जीवन-दर्शन की अधिष्ठात्री अहिंसा है। तीर्थङ्कर जैसा उच्च पद अहिंसा के उत्कृष्ट परिपालन की फलश्रुति है। अहिंसा एक कवच है; उस कवच के संरक्षण से छूटा व्यक्ति परितः असुरक्षित हो जाता है।

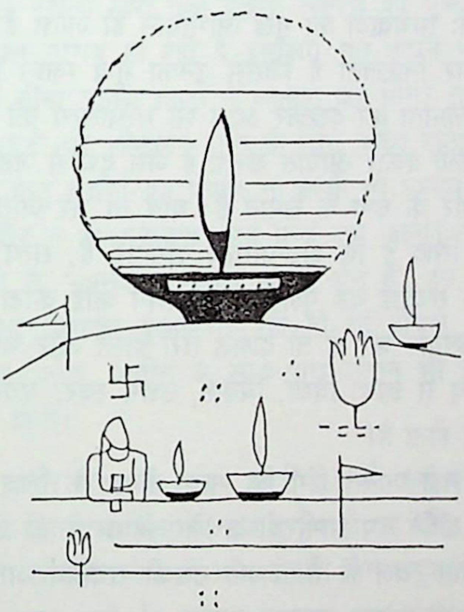
अहिंसा के आचरण से मनुष्य दीर्घायुष्क, भाग्यशाली, श्रीमान, सुन्दर रूपवान, कीर्तिमान, धी सम्पन्न एवं कुलीन होता है। अहिंसा की प्रतिष्ठा से पर्याप्त बल एवं निरोग शरीर की प्राप्ति स्वतः हो जाया करती है। जिसका हृदय प्रदेश अहिंसा से प्रक्षालित है, उसके कर तल में सुगति नामक रत्न विद्यमान है अर्थात् उसकी सद्गति सुनिश्चित ही है। इससे विपरीत 'पतन्ति नरके जीवा लोह पिण्डवदम्भसि' प्राणियों के प्राण विघात से प्राणी कर्मभार से इतने वजनदार/भारी हो जाते हैं कि वे जल में लौह पिण्ड की तरह सीधे नरक बिल में जा पड़ते हैं।

जैसा कि पूर्व में कहा है कि शक्ति शस्त्र सज्जा में ही नहीं प्रत्युत् अभय में भी है। 'है' मात्र नहीं अपितु हिंसा से अधिक तेजस्वी शक्ति है अहिंसा एवं अहिंसा धर्मी में। जहाँ चरम अहिंसक पहुंच जाते हैं, वहाँ उनकी परिणामों की निर्मलता के फलस्वरूप षड् ऋतु के फल-फूल एक साथ असमय में फलित हो जाते हैं। उनके शरीर से स्पर्शित वायु भयंकर रोगों को नष्ट कर देती है। उनका मल-मूत्र भी औषधि से अधिक प्रभाव शाली कार्य करता है। क्या ऐसी शक्ति किसी हिंसक या हिंसा के उपकरणों में विद्यमान हैं? पराक्रम केवल शरीर और शस्त्र में नहीं वरन् मन में होता है। अहिंसा मात्र नीति नहीं, आत्म धर्म भी है। इसे छोड़कर अन्य बातें सोची ही नहीं जा सकती हैं। मैं भारतीय नागरिक को यही परामर्श, आदेश, आशीर्वाद दूंगा कि हिंसा के प्रतिकार एवं अहिंसा संवर्धन के लिए शक्ति का संचयन करें और विनाश के कगार पर खड़े विश्व के सामने आदर्श प्रस्तुत करें।

⌘ ⌘

जीवन का चरम आदर्श : सत्य

सत्य नकारात्मक है और होना भी चाहिए क्योंकि उसमें कुछ खोना ही है। उपलब्धि पाजेटिव होगी। विधायक होगी। जो मिलेगा वह वास्तविक होगा। और हमें जो कुछ खोना है वह वही खोना है जो वस्तुतः हमारा नहीं है। अंधकार खोना, प्रकाश पाना है। असत्य खोना है, सत्य पाना है। इससे एक बात और ख्याल में लेनी जरूरी है कि नकारात्मक शब्द इस बात की खबर देते हैं कि सत्य हमारा स्वभाव है। उसे पाया नहीं जा सकता; वह है ही। असत्य अर्जित है, स्वभाव नहीं। असत्य आचरण के लिए कुछ करना पड़ता है। मनुष्य झूठ के साथ समझौता करके जीवन की कितनी बड़ी सम्पदा नष्ट कर देता है जो उसे भी ज्ञात नहीं है।



भ्रम खुलने लगते हैं

असत्य एक्सीडेन्ट है, संयौगिक है। वह हमारे जीवन का प्रवाह नहीं हो सकता है। जैसे सूरज की धूप शाम आते-आते मुरझा जाती है वैसे ही असत्य के तिरोहित

होते ही हमारे सारे भ्रम खुलने लगते हैं और उस सच्चाई से परिचय होने लगता है जिससे हम आज तक अपरिचित थे। सत्यभाषी तो जीवन-भर सत्य भाषण कर सकता है, करता ही है परन्तु असत्यभाषी जीवन भर क्या; चौबीस घण्टे भी असत्य नहीं बोल सकता। उसे शीघ्र ही किसी वर्तुल के भीतर आ सत्यभाषी बनना ही पड़ता है जल की तरह। जल कितना भी गर्म क्यों न किया जाए लेकिन वह अपने समय की सीमा रेखा के भीतर नियमतः अपने शीतल स्वभाव में परिणत हो ही जाता है।

असत्य : दूध में जहरवत्

सचमुच ही 'सच्चं हि लोयम्मि सारभूयं' लोक में सत्य ही सारभूत, श्रेयस्कर है। सत्य मन को परिशुद्ध करता है। सत्य के सामर्थ्य से सत्यवादी मनुष्य वाक् सिद्धि को प्राप्त करता है। उसके मुख से निकला वचन व्यर्थ नहीं जाता। आगम शास्त्रों में उल्लेख है कि सत्य की ज्योति प्रकाशमय शुभ्र होती है और असत्य का रूप अन्धकारमय श्यामल होता है। इसलिए जो सत्य बोलता है उसके मुख से आभा निकलती है। फलतः सत्यवादी का मुख आभावान हो जाता है एवं झूठ बोलने वाले के मुख से अन्धकार निकलता है जिससे उनका मुख म्लान हो जाता है। मुख का तेज और उसकी म्लानता को देखकर आज भी सत्यासत्य की मीमांसा की जाती है। थोड़ा-सा झूठ भी उसी प्रकार आघात करता है जैसे दूध में जहर की एक बूंद।

असत्य तलवार के घाव के समान है। घाव तो भर जाता है परन्तु दाग कभी नहीं छूटता। अतः सिद्ध है कि झूठ-असत्य दागदार है, सत्य है बेदाग। महत्त्व की बात तो यह है कि सच्चाई वह गुलजार है जिसमें कोई कांटा नहीं। ऐ दिल! अगर तू सच्चाई को अख्तियार कर ले तो दौलत तेरी दोस्त और भाग्य तेरा मददगार बन जाएगा क्योंकि सत्य से ज्ञान, विद्या, विवेक, उत्तम स्वर, वचन-चातुर्य, वादित्व एवं उत्तम कवित्व प्राप्त होता है।

शायद आप नहीं जानते होंगे कि सत्य; विद्या के लिए कामधेनु, शत्रुता की सर्वप्रसिद्ध औषध, कीर्ति रूप भागीरथी के लिए हिमालय का उन्नत तट है। सरस्वती का तो अनुपम क्रीड़ा स्थल ही है। लक्ष्मी उसकी सर्वप्रिय आज्ञानुवर्तिनी सुकन्या है और प्रतिष्ठा है उसकी ज्येष्ठा तनुजा।

आज परिस्थितियों ने सत्य पर प्राण-घातक हमला कर दिया है। सत्य, सत्य ही रहेगा। उस पर असत्य की छांव भले ही पड़े पर उसे झुठलाया नहीं जा सकता। कोहरा चाहे जितने बड़े समारोह के साथ प्रकाश को ढँक भी दे फिर भी कोहरा, कोहरा ही रहेगा। असत्य सावित हो जाएगा। ध्रुव सत्य का सूर्य तो अपनी प्रखर प्रभा-पुंज से सदा चमकता रहेगा। क्या रवि-रश्मियों को किसी बाह्य स्पर्श से मलिन

करना संभव है? नहीं। सत्य सदैव एक समान रहता है। नौ अंक के पहाड़े की प्रत्येक संख्या के योग के समान। सत्य वचन तो ज्ञान देवता भगवती सरस्वती का वरदान है। जिसे पाकर जिन्दगी खुशहाल हो जाती है। गाँधी जी कहा करते थे –

वाणी में सत का ताप लिए जो निकल पड़ा है खाली हाथ ।
इतिहास साक्ष्य है उस मानव के चल पड़े सभी हैं एक साथ ।।

झगड़े की जड़ जुबान भी

वाणी में सत्य के साथ हित मित एवं प्रियता का सम्पुट आवश्यक है। जिसकी वाणी मीठी है उसके सभी साथी हैं। नीति भी है 'जुवां शीरी तो मुल्क गीरी'। वाणी का सबसे बड़ा दूषण है कटुता और असत्यता। वचन कटुता ने रामायण और महाभारत जैसे वृहद ग्रन्थों की रचना करवा डाली। पद्मपुराण के अनुसार यदि सीता दण्डकारण्य में छलिया मरीचि द्वारा छल वचनों लक्ष्मण को पुकारे जाने पर लक्ष्मण के प्रति "तुम्हारी नियत खराब हो रही है इसलिए तुम अपने भाई राम की रक्षार्थ नहीं जा रहे हो" जैसे तीखे वाक्य वाणों ने लक्ष्मण को भीतर तक वेध दिया। और सीता को अकेला पंचवटी पर छोड़कर जाने के लिए वाध्य होना पड़ा। शायद सीता लक्ष्मण के प्रति इतने कटु वचनों का प्रयोग न करती तो सम्भव था सीता अपहरण का प्रसंग न बनता और न ही रामायण जैसा ग्रन्थ रचा जाता। महाभारत का कारण सर्व विदित है। द्रौपदी के "अन्धों के अन्धे ही तो होते हैं" इन दुर्वचनों ने दुर्योधन को मर्माहित कर डाला जिसका दुष्परिणाम ही तो था द्रोपदी का चीर हरण एवं महाभारत। अस्तु 'जर, जोरू, जमीन के साथ-साथ जुबान भी झगड़े की जड़ है।' कहना अन्योक्ति नहीं होगी।

हित मित प्रिय वचन सत्य के सजग प्रहरी हैं। जो कम बोलेगा स्वाभाविक है वह सत्य बोलेगा। यदि किसी व्यक्ति में लाख दुर्गुण हो पर यदि वह सत्यवादी है तो सारे दुर्गुण उसे अकेला छोड़कर वैसे ही भाग जायेंगे जैसे मयूर की केका सुन चन्दन वृक्ष से लिपटे भुजंग भाग जाते हैं। हजरत मुहम्मद कहा करते थे "अगर तुम मेरे हाथों पर चांद और सूरज लाकर भी रख दोगे तो भी मैं सत्य से विचलित नहीं होउंगा" क्योंकि वे जानते थे –

धरम न दूजा सत्य समाना ।
आगम निगम पुराण बखाना ।।

अतः श्रेयस्कर तो यही होगा कि समय रहते इन्सान सुबह की तरह सच्चाई की श्वांस लेने लगे तो वह अज्ञान अंधेरे के घेरे से निकलकर ज्ञान के विशाल उजले प्रभामंडल में आ जाएगा।

सत्य : सर्वोत्तम नीति

मनुष्य ने जीवन के हर क्रिया-कलाप में दोहरी नीतियां अपना ली हैं। सत्य जो सर्वोत्तम नीति थी, उसे छोड़ कथनी और करनी में वैसे ही भेद रेखाएं खींच ली हैं जैसे दो समानान्तर रेखाएं कितनी ही लंबी क्यों न बढ़ती जाए परन्तु आपस में कभी नहीं मिलती। मेरे समक्ष इन ज्वलंत प्रश्नों का पिशाच खड़ा हुआ है कि क्या कथन और आचरण कभी आपस में मिलेंगे या नहीं?

झूठ की उम्र लम्बी नहीं

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में चिन्तनधारा ही पलट गई है। सम्यक् विचारों की नौका पता नहीं किस तूफानी समुद्र में विलीन हो गई है। **'मन मैला तन उजला'** की सभ्यता दिल दिमाग पर शैतानी प्रेत की तरह अपना प्रभुत्व जमा रही है। सारे सिद्धांत, सारे आदर्श उलट-पलट कर दिए हैं। संतोष-प्रिय को प्रमादी और निकम्मा; सरल और ईमानदार को मूर्ख तथा पिछड़ेपन का प्रमाण पत्र दिया जा रहा है। जितना आडम्बरी, कुटिल और चालाक होता है, समाज में उतना प्रतिष्ठित माना जाता है। विद्वान की उपाधि दी जाती है। चापलूस को योग्य लोगों की परिगणना में गिना जा रहा है। जो जितना अधिक बकवादी होगा वह उतना ही श्रेष्ठ वाचस्पति, वक्ता, भाषण-केसरी, ज्ञानी कहलाएगा। किन्तु लोग यह नहीं जानते कि सत्य के आधार बिना झूठ नहीं चल सकता।

स्थिति का आंकलन तो कीजिए ढोंगी को नीतिज्ञ, हंसी-मजाक करने वाले को शालीन, व्यवहार कुशल और अधिकारों का दुरूपयोग करने वालों को समर्थ समझा जाता है। किन्तु स्मरण रखना! झूठ की उम्र अधिक लम्बी नहीं होती। झूठ फानी है; सच अफानी है। सत्य को यदि झूठ की जिल्द से मढ़ दिया जाए तो इससे न केवल सच्चाई की प्रताड़ना होगी वरन् वह झूठ एक वजनदार पत्थर की तरह दुगुने वेग से आघात करेगा। कभी-कभी देखकर आश्चर्य होता है कि विख्यात प्रसिद्धि प्राप्त विद्वान भी स्वार्थ-मोह को प्रधानता दे, बुनियादी सुदृढ़ सत्य को भी फूंक से उड़ाने का विनोदपूर्ण दुस्साहस कर बैठते हैं। उनका आधा सत्य असत्य से भी ज्यादा खतरनाक होता है।

सत्य वस्तु का नग्न रूप

बंधुओं! सत्य को सजाने की आवश्यकता नहीं है। सजाने से तो उसकी सुन्दरता कम होती है। सत्य तो वस्तु का नग्न रूप है। वह अपने आप में इतना स्पष्ट और अनावृत है कि उसका यथार्थ रूप जब कभी पहचाना जा सकता है। जगत् में सत्य से सुन्दर दूसरी वस्तु नहीं है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम' का अर्थ यह नहीं कि वे तीनों अलग-अलग हैं वरन् इसका अर्थ है सत्य; शिव और सुन्दर है। सत्य है जहां; ईश्वर है वहां। जब सत्य ही शिव है; ईश्वर है तव उस शिव से सुंदर और कौन होगा? सत्य बहुत विराट है। उस विराटता को शब्दों में बांधना एक साहसिक प्रयत्न है। आदमी अनंत-आकाश को बांधकर अपना घर बना लेता है। सूर्य-किरणों का केन्द्रीकरण कर उससे प्रकाश एवं आग उत्पन्न कर लेता है। तब हम क्यों न सत्य के आंचल को पकड़ उसका स्पर्श कर उसकी विराटता को जानने की कोशिश करें? क्योंकि सत्य कोई नियम, उपनियम नहीं अपितु जीवन की मूर्त साधना है। श्रुत और संयम का आस्पद है। विद्या, विनय एवं वाणी का आभूषण है। चारित्र तथा ज्ञान का बीज है। सत्य 'शान्ति' से भी अधिक अनर्घ है। उसे शान्ति की कीमत पर नहीं वेचा जा सकता। कारण, जहाँ सत्य सुरक्षित है वहां शान्ति स्वयं सुरक्षित है। यदि सत्य प्रतिपल हमारे साथ है तो हम कभी आत्म बल नहीं खो सकते। चूंकि सत्य में सदाचार का अखण्ड रूप समाया हुआ है। उसमें से कुटिलता नहीं हृदय की सरलता बोलती है। यह सच्चाई है कि सत्य जीव मात्र की नैसर्गिक प्रकृति है। बालक के जीवन में सत्य का सहज अवतरण होता है जबकि बड़ा होने पर उसे सत्य की शिक्षा देनी पड़ती।

सत्य का सर्वश्रेष्ठ अभिनन्दन

सत्य वह तथ्य है जिसके बिना व्यक्ति अपने प्रति किसी का भी विश्वास उत्पन्न नहीं कर सकता। सत्य की यात्रा वही कर सकता है जो नई लकीरें खीचनें का उद्दाम, साहस रखता हो। कारण सत्य के प्रयोगों में अपनी प्रशंसामय महत्वाकांक्षाएं स्थान नहीं पाती हैं। कुण्ठित चेतना सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकती। सत्य का पौधा दिखने में भले ही लघु हो किन्तु उसमें जो सौन्दर्य है वह असत्य के दिखावटी, बनावटी विशाल वट वृक्ष में भी नहीं है। सत्य एक निर्धूम अग्नि-ज्वाला है जो किसी भी झोंके से नहीं बुझ सकती। बशर्ते वह सत्य मुख और जबान से नहीं, हृदय और आचरण से निकला हो। सत्य की शोभा आचरण में है, वचन में नहीं। अतः सत्य का सर्वश्रेष्ठ अभिनंदन यही होगा कि हम उसको आचरण में लायें। सत्य में सदाचार का अखण्ड रूप समाया हुआ है। जिसने एक सत्य पा लिया वह हजारों-लाखों

पण्डित-विद्वानों से भी महान है। सत्याचरण के अभाव में श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम सैद्धान्तिक, वैदान्तिक, वैज्ञानिक ज्ञान दो कौड़ी के बराबर भी नहीं है। सत्याचरण से विहीन व्यक्ति को शास्त्र, वेद, ऋचाएँ बाइबल की आयतें या अन्य धर्म ग्रन्थ पवित्र नहीं कर सकते। कहा भी है – 'आचार हीनं न पुनन्ति वेदाः।' महानुभाव! मुख की शोभा ताम्बूल राग अथवा लिपिस्टिक आदि नहीं; मुख की शोभा तो सत्य वचन ही है। कलियुग का बहाना बना लोग सत्यधर्म से कतरा रहे हैं। जब तक आपके सिर पर कलियुग का भूत सवार रहेगा, तब तक आप सत्य का वास्तविक रूप ग्रहण नहीं कर सकेंगे। इसलिए आप यह सोचकर चलें कि अभी सतयुग चल रहा है और हमें सतयुग में सत्य की साधना करनी है। सत्य काल के आगोश में नहीं समाता। वह तो कमल की तरह सदा निर्लिप्त रहता है। मन्दिर, मस्जिद, गिरजे, गुरूद्वारे तो टूट-टूट कर खण्डहर में बदल जाते हैं परन्तु सत्य विचार, सत्य वचन, सत्य धर्म कभी नष्ट नहीं होते। इन पर काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अस्तु; अनुचित दबाव के सामने सत्य का गला घोंट देना आध्यात्मिक पराजय है।

⌘ ⌘

जीवन का दीप स्तम्भ : अचौर्य

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं ।
न हरित यन्न च दत्ते तदकृश चौर्यादुपारमणम् ।।

किसी की निहित, रखी हुई, पड़ी हुई अथवा अतिशय रूप से विस्मृत अर्थात् जिसकी उसे किसी प्रकार की तनिक-सी भी स्मृति न हो ऐसी वस्तु का अग्रहण अचौर्य है। अविसृष्ट यानि अदत्त। किसी के धन या वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा के बिना न स्वयं लेना और न ही अन्य किसी को देना। यह अचौर्य महाव्रत नहीं, वह तो न कृशः इति अकृशः अर्थात् स्थूल चोरी का परित्याग रूप अचौर्याणुव्रत है। इन्हीं वस्तुओं का कृश-अकृश, स्थूल-सूक्ष्म त्याग कहलाता है अचौर्य महाव्रत।



चोरी का आध्यात्मिक अर्थ

चोरी का आध्यात्मिक अर्थ है जो अपना नहीं उसे अपना घोषित करना। हर व्यक्ति जीवन भर अचौर्यव्रती भले बना रहे, कभी किसी की चोरी न करें फिर भी

वस्तुओं को जो उसकी अपनी नहीं है उसे अपना अवश्य घोषित करता है। श्रीमद् भागवद् गीता में कहा है –

> भ्रियते यावज्जठरं, तावत्स्वत्वं हि देहिनां ।
> अधिकोयोभि मन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति ।।

जितना पेट भरने के लिए आवश्यक है वही व्यक्ति का अपना है और उसे उतना ही संग्रह करने का अधिकार है। जो इससे अधिक संग्रह करता है वह चोर है। दण्ड भाक् है।

ईश्वरवादी कहते हैं – ईश्वर ने मनुष्य को मेहनत करके खाने के लिए बनाया है और जो मेहनत किए बगैर खाता है वह चोर है।

हिंसा का एक आयाम है परिग्रह। कारण, इसे संचयन करने के लिए हिंसक बनना प्रथम शर्त है। सब जानते हैं हिंसक हुए बिना परिग्रही होना वैसा ही असंभव है जैसा काजल की कोठरी से बेदाग लौटना। अब तय ये कीजिए कि आखिर अचौर्य का गल भंजन कर चोरी कब और क्यों जन्म ले लेती है? तब आप सीधा साफ उत्तर पायेंगे। जब आपकी परिग्रह व्यवस्था विक्षिप्त हो जाती है तब जन्मती है आपके हृदय तल पर चोरी की भूमिका। संक्षिप्त में कह दूं तो परिग्रह-विक्षिप्तता ही चोरी है क्योंकि अचौर्य तो है अपरिग्रह का स्वस्थ शरीर। यदि आपका परिग्रह स्वस्थ होगा तो धीरे-धीरे आप में अपरिग्रह जन्म ले सकता है। परिग्रह संकलन में केवल दो ही रूप जन्म लेते हैं – एक परिग्रह विक्षिप्तता, दूसरा चोरी। स्वस्थ परिग्रह शनैः शनैः दान में परिवर्तित होने लगता है और अस्वस्थ परिग्रह चोरी के रूप में। हां-हां चौंकिए मत। आपको एक प्रसंग से परिचय करा दूं ताकि आप भली-भाँति समझ जायेंगे कि परिग्रह से चोर कैसे जन्मता है?

क्या कभी सुना ऐसा न्याय?

चीन में एक विचित्र किन्तु सम्यक् विचारों का समर्थक विचारक हुआ। एक बार उसे राज्य कानून मंत्री बनाया गया। कानून मंत्री होते ही पहले दिन अदालत की कुर्सी पर बैठा। इत्तफाक, चोरी का एक मुकदमा आया। एक आदमी ने चोरी की थी। चोरी के माल सहित चोर पकड़ा गया। उसे प्रस्तुत किया गया और उसने अपराध स्वीकार भी कर लिया। हां मैंने चोरी की है।

उस विचारक ने चोर की बात को बड़े ध्यान से सुना और कहा जरूर दण्ड दूंगा। फैसला हुआ निर्णय लिखा गया। चोर और साहूकार दोनों को छह-छह माह की सजा।

इतना सुनना था कि सबके दांतों तले अंगुली आ गई। ऐसा न्याय, ऐसा फैसला कभी किसी ने नहीं सुना था।

साहूकार बोला – मंत्रीजी! आपका दिमाग सही है? आप कहीं पागल तो नहीं हो गए। आपने तो दुनियां का रिकार्ड ही तोड़कर रख दिया। क्या कभी साहूकार को दण्ड मिला है?

विचारक ने कहा – नहीं मिला इसीलिए तो ये नौबतें दिन-प्रतिदिन बढ़ती चली जा रही हैं। जब तक सिर्फ चोरों को सजा मिलती रहेगी तब तक दुनियां में कभी चोरी बन्द नहीं होगी। तुमने गांव की सारी सम्पत्ति एक कोने में इकट्ठी कर रक्खी है। अब गांव में चोरी नहीं होगी तो क्या होगा? आदमी कितने दिन तक चुप रह सकेंगे। चोरी नहीं वह उनकी मजबूरी होगी। मैं दोनों को दण्ड दूंगा क्योंकि चोर पीछे पैदा हुए हैं, शोषण पहले। 'शोषण' ही चौर्य कर्म और चोर का जनक है।

चोरी का मूल : शोषण और बेईमानी

पूरा हिन्दुस्तान चोर होता जा रहा है और सारे नेता गला फाड़-फाड़कर चिल्लाते हैं; चोरी नहीं होनी चाहिए, भ्रष्टाचार नहीं पनपना चाहिए, यह तो वैसा ही असम्भव है जैसे सारे फटे आकाश में थिगड़ा लगाना। भ्रष्टाचार बढ़ेगा, चोरियां होंगी, बेईमानियां पनपेगी क्योंकि चोरी आदि अपराधों का सबसे बड़ा मूल स्रोत शोषण और बेईमानी जारी है। क्या कभी ऐसा हुआ है कि सब ओर से आगमन के स्रोत खुले हों और पानी का टेंक पानी से न भरे, जबकि पानी न रिसने की भी बड़ी सावधानी रखी गई हो? आज सारा वातावरण परिवर्तित हो गया है। यहां सब ओर नकली मिलावट ही मिलावट नजर आ रही है। किसी को भी दूसरे को धोखा देने का डर नहीं है। धोखे की कुरूपता, गन्दगी और उसकी दुर्गन्ध का कोढ़ चारों तरफ दिखाई दे रहा है।

सारा वातास रूग्ण एवं आग लगा हुआ सा ज्ञात हो रहा है। किसी के वस्त्र में आग लग जाये तो तुरन्त उसी क्षण उतार फेंकेगा। फेंकने के लिए मिनिट-दो-मिनिट तो क्या एक सेकंड भी विचार नहीं करता कि कपड़े नए हैं, सुन्दर हैं। इन्हें कल उतारकर फेंक दूंगा, आज नहीं। जैसे शरीर सुरक्षा हेतु एक पल का विलम्ब बर्दाश्त नहीं; वैसे ही अपने धर्म, जाति, समाज, देश की सुरक्षा के लिए अपने विचारों को सुधारने में विलम्ब क्यों? विचारों की कलुषता-अस्वस्थता एवं विचारों की निर्मलता-स्वस्थता ही हमें कर्म बन्धन में डालती है और उससे मुक्ति भी दिलाती है। सर्वत्र रिश्वत चल सकती है, चलती भी है पर कर्म सिद्धांत किसी की रिश्वत स्वीकार नहीं करता।

मन चोरी कितनी सूक्ष्म

एक स्थान पर एक घड़ी रखी है। एक व्यक्ति ने मन ही मन सोचा कितनी सुन्दर है। मन होता है इसे ले चलूं। बस इतना सा भाव उसके अचौर्य धर्म को समाप्त कर देता है, जो आपकी पकड़ के बाहर है। यदि वह वचन प्रणाली का आश्रय ले यह कह दे, भाई साहब! यह घड़ी कितनी सुन्दर है? कब खरीदी थी? सपोज यदि उसे कोई और उठा ले जाए तब आप सोच सकते हैं, हो न हो कहीं ऐसा तो नहीं अमुक व्यक्ति उसकी प्रशंसा कर रहा था वही तो नहीं ले भागा। आपकी दृष्टि में वह चोर हो गया। हो सकता है इस विषय में आप उससे चर्चा भी करें। मन की चोरी सूक्ष्म थी। उसे किसी ने नहीं पकड़ा था कर्म सिद्धांत के अतिरिक्त।

स्थूल चोरी है ललचाई आँखों से वस्तु का ग्रहण

वाचनिक चोरी स्थूल चोरी थी क्योंकि किसी की निगाह में वह कदाचित् चोर, अपराधी सिद्ध हो चुका था। भले ही प्रमाणाभाव में हो सकता आप उसे दण्डित न कर सकें किन्तु जैसे ही आप कायिक चेष्टा देखते हैं कोई व्यक्ति ललचाई आंखों से बार-बार कनखियों से घड़ी की तरफ देख रहा हो तो आप उसे टोक सकते हैं "प्लीज़ डोन्ट लुक" वह झेंप जाता है क्योंकि उसने स्थूलतर चोरी की है। इससे एक कदम आगे बढ़कर कोई व्यक्ति घड़ी को टच कर लेता है, उठाकर छुपा लेता है तो आप उसे झट पकड़ लेते हैं जैसे अग्नि को टच करते ही आग उसे जला देती है। विष को चखिए आपको मार देगा। तलवार की धार को टच कीजिए आपके हाथ को रक्त रंजित कर देगी। वैसे ही ललचाई आंखों से देखकर वस्तु को उठा लीजिए कि आप कानून की दृष्टि से अपराधी सिद्ध हो जायेंगे। सामाजिक, राजनैतिक दण्ड दिया जायेगा। यह है स्थूलतम चोरी का रूप।

सबसे बड़ा थर्मामीटर कर्म सिद्धान्त

स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम चोरी चोर को दण्डित कर भी सकती है और रिश्वत लेकर छोड़ भी सकती है। चोर अपने आपको सबकी आंखों में धूल झौंक धोखा दे, अपने को साहूकार भी सिद्ध कर सकता है किन्तु जो मन के माध्यम से सूक्ष्म चोरी हुई है उससे न आप बच सकते हैं न अन्य कोई भी व्यक्ति, जिसने चोरी का भाव पैदा किया है। चूंकि कर्म सिद्धांत सबसे बड़ा सूक्ष्म थर्मामीटर है। जो आपके भावानुसार आपको अचौर्यव्रती नहीं चोर धर्मी कहेगा।

अचौर्य का सुरक्षा कवच

जैन दर्शन का अचौर्य बड़े ऊँचे दर्जे का है। आचार्य उमास्वामीजी तत्वार्थ सूत्र में कहते हैं –

शून्यागारविमोचितावास परोपरोधाकरणभैक्ष्य शुद्धि सद्धर्माविसंवादाः पंचः ।

यदि अपने अचौर्य धर्म को सुरक्षित, निर्मल रखना चाहते हों तो शून्य आगारों में अथवा किसी के द्वारा त्यक्त आवासों में निवास कीजिए। कोई व्यक्ति, जीव जन्तु किसी स्थान पर बैठ गया हो तो उसे उस स्थान से मत उठाइए क्योंकि परोपरोधाकरण अचौर्य धर्म में अतिचार लगाता है। भिक्षा शुद्धिपूर्वक भोजन कीजिए और वह भी अनीहित वृत्ति से क्योंकि 'पेट भरे उतना ही तुम्हारा' है इससे अधिक नहीं। सहधर्मियों के साथ विसंवाद करना चोरी के अन्तर्गत आता है क्योंकि किसी से बलात् उसकी इच्छा के विरूद्ध अपनी बात मनवाना विचारों की चोरी है। इसलिए इन पांचों को अचौर्य का सुरक्षा कवच कहा है।

अचौर्य : देश के उत्थान का सूत्र

चोरी करना तो चोरी है ही किन्तु दूसरों को चोरी के लिए प्रेरित करना, चोरी के उपाय बतलाना, चोरी का माल खरीदना, वस्तु क्रय-विक्रय के लिए अधिक या कम तौल के मान-उन्मान रखना, राज्य के विरूद्ध अतिक्रमण करना अर्थात् टैक्स चोरी, इन्कमटैक्स, सेलटैक्स, बिना टिकिट यात्रा, नाका कर आदि का भुगतान नहीं करना भी चोरी है। जैन दर्शन में देश की सुरक्षा के कितने सुन्दर, विराट सूत्र हैं जो अर्थ व्यवस्था की नीतियाँ अपने गर्भ में संभाले रखे हैं। प्रतिरूपक व्यवहार अर्थात् जिसकी जाति, वर्ण समान है उनमें उसे मिला देना। कम कीमत की वस्तु को मूल्यवान वस्तु में मिलाकर बेचना जैसे – दूध में पानी, घी-तेल में चर्बी, मेडिसनों में समान बे-असरकारी केमिकल्स मिला देना। पता नहीं क्या-क्या मिक्चर का जमाना आ गया है। बच्चे भी आज मिक्चर, कलमी पैदा होने लगे।

सच्चे अर्थों में इन्सान बनिए

हमारा देश, हमारा धर्म जिन आदर्श-स्तम्भों को आधार बनाकर टिका है। उन आदर्शों को दीप स्तम्भ बनाकर उसकी रोशनी में चले तो इन्सान सच्चे अर्थों में इन्सान बन सकेगा। देश का समूचा ढांचा ही बदल जायेगा। चूंकि जैन दर्शन मात्र दर्शन नहीं, विचार नहीं किन्तु आचरण प्रधान दर्शन है और जब आचरण से कोई

विचार आता है तब उसकी सुगन्ध कुछ नया ही आकार लिए होती है क्योंकि आचरण आत्मा से आता है विचार से नहीं। विचार को आचरण में ढालना मुश्किल पड़ता है। हां यह बात अलग है कि बुरा विचार आचरण का स्थान अतिशीघ्र ले लेता है। यदि कोई अपने बुरे विचारों को मूल्य दे तो उसे कौन समझा सकता है? छोटी सी बालिका के नाक, कान छिदवाने में उसे बड़ी तकलीफ उठानी पड़ती है किन्तु स्वर्ण के आभूषणों की आकांक्षा उसे सहर्ष तैयार कर देती है। हम अपने चोर विचारों को जो घुस पैठिए की तरह हमारे भीतर बैठे हैं निकालने की सशक्त कोशिश करें। दूसरे पर थोपने की चेष्टा न करें अन्यथा चोरी जारी रहेगी। अचौर्य आपको उपलब्ध न हो सकेगा।

चोर कर्म से शान्ति की कल्पना व्यर्थ

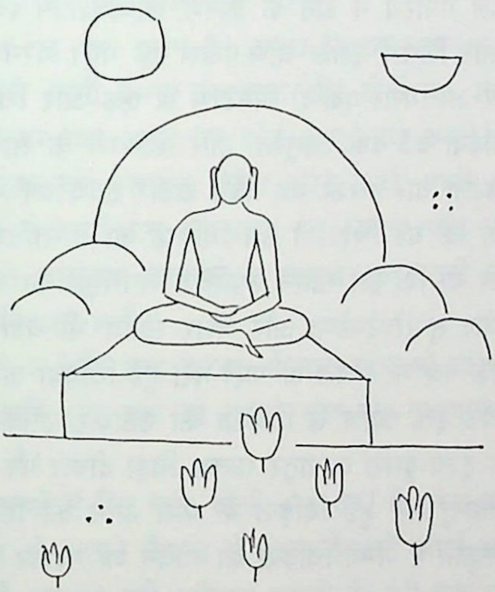
चोरी उपार्जित धन की अपेक्षा दीर्घ-काल तक दरिद्र रहना श्रेयस्कर है। चूंकि मैं विष सहित दूध पीने की अपेक्षा छांछ पीना श्रेष्ठ समझता हूँ। चोर-कर्म द्वारा शान्ति की कल्पना व्यर्थ है। फूल में कांटा, दीपक में धुंआ, विद्या में उच्छृंखलता, चाँद में कलंक, सत्ता में अहंकार, रूप में अभिमान जब अखरता है तब धन संग्रह में चोरी जैसा जघन्य और निकृष्ट कार्य क्यों नहीं अखरता? जरा विचार करो।

⌘ ⌘

जीवन का वास्तविक आनंद : ब्रह्मचर्य

मन्दिर के शिखर पर चढ़े हुए कलश की भांति ब्रह्मचर्य मानव की अन्तिम ऊँचाई है। जिसका अर्थ है समस्त इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण। मन, वचन, कायिक लोलुपता से पूर्णतः मुक्ति।

दूसरा है स्वदार संतोष रूप ब्रह्मचर्य यानि पाप के भय से पर-स्त्रियों के प्रति न स्वयं आचरण करना, न ही दूसरों को गमन कराना। इस महान व्रत की रक्षा से मनुष्य, स्त्री के लिए प्रिय, सुंदर शरीर का धारक, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, वीर्य और सुख का अद्वितीय सागर तथा मुक्ति रूपी वधु के मुख के लिए रत्नमय दर्पण स्वरूप होता है। लोक में राजा इसी ब्रह्मचर्य के तेज से प्रजा की रक्षा करता है।



ब्रह्मचर्य है स्वच्छन्द वृत्तियों पर अंकुश

आचार्य अकलंक देव ने कहा है – ब्रह्मचर्य मानव की स्वच्छंद वृत्तियों पर अंकुश है। जहां यह है वहां जीवन है। निरंकुश व्यक्ति का विकास 'खरविषाण-वत्' है।

आचार्य पूज्यपाद ने व्रत की हिफाजत के लिए कहा है – कि विषय राग बढ़ाने वाली स्त्रियों की कथा श्रवण से बचें। उनके मनोहर अंगों के अवलोकन छोड़ें, पूर्व में भोगे हुए भोगों को स्मृति पटल से उतार फेंके। गरिष्ठ और कामोत्तेजक पदार्थों का परित्याग करें तथा श्रृंगार से मुक्ति लें। और जमाने की हरेक नारी से मां, बहिन, बेटी की तरह व्यवहार करें तो निश्चित ही आत्महित, शील-स्वभाव की बात होगी। यह शील मनुष्य ही नहीं जीव मात्र का स्वभाव है। इसे पालन करने के लिए सारी पृथ्वी एवं नभमण्डल के जीव स्वतंत्र है।

भारत की आदर्श ब्रह्मचारिणी चिड़िया

सुनिए! बारह मार्च 1931 मौण्टगुमरी जेल की बात है। प्रसंग है एक पतिव्रता चिड़िया का। अयोध्या प्रसाद गोयलीय का आंखों देखा चित्रण। अनुमानतः प्रातः आठ बजे होंगे कि एक चिड़िया से एक चिड़ा अकस्मात् लड़ता हुआ देखा गया। चिड़ा उससे बलात्कार करना चाहता था, किन्तु चिड़िया जान पर खेलकर अपने को बचा रही थी। सफल मनोरथ न होने के कारण क्रोधावेश में चिड़ा ने चिड़िया की गर्दन झकझोर डाली। जिससे उसके प्राण-पखेरू उड़ गए। मरने पर चिड़िया ऊंची दीवार से जमीन पर आ गिरी। एक-दो मिनट में ही एक और चिड़ा वहां आया और जमीन पर पड़ी चिड़िया को बड़ी आतुरता और बेकरारी के साथ सूंघने लगा। वह हटाये से भी नहीं हटता था। उसकी वह तड़प कठोर हृदय को भी तड़पा देने वाली थी। मालूम होता था कि यह चिड़ा ही उस चिड़िया का वास्तविक पति था, क्योंकि वह इतना शोकाकुल था कि उसे सामने उपस्थित जनसमूह का तनिक भी भय नहीं था। थोड़ी देर में जेल सुपरिण्टेण्डेण्ट और जेलर साहब भी वहां तशरीफ ले आए। उन्होंने सुना तो उनके नेत्र भी सजल हो गए। मरी हुई चिड़िया को देख-देखकर चिड़ा कहीं प्राण न खो बैठे इस ख्याल से चिड़िया को उठाकर उसकी नजरों से ओझल कर दिया गया। यह दृश्य दूसरा कामातुर घातक चिड़ा दीवार पर बैठा भयभीत हुआ सा देख रहा था, किन्तु मरी हुई चिड़िया के पास आने की हिम्मत न कर सका। धन्य है भारतीय संस्कृति में जन्मी चिड़िया का जीवन जो मरकर भी अमर हो गई।

शर्म से शिर नीचा

दूसरी तरफ देश में फैल रही पाशविक वृत्ति, महिलाओं के प्रति अत्याचार के सम्वन्ध में गृह राज्यमंत्री श्री एम.एम. जैकब द्वारा दिए गए आंकड़ों को देखकर मध्यप्रदेशवासियों का सिर शर्म से झुक जाना चाहिए। पिछले तीन वर्षों के आंकड़ों के अनुसार महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों के मामले में मध्यप्रदेश का स्थान

तीन वर्षों से लगातार सबसे ऊपर रहा है। उसके बाद उत्तरप्रदेश व महाराष्ट्र का नम्बर रहा है। स्मरणीय है कि आदिवासी व हरिजनों पर अत्याचारों के सम्बन्ध में भी मध्यप्रदेश ने सबसे ऊपर रहकर अपनी स्थिति बनाए रखी। वर्ष 1990 में मध्यप्रदेश में महिलाओं के प्रति अत्याचार की कुल 11939 घटनाएं दर्ज हुई थी जो 1991 में बढ़कर 13174 हो गई और जनवरी से जुलाई 92 के दौरान यह संख्या 7991 थी।

एक दुखद तथ्य यह है कि मध्यप्रदेश की घटनाएं तेजी के साथ बढ़ रही हैं और अन्य राज्यों की जनसंख्या के अनुपात में यह संख्या चिंताजनक है। वर्ष 90 में मध्यप्रदेश में 2302 बलात्कार की घटनाएं दर्ज हुई थी, जो वर्ष 91 में बढ़कर 2532 हो गई। जनवरी से जुलाई 92 की अवधि में यह संख्या 1657 थी। वर्ष 91 में मध्यप्रदेश दूसरे स्थान पर रहा, जहां बलात्कार की 1400 घटनाएं दर्ज की गई। बड़ा खेद होता है इन घटनाओं को पढ़ सुनकर। ये घटनाएं एक ऐसे पवित्र देश में हो रही हैं, जहां चिड़िया जैसी पतिव्रता पक्षिणी हुई और रामकृष्ण परमहंस जैसे विवेकी महापुरूष इस धरती की धूल को पावन कर गए।

उनके जीवनवृत्त का एक प्रसंग है। उनका विवाह सम्बन्ध अल्पायु में ही हो गया था। उनकी भावी पत्नी कन्या अवयस्क थी। दोनों का शास्त्रोक्त विधि से विवाह सम्पन्न हुआ। वर पक्ष अपने घर लौट आए। वधू अपने पीहर में ही रही। कुछ समय पश्चात् रामकृष्ण परमहंस विदेश गए। उनकी पत्नी शारदा अपनी मां और पति की आज्ञा से चारों-धाम की यात्रा हेतु निकल गई। आठ वर्ष के बाद लौटकर वे अपने पति रामकृष्ण परमहंस के सम्मुख आई। उन्हें प्रणाम किया और चुपचाप उनकी ओर निहारने लगी।

परमहंसजी बोले – देवी! क्षमा करना, मैं नारी मात्र को मां-बहिन की दृष्टि से देखता हूं। फिर भी यदि तुम कहो तो तुम्हारे सुख हेतु गृहस्थाश्रम में प्रवेश करूं परन्तु मेरी इच्छा नहीं है।

शारदा उनके चरणों में गिर पड़ी, बोली – हे देव! मैं इतना बड़ा पाप नहीं कर सकती हूं। जिस ओर से आपने वैराग्य ले लिया है उसी कांटों भरी राह में, दुःख भरे गृहस्थ मार्ग में; मैं आपको नहीं घसीटना चाहती हूँ। मेरी एक मात्र प्रार्थना है कि संसार से वैराग्य की दीक्षा देकर गुरूत्व के गुरूतर भार से मुझे अनुगृहीत कीजिए। रामकृष्ण परमहंस ने शारदा को दीक्षित कर शिष्य के रूप में जीवन-यात्रा में सहगामिनी बना लिया।

धन्य है उनका जीवन जहां यथोचित कानूनानुकूल, धर्मानुकूल वैवाहिक संबंध हो जाने पर भी अपने देह और आत्मा को विकार कालिमा से सदा-सदा के लिए

अछूता रखा। भर यौवन में जिन्होंने एक-दूसरे को गुरू-शिष्य जैसे पवित्र नेत्रों से देखा। उसी भारत की आज यह शर्मनाक स्थिति। यह आर्य-संस्कृति पर असुर-संस्कृति का आक्रमण नहीं तो और क्या है?

स्वदार-संतोष ब्रह्मचर्य की सीमा रखने वाला गृहस्थ भी ब्रह्मचारी माना गया है। किन्तु स्वदार के अतिरिक्त अन्य से कामुक सम्बन्ध रखना ब्रह्मचर्य की मर्यादा के विपरीत है। भारतीय सभ्यता की आचार संहिता के अनुसार पाप कर्म है, निषिद्ध कर्म है। और है सामाजिक दृष्टि से असामाजिक कुकृत्य। शारीरिक दृष्टि से भी स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद कर्म है।

ब्रह्मचर्य एक, लाभ अनेक

महर्षि चरक ने चरक संहिता में उल्लेख किया है – 'ब्रह्मचर्यमायुष्कराणां श्रेष्ठम्' ब्रह्मचर्य को आयु वृद्धि करने वाले तत्वों में श्रेष्ठतम कहा है।

अष्टांग हृदय सूत्र में भी इसी बात पर प्रकाश डाला गया है।

स्मृति मेधायुरारोग्य, पुष्टीन्द्रिय यशोबलैः ।
अधिकामन्द जरसो, भवन्ति स्त्रीषु संयताः ।।

स्त्री संसर्ग के विषय में संयमी रहने वाले पुरूष की स्मरण शक्ति, मेधा, आयु, आरोग्यता, पुष्टि, इन्द्रिय शक्ति, शुक्र, कीर्ति और शक्ति सभी बढ़ी हुई रहती है तथा उनको बुढ़ापा भी देर से आता है। ब्रह्मचर्य और स्मरणशक्ति का बहुत निकट का सम्बन्ध है। यदि इन्हें जुड़वां भ्राता-भगिनि कहा जाए तो अन्योक्ति नहीं होगी। प्रायः लोगों के मुख से सुनने में आता है कि आयु वृद्धि के साथ-साथ स्मरण शक्ति क्षीण होती जाती है परन्तु ब्रह्मचर्य के साथ की गई विद्याराधना आयु की वृद्धि के साथ क्षीण न होते हुए अन्तिमावस्था तक एक-सी पाई गई है। स्वामी विवेकानन्द जैसे महापुरूष इसकी मिसाल हैं।

ब्रह्मचर्य स्मरण शक्ति का स्रोत

एक बार स्वामी विवेकानन्दजी के समक्ष पुस्तकालय के लिए 'ब्रिटेनिका विश्व कोष' खरीदने का प्रश्न आया। उस समय वे संयोग से बीमारी का आतिथ्य स्वीकार कर रहे थे। उपचार के समाधान में मन पुष्ट किन्तु शरीर दुर्बल हो गया था। पुस्तकें खरीदी गई, उन्होंने उसी स्थिति में उनका अवलोकन प्रारंभ कर दिया। कुछ समय पश्चात् एक सज्जन स्वामीजी के पास आए। स्वामीजी के सम्मुख बहुत सी सुन्दर-सुन्दर पुस्तकों का ढेर देखा तो व्यंगात्मक भाषा के लहजे में बोले – स्वामीजी!

जीवन में इतनी पुस्तकें पढ़ लेना तो दुष्कर है। पूछने को तो उसने पूछ लिया। इस बात का अनुमान लगा लेना कि जिन पुस्तकों के सम्बन्ध में वे पूछ रहे हैं, उनका वे अध्ययन चुके हैं। इसकी कल्पना उसकी अल्पबुद्धि से परे थी। वैसे ही जैसे कूप मण्डूक को विशाल सागर की कल्पना करना बुद्धि से बाहर होती है।

स्वामीजी ने सज्जन की बात सुनी और धैर्य से मुस्कुराते हुए बोले – आप यहां रखी प्रत्येक पुस्तक से जहां से चाहे प्रश्न पूछ सकते हैं।

वह खोखली हंसी हंसता हुआ बोला – ठीक है। महाशय ने एक-एक कर कई पुस्तकों से सम्बन्धित प्रश्न किए। स्वामीजी ने प्रत्येक प्रश्न का सटीक उत्तर दिया। यहां तक कि उस ग्रन्थ की भाषा एवं लिपि भी सुना दी। वह व्यक्ति इतनी विशाल स्मरण शक्ति देखकर आश्चर्य में पड़ गया।

स्वामीजी बोले – महानुभाव! आश्चर्यचकित क्यों होते हो? शायद आप राज (रहस्य) जानना चाहते हैं? तो जानिए! 'केवल एक ब्रह्मचर्य पालन करने से ही सर्व विद्याएं स्मरण हो जाती हैं।' ब्रह्मचर्य जैसे उदात्त, अनुशासन पर्व की अवहेलना के परिणाम-स्वरूप देश समस्याओं से जूझ रहा है।

आतंकवाद का हल ब्रह्मचर्य

विचारों का पतन ही देश के पतन की अहं भूमिका है क्योंकि जो व्यक्ति जिसके अंग नहीं ऐसे अनंग को नहीं जीत सकता; वह देश की समस्या का समाधान क्या करेगा? देश के अंगभूत उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, असम, कश्मीर आदि-आदि भयावह ज्वलंत समस्याओं का निदान क्या निकालेगा? ऐसा नाकाम, कायर प्रकृति-पुरूष अज्ञात, अविद्या, राग-द्वेष-मद, इन्द्रिय चपलता, स्वार्थवृत्ति इत्यादि भीतरी समस्याओं से कैसे उभर सकेगा? जिनके पीछे वह पागल हो रहा है यह उसकी नासमझी है। जब इन्द्रियां अपना समाधान नहीं ढूंढ सकीं तब वे तेरा समाधान क्या ढूंढेंगी? अतएव स्वयं के समाधान के लिए आत्मिक शक्तियों को बलवान् बनाना नितांत आवश्यक है और उसके लिए पूरक है – ब्रह्मचर्य-जात मनोबल।

ब्रह्मचर्य अहिंसा के प्रासाद का सिंहद्वार

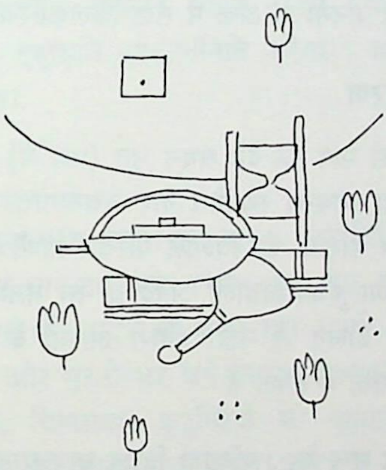
जिस प्रकार संयुक्त मन्त्र-बल के विषधर वश में किए जाते हैं उसी प्रकार ज्ञान भावना से नित्य अभ्यास पूर्वक मन रूपी हस्ती को वश में किया जा सकता है। तभी ब्रह्मचर्य जीवन प्राप्त होगा क्योंकि ब्रह्मचर्य जीवन परम पुरूषार्थ मय जीवन है। परमात्मा के राज्य में प्रिय बनने का एवं जीवन का वास्तविक आनंद उठाने का राज

है। ब्रह्मचर्य अन्तर्ज्योति है। जीवन का सौन्दर्य है। 'सर्वव्रतशिरोरत्नं ब्रह्मचर्यमुदीरितं,' ब्रह्मचर्य को सभी व्रतों का चूड़ामणि रत्न कहा है। ब्रह्मचर्य अहिंसा के प्रासाद का सिंहद्वार है। स्वस्थ जीवन और दीर्घ जीविता के लिए ब्रह्मचर्य संजीवन है क्योंकि ब्रह्म के रस से जीवन में ओज और तेज बना रहता है। जिस समाज में जितने अधिक ब्रह्मचारी होंगे वह समाज उतना ही स्वस्थ, ऊंचा और गौरवान्वित होगा। ब्रह्मचारी मरकर भी अमर है और कामुक जीकर भी मुर्दा है इसलिए ब्रह्मचर्य जीवन है, अब्रह्म ही मृत्यु है।

⌘ ⌘

मुक्ति का हिमायती : अपरिग्रहवाद

प्रकृति के कुछ विचित्र नियम भी हुआ करते हैं। जिस केन्द्र विन्दु से यात्रा प्रारंभ होती है कभी-कभी वहीं आकर यात्रा की पूर्णता/अन्तिम विश्राम होता है या यूं कहिए करना पड़ता है। पंचशील की यात्रा अहिंसा से प्रारंभ होकर एक ऐसे धरातल पर आकर ठिठक गई है जो स्वयं अहिंसा का धरातल है। अहिंसा की बैकवोन है। अपरिग्रहवाद के क्षेत्र में मनुष्य ऊपरी बहुत ऊपरी सतह पर खड़ा है। वह कुछ समय धर्म के स्वर आलाप लेता है और शेष जीवन की रेल को शोषण की पटरियों पर बेधड़क दौड़ा देता है। अपरिग्रह को समझने के लिए उसके दूसरे पहलू को समझना होगा जिससे हम अपरिचित हैं अथवा समझकर भी अनजाने बने हुए हैं।



परिग्रह का अर्थ

वस्तुओं पर मालकियत, पजेसिवनेस, स्वामित्व की आकांक्षा। जिसे आचार्य उमास्वामी ने मूर्च्छा, आसक्ति और परिग्रह कहा है। अब देखना होगा कि आपके पास कितनी वस्तुएं हैं? उन वस्तुओं से किस दृष्टि से व्यवहार करते हैं? किस भांति आप उनसे सम्बन्धित हैं। यह सब नजरिए पर निर्भर है। आज आदमी वस्तुओं के ही नहीं बल्कि व्यक्तियों के भी पजेसिव होते हैं। वे हिंसक हैं चूंकि हिंसा बिना

परिग्रह के नहीं होती। हिंसा कई रूपों में अवतरित होती है। जैसे परिग्रह के संरक्षण-संवर्धन से। असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प एवं वाणिज्य से दूसरे नम्बर पर वे हिंसाएं आती हैं जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु या व्यक्ति पर मालकियत की घोषणा करता है। तब वह उसी क्षण गहरी हिंसा में उतर जाता है क्योंकि दूसरे का हनन, अनधिकार चेष्टा हिंसा है। 'प्रमत्तयोगात्प्राण व्यपरोपणं हिंसा' यह हिंसा का स्थूलतम रूप है।

ईसाई संत पीटर का वाक्य

'परिग्रह हमारी दृष्टि में पाप रूप है। जिस किसी भी प्रकार से जितना भी परिग्रह का पिण्ड छूटे उतना ही पाप का बोझ हल्का होगा।'

याद रखिए! अणु मात्र परिग्रह से मोह की गांठ दृढ़ होती है। उससे धैर्य का विप्लव करने वाली परिग्रह की अधिष्ठात्री तृष्णादेवी पुरिपुष्ट हो कामपुत्र को जन्म देती है और काम, क्रोध को। क्रोध, हिंसा नामक कन्या का जनक है। हिंसा का तनुज; अशुभपाप अपनी जननी के अंक में सदा किलकारियां मारता रहता है।

परिग्रह विग्रह का कारण

जब जननी स्नेह से पाप की देह सघन भूत (पक्ष में) मजबूत हो जाती है तब वह नरकगति से अपना सम्बन्ध स्थापित कर वचनागोचर दुःख की संततियों को जन्म देता है। इस प्रकार परिग्रह का विशाल परिवार प्राणी मात्र पर अपने साम्राज्यी पंजे फैलाये हुए है। तृष्णालु की लचीली आंखें या तो संतोष से भर सकती हैं; या कब्र की मिट्टी से, धन दौलत से नहीं। हमारी आस्था के शिखर गुरूवर आचार्य विद्यासागरजी सुनीति शतक में कहते हैं –

परिग्रहो विग्रह मूल हेतुः, परिग्रहो विग्रह भाव धाता ।
परिग्रहो विग्रह राजमार्गः, परिग्रहोऽनेन विमुच्यते सः ।।

यह परिग्रह प्रत्येक जिंदगी में नूतन देह का कारण है। बैर, कलह का जनक है। चतुर्गति में प्रवेश पाने का राजमार्ग है। इस पर शनि देवता का विचरण होता है। जो इस परिग्रह को छोड़ते हैं, वे आत्मार्थी ही आत्मसाधना कर सकते हैं, परिग्रहवान् नहीं। परिग्रह रूप पंक में निमग्न होकर जो मुक्ति की चेष्टा करता है वह मूर्ख फूल के बाणों से सुमेरू को भेदना चाहता है। क्या कभी एक वृषभ दो बैलगाड़ियों में एक साथ जुत सकता है? क्या परिग्रह की संकीर्ण गली एवं मोक्ष के राजमार्ग पर एक

साथ विचरण किया जा सकता है? गणितीय तरीकों से उत्तर लाने पर उत्तर ऋणात्मक ही आयेगा। फिर भी अपने आपको ज्ञानी मानने वाले पुरूष परिग्रह/वस्तुओं में सुख बतलाते हैं तो वे विष मिश्रित दुग्ध पान को दीर्घकाल तक जीवित रहने का कारण क्यों नहीं कहते?

दुख का कारण झूठी मालकियत

मैं ऐसे प्रतिपक्षियों के समक्ष घोषणा करता हूं यदि मनुष्य के पास परिग्रह नहीं होता तो निश्चय से दुःख का अंश भी उसके पास नहीं फटक सकता परन्तु खेद है तीन लोक का अधिपति वस्तुओं का गुलाम बन उसकी दासता की बेड़ियों से बाहर नहीं आ रहा है। दुनियादारी में फंसा व्यक्ति वस्तुओं पर ही नहीं व्यक्तियों पर भी मालकियत जता रहा है। पति मालिक है पत्नी का। सेठ मालिक है नौकर का। पिता मालिक है पुत्र का। गुरू मालिक है शिष्य का। और मालिक शब्द का अर्थ है – स्वामी अथवा स्वामित्व की आकांक्षा। जहां स्वामित्व है वहीं तो है मालकियत। वहीं तो पनपता है परिग्रह। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इन सबको सचित्त परिग्रह की कोटि में रखा है। 'परितः गृह्णाति आत्मानमिति परिग्रहः' जो आत्मा को सब ओर से जकड़ ले वह है परिग्रह।

मूर्च्छा महाभूत

एकदा एक बन्दर कूद-फांद, उछल-कूद करता हुआ विपिन में उस जगह पहुंच गया, जहां एक घड़ा रखा था। उसे देख बन्दर बहुत खुश हुआ। वह घड़े के पास गया। देखा घड़े में चने रखे हैं। बन्दर तो बन्दर था। अपनी स्वाभाविक चपलता के कारण घड़े में हाथ डाला और मुट्ठी भर चने निकालने लगा। मुट्ठी घड़े के मुख में फंस गई। वह घबराया, चिल्लाया। कुटुम्बियों को आवाज दी। मुझे बचाओ, ब..चा..ओ। प्राणों के रक्षा की भीख मांगने लगा। अरे! रे! मुझे घड़े के अंदर बैठे प्रेत ने पकड़ लिया है। मेरे परिजनों! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो! परिवार के सदस्यों ने जब आर्तनाद सुना तो वे उल्टे पैरों भागे आए। सबने दृश्य देखा। उनमें एक अनुभवी वृद्ध बन्दर था – बोला बेटे! मुट्ठी खोल दो, हाथ आपों-आप बाहर आ जाएगा। घड़े के अंदर कुछ नहीं है। तुम्हें किसी और ने नहीं पकड़ा। स्वयं तुम अंदर से चनों को पकड़ रखे हो। इसलिए हाथ बाहर नहीं निकल पा रहा है। बन्दर ने मुट्ठी खोल दी। चणक छूट गए। हाथ बाहर आ गया। वह खुशी से उछल पड़ा। इसी तरह सिकंदर भी वस्तुओं को पकड़े था, हिटलर भी और साथ-ही-साथ आप भी पकड़े हुए हैं। पर मजे की बात तो ये है कि वे भी जानते थे और आप जानते हैं

कि मैं वस्तुओं का मालिक नहीं हूं फिर भी अटके हैं वस्तुओं में। यह है मूर्च्छा। जिसे कहते हैं परिग्रह।

गुलामी दो तरह की

वस्तुतः यही है मालिक और गुलाम में फर्क। एक की गुलामी दृश्य है। दूसरे की गुलामी अदृश्य है। लेकिन ध्यान देने की बात है, हम जिसे गुलाम बनाते हैं वह हमें ही गुलाम बना लेता है (दि पसेजर बिकम्स दि पजेस्ड)। परिग्रह खोज है/अनुसंधान है इसका कि मैं अब मालिक कैसे होऊं?

परिग्रह ने जीवन की बुनियादी रीढ़ ही तोड़ दी है। पैसों में दीवाना गाजर-मूली की तरह कट रहा है।

देश को शिर नहीं डालर की जरूरत

अमेरिका का एक प्रसंग है। एक महाशयजी अपनी कार में बैठकर मार्निंग वॉक के लिए जा रहे थे। सामने से एक व्यक्ति रिवाल्वर लिए आया। बंदूक की नोक गर्दन के ऊपर रखकर बोला – "ऐ मिस्टर! दस हजार डालर दीजिए नहीं तो शिर उड़ा दिया जाएगा।" कार में बैठा सज्जन बोला – "ओ.के. मिस्टर! उड़ा दीजिए शिर। आज देश को शिर की नहीं डालर की जरूरत है, डालर की।" वहीं रास्ते पर डालर पड़ा मुस्करा उठा। पूछा – "क्यों मुस्करा रहे हो?" तो बोला – "देखो! जो मुझे देखता है वही उठाने लगता है। इसी का तो ये द्वंद चल रहा है आप दोनों के बीच। परन्तु मैं हूं कि जिसकी जेब में जाता हूँ उसी का हो जाता हूँ। हर कोई मुझे अपना बनाने की कोशिश करता है। मजा तो यह है कि जिसकी कोशिश में कसर रह जाती है वह मेरे लिए रो देता है/तड़प जाता है जबकि मैं किसी का भी नहीं होता हूँ। मेरे पास किसी का लिहाज नहीं पलता। जो मुझे लेता है उसके पास बेखटके चला जाता हूं।" सच है धन किसी का नहीं होता लेकिन आदमी धन का जरूर हो जाता है और इसी से बढ़ता है मानसिक तनाव – हाइपरटेन्शन। फैलती हैं बीमारियां। आज कीटाणु जन्य बीमारियां कम हैं, तनाव युक्त बीमारियां अधिक।

प्रत्येक घण्टा बंधा रूपये की सांकल से

जैसे पांच-सात मिनट के अंदर इन्सान एक माला में एक सौ आठ दानें बदल लेता है, फेर लेता है वैसे ही परिग्रह के संरक्षण, संवर्धन में इन्सान चौबीस घंटों में उनचासों चेहरे बदल लेता है। उसका प्रत्येक घंटा रूपए की सांकल से बंधा है। जरा ठहरिए! सोचिए! यह कोई अधिक लम्बी दूरी तक साथ देने वाला मार्ग है? हो

सकता है; आप जिन्दगी भर इसी राह पर चलते रहें क्योंकि आपकी पीढ़ियां पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही हैं। किन्तु जब आप चिंतन के मूड में होंगे तो पायेंगे कि ये ढेर-के-ढेर पड़े पदार्थ न मेरे लिए हैं, न मेरे थे, न हो सकेंगे।

मुक्ति के हिमायती को जिसे महावीर ने पहले ही अहिंसा की पीठ पर लिखा दिया था, ऐसे अहिंसा के अविभाज्य अंग 'अपरिग्रह' का आचरण अनिवार्य है। परिग्रह पंगु है। वह जीवन की ऊंचाइयों को नहीं चढ़ सकता। क्योंकि तराजू का भरा पलड़ा निम्नगामी होता है और खाली पलड़ा उर्ध्वगामी होता है। इसलिए उर्ध्वगामी होने के लिए अपरिग्रह की महत्ता को समझना आवश्यक ही नहीं नितान्त अनिवार्य है। अन्यथा उससे अनजान बने रहने पर इन्सान आत्म-बोध की प्रथम सीढ़ी पर ही खड़ा रह जाएगा।

अणुबम नहीं अणुव्रत चाहिए

महावीर ने जिन्हें पंचशील के नाम से पुकारा, वे जीवन के दैनिक नियम हैं। क्या कोई चाहता है युद्ध हो, कलह हो, आगजनी हो, मनुष्य मनुष्य को मारे। झूठ बोले, विश्वासघात करे। उसका माल छीने-लूटे। चलती राह उसकी बहू-बेटियों को छेड़े। कोई मखमली गद्दियों पर सोए। आलीशान वैभव झांकते महलों में ऐश करे और कोई फटेहाल फुट-पाथों पर खानाबदोशी की तरह दाने-दाने को मोहताज हो? यदि नहीं, तो ये ही हैं महावीर के पंचशील-पंचाणुव्रत, पंच महाव्रत। स्थिति दयनीय है। हर मज़हब के पास अपना मेटाफिजिक्स/अध्यात्म है और उसी अध्यात्म की रूह में कैद हैं ये पंचशील। खेद है ये मनुष्य की रूह में नहीं उतर पा रहे हैं और आज केवल जो उतर रहे हैं, वे हैं विस्फोटक अणुबम। जिन अणुबमों की देश को आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है महावीर के पंचाणुव्रतों की।

भाग्यवादी भगवान को ही देखते रहते हैं कि भगवान कब पानी बरसाएगा और हम खेती करेंगे। किन्तु पुरूषार्थी नहरों से सम्बन्ध जोड़ वर्ष में तीन फसलें ले निहाल हो जाते हैं तथा ऊपर देखने वाले आलसी कर्त्तव्य विमूढ़ हाथ मलते ही रह जाते हैं। लक्ष्मी, उद्योग करने वाले श्रेष्ठ पुरूष को प्राप्त होती है। सो उद्योग करो दैव को दृष्टि में रखते हुए। कारण उद्यमशील मनुष्य, सुन्दर मित्र और गजराज पर चलने वाले राजा की सम्पत्ति को पाता है किन्तु उद्यम रहित मृत्यु को।

आज का पुरूषार्थ कल का भाग्य

पुरूषार्थी के पैरों में पद्म रेखा प्रस्फुटित होती है तथा भाग्यवादी के पैर की गज रेखा गृहस्थी के गन्दे वातावरण में धूमिल हो जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि

पुरूषार्थ से भाग्य का निर्माण होता है क्योंकि वर्तमान का पुरूषार्थ ही भविष्य का भाग्य बनकर उपस्थित होता है। और इसीलिए तो भाग्य को पुरूषार्थ से बदल भी सकते हैं। जिसे जैनसिद्धांत ने कहा है कर्म संक्रमण। देखिए! किसी व्यक्ति को 105 डिग्री बुखार है और यदि वह सम्यक् पुरूषार्थ कर धर्मसभा में धर्मोपदेश सुनने आ जाता है तथा धर्म श्रवण की रूचि से अपने बुखार का स्मरण भी नहीं करता तो परिणाम यह निकलता है उसकी असाता वेदनीय दुःख, पीड़ा, परेशानी कुछ ही क्षणों में साता वेदनीय में परिणत हो जाती है। यही है पुरूषार्थ का करिश्मा। यदि वही व्यक्ति पलंग पर लेटा हाय-हाय करता रहता तो असाता वेदनीय कर्म का नूतन बंध और करता रहता। तथा दुःख की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहती। भाग्यवादी सोचता कि भाग्य में होगा तो ज्वर ठीक हो जाएगा। सोचिए यह कैसी विचित्रता है अकर्मण्यपने की।

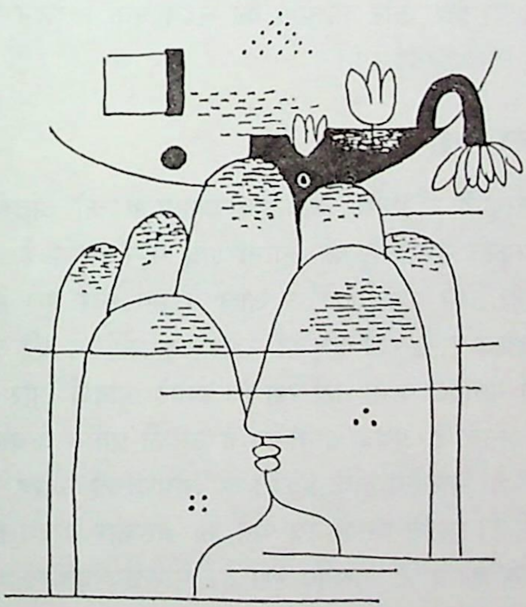
पुरूषार्थी के तमाम कर्म फलते हैं और पुरूषार्थ विहीन के एक भी कर्म नहीं फलता। लोक जगत में देखते हैं कि मानव उद्यम कर खेतों में अनाज उपजाता है, वृक्ष लगाता है तथा सुन्दर-सुन्दर सुस्वादु फलों को पैदा करता है। वैज्ञानिक महासागरों की छाती पर जलयान दौड़ाता है तथा कलपुर्जों द्वारा आधुनिक मशीनरी दे, मानव को सुखी बनाता है। जब अध्यात्म जगत में घुसते हैं तो हम अपनी आंखों से देखते हैं कि सन्त महात्मा पुरूषार्थ कर दुष्टकर्मों की संतति को नेस्त-नाबूत करते हुए सुख की गोद में सोते हैं। सचमुच ही भाग्य भरोसे रहने वालों को मोक्ष-सुख नहीं है। अरे! मोक्ष सुख क्या? संसार-शरीर गत सुख भी क्या कभी बिना पुरूषार्थ के किसी को मिला है?

पुरूष को पुरूषार्थ करना नहीं भूलना चाहिए। उसे अपने कर्त्तव्य पथ पर सतत उद्यमरत होना चाहिए। फिर भाग्य में जो हो सो देखा जाए क्योंकि पुरूषार्थ ही भाग्य निर्माता है। प्रसंग चल रहा था अपरिग्रह का। पुरूषार्थी अर्जन करता है तो उसे विसर्जन की चेतना से भी जुड़ना चाहिए। गृहस्थ जीवन में यही अपरिग्रह का प्रायोगिक रूप है। माना कि सभी अपरिग्रही नहीं बन सकते किन्तु वे अपरिग्रह-पथ के पथिक तो बन सकते हैं। अपरिग्रह की शरण लिए बिना संघर्ष नहीं मिट सकते। अपरिग्रह का सिद्धान्त भी वहीं फलित होता है जहाँ अधिकार की भावना समाप्त हो जाती है। समाज का भला तभी होगा जब अपरिग्रह या इच्छा परिमाण व्रत सबका दृष्टि केन्द्र बनेगा। संग्रह; त्याग की भावना में एवं अर्थवाद; अपरिग्रहवाद में बदलेगा।

⌘ ⌘

मानसिक प्रदूषण से बिगड़ता पर्यावरण

आज पर्यावरण की समस्या मानव अस्तित्व के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। परमाणु बम से मानव को जितना खतरा है, उसकी अपेक्षा पर्यावरण विनाश से सैंकड़ों गुना अधिक संकट है। इसलिये पर्यावरण के प्रति चिन्ता काफी बढ़ी है। पर्यावरण का सम्बन्ध हमारी संस्कृति, परम्परा, साहित्य, कला, अर्थनीति एवं समाज से ही नहीं बल्कि हमारे पूरे अस्तित्व से है। भोपाल गैस काण्ड तो प्रदूषण नियंत्रण के अनुत्तरदायित्व की पराकाष्ठा है। पर्यावरण विनाश की घातक, सूक्ष्म एवं अदृश्य प्रक्रियाएं पूरी उपेक्षा करती हुई हमारी प्राकृतिक सम्पदा को लूटे जा रहीं हैं। प्रतिवर्ष भारत में दस लाख हैक्टेयर जंगल नष्ट हो रहे हैं। जीवन-दायिनी नदियों के उद्‌गम स्थल, पर्वत मालाओं को नष्ट-भ्रष्ट किया जा रहा है। आर्थिक उन्नति एवं वैज्ञानिक प्रबन्ध के नाम पर वन, चरागाह, नदी, तालाब आदि का संगठित रूप से दुरूपयोग किया जा रहा है। जब तक समाज प्राकृतिक संपदा के साथ अपने सम्बन्ध फिर से परिभाषित नहीं करेगा और प्रकृति की साज-संभाल अपने हाथों में नहीं लेगा तब तक उसकी रक्षा असम्भव है। पर्यावरण संरक्षण के लिए एक विशेष सामाजिक-संस्कृति एवं एक विशिष्ट जीवन पद्धति आवश्यक है।



पर्यावरण से आशय

पर्यावरण दो शब्दों से बना है – परि + आवरण। परि परितः यानि चारों ओर से आवरण या वृत। पर्यावरण की सरल परिभाषा यह है कि पर्यावरण वह रक्षा कवच है जो प्रकृति; पुरूष के लिए उत्तराधिकार में दाय के रूप में देती है। अन्य शब्दों में पर्यावरण प्रकृति का वह बैंक है जिसमें प्रकृति; पुरूष वर्ग के जमा नामे वाले पूँजी खाते का विवरण लिखती है। जिसके आधार पर सभी जीवात्माओं का जीवन व्यापार चलता है। पर्यावरण की सीमा में पृथ्वी, जल, प्रकाश, ध्वनि जैसे प्राकृतिक साधनों का समावेश है। पर्यावरण को अन्य सीमा रेखाएँ यथा व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय आज तक विभाजित नहीं कर सकी है।

व्यापक अर्थ में पर्यावरण से आशय जीव-सृष्टि एवं वातावरण का पारस्परिक आंकलन; जिसमें सजीव प्राणी, आब-हवा, भूगर्भ और आस-पास की परिस्थिति विषयक विज्ञान का समावेश होता है। इसमें केवल मनुष्य, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, वनस्पति और अपार अनन्त सूक्ष्म जीवन सृष्टि का ही नहीं अपितु समग्र ब्रह्माण्ड, तारकवृन्द, सूर्य-मंडल तथा पृथ्वी के आस-पास के सूर्य, चन्द्र, ग्रह, गिरि-कन्दरा, सरिता, सागर, झरने, वन-उपवन, वृक्ष, वनस्पति, भूपृष्ठ एवं जल पृष्ठ सहित पंच महाभूत तत्वों का भी समावेश होता है।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में पृथ्वी ही एक ऐसा नक्षत्र है जिसमें प्राण और वनस्पति दोनों उपलब्ध हैं। पृथ्वी पर प्राण और वनस्पति का सदैव एक संतुलन रहा है। यही प्रकृति का सहज गुण है; उसका स्वधर्म है।

मनुष्य; प्रकृति का सखा

भोगवादी संस्कृति ने मनुष्य की आवश्यकताओं को अंतहीन बना डाला है। इसी भोगवादी संस्कृति ने प्रकृति को अपना शत्रु मान लिया है और मनुष्य उसका स्वामी बन बैठा है। जिस प्रौद्योगिकी के जाल में हम घिरे हुए हैं उसमें प्रकृति का शोषण ही मुख्य लक्ष्य है, उसका संतुलन नहीं। यह पश्चिम की दृष्टि है। भारत का सांस्कृतिक आदर्श भोगवाद कभी नहीं रहा है। हमारे आदर्श और परम्पराएँ अध्यात्म में निहित हैं। जो अनन्त है अथवा अन्तहीन है उसकी प्राप्ति केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही मिल सकती है। भारतीय दृष्टि प्रकृति के शोषण की न रह कर, उसके संरक्षण की, श्रद्धा की रही है। प्रकृति पर विजय पाने का अहंकार पश्चिम का रहा है जबकि उसके साथ सहकार की दृष्टि भारतीय रही है। भारतीय दृष्टिकोण में मनुष्य प्रकृति का स्वामी नहीं, सखा है।

प्रकृति और मनुष्य को गहराई से जानने और समझने का प्रयत्न ही पर्यावरण को सही ढंग से संरक्षित करने का आधार है। वस्तुतः सम्पूर्ण प्रकृति और मनुष्य की उसके साथ सम्बन्धों में मधुरता का नाम ही पर्यावरण संरक्षण है। पर्यावरण के विभिन्न आधार और साधन हो सकते हैं किन्तु धर्म उनमें प्रमुख आधार है। समता, अहिंसा, सन्तोष, अपरिग्रह वृत्ति एवं शाकाहार का व्यवहार आदि सहयोगी साधन हैं। जीवन मूल्यों के द्वारा ही स्थायी रूप से पर्यावरण को शुद्ध रखा जा सकता है। और ये ही जीवन मूल्य जैन धर्म के आधार स्तम्भ हैं।

सम्बन्धों में संतुलन आवश्यक

मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध मनुष्य के प्रारंभिक विकास के साथ जुड़ा हुआ है। प्रकृति को जाने बिना मनुष्य अपने कर्त्तव्य का निर्धारण नहीं कर सकता। इसीलिये कहा है कि वस्तु के स्वभाव को जानना ही धर्म है। प्रकृति के एक रूप को जान लेना ही सब वस्तुओं को जानने के समान है। वैदिक ऋषियों ने भी यही बात कही है – एक को जान लेने से सबको जाना जा सकता है "एकेन विज्ञातेव सर्वमिदं विज्ञानं भवति।" जैन आगम भी यही कहते हैं – "जो एगं जाणदि सो सव्वं जाणदि।"

विश्व में जितने भी जड़-चेतन तत्त्व हैं; उनका अपना-अपना स्वभाव होता है। जिनके कारण उनका अस्तित्व बना हुआ है। जब तक वे अपने स्वभाव में स्थित रहते हैं तब तक प्रकृति की व्यवस्था में संतुलन बना रहता है किन्तु जैसे ही किसी एक तत्त्व या तत्त्व-समूह की क्रिया, प्रतिक्रिया में व्यापक फेर-बदल होता है, प्रकृति का संतुलन बिगड़ जाता है। जिसके फलस्वरूप पर्यावरण प्रदूषित एवं अशुद्ध हो जाता है।

असमय जल वृष्टि, अति उष्णता, अति शीतलता, असामयिक मौसम परिवर्तन आदि ऐसे भौतिक घटक हैं, जो पर्यावरण को विपरीत रूप से प्रभावित करते हुए प्राकृतिक असंतुलन और प्राकृतिक प्रदूषण की विद्यमानता की पुष्टि करते हैं। प्रश्न यह है कि अंततः पर्यावरण में अशुद्धता या प्रदूषण क्यों और कैसे होता है?

प्रदूषण के प्रकार

प्रदूषण का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। इसमें भौतिक एवं अभौतिक दोनों प्रकार के प्रदूषण शामिल हैं। जहाँ तक विज्ञान एवं तकनीकी विकास के साथ जुड़े जल, वायु, ध्वनि आदि भौतिक प्रदूषणों का सम्बन्ध है, ये मनुष्यकृत हैं और इन्हें वैज्ञानिक तकनीकी विकास द्वारा किसी सीमा तक रोका जा सकता है।

प्राकृतिक प्रदूषण का दूसरा महत्वपूर्ण अभौतिक पहलू है जो मानव जगत के मानसिक प्रदूषण से गहराई के साथ जुड़ा हुआ है। क्योंकि प्रदूषण केवल प्रकृति में नहीं होता; मनुष्य के विचारों में भी होता है। और इस वैचारिक/मानसिक प्रदूषण को यदि यथासमय संतुलित नहीं किया गया तो भौतिक प्रदूषण को नियंत्रित कर प्राकृतिक संतुलन की कल्पना 'गगन कुसुम' जैसी होगी।

पर्यावरण को प्रदूषित करने में मानसिक प्रदूषण के अन्तर्गत दो मूल कारण हैं तृष्णा और हिंसा। इनके विकसित रूप हैं – परिग्रह और क्रूरता। जैन धर्म प्रारंभ से ही तृष्णा और हिंसा पर संयम की बात कहता रहा है। हिंसा का जीवन में विस्तार न हो इसलिए भगवान महावीर ने वृक्ष, वनस्पति, वायु, जल, पृथ्वी, अग्नि आदि सभी की चेतना पहचान कर उनके साथ मनुष्य की समानता की बात कही। हिंसा को तिरोहित करने के लिए शाकाहार एवं शुद्ध-आहार पर जैन धर्म में विशेष ध्यान दिया गया। बहुत से धान्यों, बीजों, फलों एवं साग को भोजन में न लेने की बात कही गई ताकि अहिंसा का पालन हो और प्रकृति की सुरक्षा बनी रहे। मांसाहार का निषेध किया गया तथा अनेक ऐसे हिंसक व्यवसायों पर प्रतिबन्ध लगाया गया जिनसे पर्यावरण संतुलन को खतरा था/है।

षट्लेश्या

जैन दर्शन की दृष्टि से जीवन की जो मूलभूत आवश्यकताएँ हैं – वे हैं प्राणवायु, जल, भोजन, वस्त्र और आवास आदि। इनकी पूर्ति प्रकृति के साधनों से करते हुए शेष जीवन में जीव उद्धार के कार्यों में लगना ही सच्ची प्रगति है/विकास है। विकास का यह मार्ग अपरिग्रह एवं सन्तोष के सिद्धांत में छिपा है। महावीर ने लोभ विजय, बुद्ध ने तृष्णा क्षय, कबीर ने संतोष धन आदि पर विशेष जोर देकर मनुष्य को **उपभोग से उपयोग की ओर लौटने** की बात कही है। इस सन्तोष धन की श्रेष्ठता 'षट्लेश्या' के माध्यम से कही गई है।

मनुष्य जैसा चिंतन करता है वैसा ही वह कार्य करता है। एक ही प्रकार के कार्य को भिन्न-भिन्न वृत्ति वाले लोग अलग-अलग ढंग से सम्पन्न करना चाहते हैं। दृष्टान्त दिया गया है – छह लकड़हारे जंगल में लकड़ी काटने गये। दोपहर में जब उन्हें भूख लगी तब वे किसी फल के पेड़ को खोजने लगे। उन्हें एक आम का पेड़ दिखा जो पके फलों से लदा हुआ था। प्रथम लकड़हारे ने अपनी कुल्हाड़ी से पूरे पेड़ को काटना चाहा ताकि बाद में आराम से बैठकर आम खाये जा सकें। दूसरे ने एक मोटी शाखा को काटना ही पर्याप्त समझा। तीसरे लकड़हारे ने सोचा शाखा काटने से क्या फायदा? छोटी-छोटी टहनियाँ काट लेना ही पर्याप्त है। चौथे ने टहनियों को

नुकसान पहुँचाना ठीक नहीं समझा। उसने केवल आम के गुच्छों को तोड़ना ही उचित समझा। तब पाँचवे ने कहा – कच्चे आम का हम क्या करेंगे? केवल पके आमों को ही पेड़ से तोड़ लेते हैं। छठे लकड़हारे ने सुझाव दिया – तुम सब पेड़ के ऊपर ही क्यों देख रहे हो? जमीन पर इस पेड़ के पके हुए इतने आम पड़े हैं कि हम सभी की भूख सहज ही मिट जायेगी। हम इन्हीं को बीन लेते हैं। सौभाग्य से उसकी बात मान ली गई।

इन छह व्यक्तियों के विचारों को छह रंग दिये गये हैं। प्रथम लकड़हारे के विचार सर्वनाश के द्योतक हैं। अतः वह 'कृष्णलेश्या' वाला है। दूसरे से छठे तक के विचारों में क्रमशः सुधार हुआ है। सर्वकल्याण की भावना विकसित हुई है। अतः दूसरे को नीललेश्या, तीसरे को कपोतलेश्या, चौथे को पीतलेश्या, पाँचवे को पद्मलेश्या एवं छठे लकड़हारे को शुक्ललेश्या वाला व्यक्ति माना गया है। काला, नीला, मटमैला, पीला, लाल और सफेद रंग क्रमशः विचारों की पवित्रता के द्योतक हैं। यदि आज का मानव जीवन मूल्यों के माध्यम से **पद्मलेश्या** तक भी पहुँच जाय तो भी **विश्व की प्राकृतिक संपदा सुरक्षित** हो जाएगी। लोगों की बुनियादी जरूरतें पूरी हो जाएँगी। इससे विपरीत 'मानव का असंयम' प्रदूषण की समस्या ही पैदा करता रहेगा।

आत्मतुलवाद और पर्यावरण

पर्यावरण संरक्षण में अहिंसा और जीवदया भी सन्निहित है। भगवान महावीर आत्मतुलवाद के प्ररूपक थे। उन्होंने संयम, आचरण, करूणा, जीवदया पर विशेष बल दिया। सृष्टि संतुलन का जो सूत्र महावीर ने दिया वह आज भी महत्वपूर्ण है। अपने अस्तित्व को हम इस तुला से तौलें तो न केवल अहिंसा का सिद्धांत फलित होता है अपितु पर्यावरण विज्ञान की समस्या को भी महत्वपूर्ण समाधान प्राप्त होता है। यह आवश्यक है कि हम अहिंसा को केवल धार्मिक रूप में प्रस्तुत न करें। यदि उसे वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में प्रस्तुत किया जाए तो मानव जाति को एक नया आलोक उपलब्ध हो सकता है।

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

जैन धर्म का एक विशिष्ट सूत्र है – 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' अर्थात् सभी जीव परस्परावलम्बित हैं। छोटे या बड़े सभी जीवनों के अवलंबन को 'परस्परावलम्बन सिद्धांत' कहा गया है। यह एक ऐसा अटूट बंधन है जो सर्व जीवों की हार्दिक मैत्री के विकास को जन्म देता है। इसलिये कहा जाता है कि पर्यावरण

का थोड़ा-सा भी गैर उपयोग या उस पर की गई हिंसा मनुष्य के लिये आज नहीं तो कल भयप्रद हो सकती है। इस दृष्टि से देखा जाये तो परस्परावलम्बन का सिद्धांत केवल आदेश ही नहीं है बल्कि मनुष्य जाति के लिये एक चेतावनी है। एक संदेश है। यह सिद्धांत 'जिओ और जीने दो' उतना ही नहीं सिखाता वरन् **'जीने दो जिससे कि हम भी जी सकें'** ऐसा बोध भी देता है।

सृष्टि की समूची व्यवस्था में ऐक्य एवं संवादिता है। परस्पर का अविभिन्न सम्बन्ध तथा एकसूत्रता है/स्वयंपूर्णता है। चैतन्य की उत्क्रांति और मानव समाज का सांस्कृतिक विकास विश्व की संवादिता तथा साम्य भाव के साथ संकलित हैं। सभी जीवों के परस्परावलम्बन के अद्वितीय सिद्धांत की स्वीकृति के लिये हमें सह-अस्तित्व की भावना को अवश्य सफल बनाना होगा।

मानसिक प्रदूषण का प्रभाव

इस प्रकार समग्र रूपेण से मनोभाव एवं मानसिक प्रदूषण से वर्तमान मानव – सभ्यता एवं प्रकृति व्यापक एवं गहन रूप से प्रभावित हुई है। मानव जीवन की सरलता, सज्जनता, निष्कपटता, निश्छलता, परदुःख-कातरता, स्वावलम्बन, कर्त्तव्यनिष्ठा, श्रम-निष्ठा, परस्पर सहयोग, प्राणी मात्र के प्रति दया एवं करूणा आदि ऐसे सहज मानवीय गुण हैं जो मनुष्य को अन्य प्राणियों की तुलना में श्रेष्ठता प्रदान करते हैं। जिसके संतुलन्न से प्रकृति-व्यवस्था संतुलित एवं मर्यादित चलती रहती है किन्तु जब इन मानवीय गुणों का ह्रास होता है या इन गुणों को प्रतिपक्षी मनोभाव मानव जीवन को आक्रान्त करते हैं तब उससे न केवल व्यक्ति प्रत्युत समाज भी दुःखी होता है। इससे प्राकृतिक संतुलन भी अस्त-व्यस्त हो जाता है जैसा कि वर्तमान में मनोविकृत सामाजिक अव्यवस्था एवं प्राकृतिक असंतुलन के दुष्परिणामों को हम अनुभूत कर रहे हैं। वस्तुतः इन सब विकृतियों के साथ-साथ खान-पान की विकृति, रहन-सहन की अमीरी और चारित्र की गरीबी के लिये मानव जगत का मानसिक प्रदूषण ही उत्तरदायी है। प्रदूषण का जहरीला विष जीवित व्यक्ति को मृत्यु का अनुभव करा देता है।

हमारे मन में प्रियता-अप्रियता, राग-द्वेष, स्नेह-घृणा, निहंकार-अहंकार, समत्व-ममत्व, करूणा-क्रूरता, शान्ति-क्रोध, सरलता-मायाचार, सहिष्णुता-ईर्ष्या, कर्त्तव्यपरायणता-विमुखता, अनाग्रह-दुराग्रह, सरलता-कृत्रिमता, शुचिता-लोभ आदि के प्रतिपक्षी मनोभाव जन्म से ही विद्यमान रहते हैं। हमें जब जैसा संयोग प्राप्त होता है कोई न कोई मनोभाव हम पर हावी हो जाता है और हम बिना विचार किये उसके दास बनकर व्यवहार करने लगते हैं। जब हमारे मन से दूसरों के प्रति सहयोग,

परोपकार, करूणा, सहिष्णुता, संतोष आदि का भाव आता है तो उससे समस्त जड़-चेतन जगत में प्रसन्नता एवं सहजता व्याप्त हो जाती है। किन्तु जैसे ही हमारे मन में परपीड़ा, क्रोध, लोभ, अहंकार-ममकार, शोषण, पर-अधिकार-हनन, हिंसा इत्यादि अशुभ मनोभाव जागृत होते हैं वैसे ही व्यक्ति एवं समाज का शान्ति/संतुलन भंग हो जाता है तथा प्रकृति भी विपरीत रूप से निश्चित ही प्रभावित होती है। वह नीरस हो जाती है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे समक्ष प्रस्तुत है।

प्रकृति रूष्ट हो गई

एक दिन एक सम्राट शिकार के उद्देश्य से प्रत्यूष बेला में अपने प्रिय अश्व पर आरूढ हो वन की ओर गया। घोड़े की टाप टप-टप की आवाज से गगन गुंजाती आगे बढ़ रही थी। सम्राट बहुत खुश था; सोच रहा था, आज बहुत बढिया शिकार करूँगा लेकिन वन्य पशुओं का सौभाग्य देखिए दूर-दराज तक उसे कहीं शिकार नजर नहीं आ रहा है। राजा अनवरत आगे बढ़ता जा रहा है। तपती, चिलचिलाती धूप भरी दुपहरी सिर से निकल गई। शरीर शिथिल हो गया। मन क्लान्ति का अनुभव कर रहा है। कण्ठ उष्णता के कारण तालू से चिपक रहा है और क्षुधा-डायिन डकार रही है परन्तु कहीं भी क्षुधा-तृषा शान्ति के आसार नजर नहीं आ रहे हैं।

दैवात् कुछ दूरी पर राजा को एक झोंपड़ी दिखलाई दी; उसकी आशा की डोर वहां जाकर बँध गई। सांध्य बेला में राजा ने द्वार पर दस्तक दी। एक बुढ़िया ने द्वार खोला और प्रणाम मुद्रा में अतिथि की ओर देखा।

"माँ! मुझे जोरों से प्यास लग रही है। सुबह से निकला हूँ। क्या मुझे थोड़ा-सा जल पिलाओगी?"

"हाँ! हाँ क्यों नहीं? बेटे अन्दर आओ। यह तो मेरा परम सौभाग्य है जो कि अतिथि के आतिथ्य का अवसर मुझे मिला। यह तो भारतीय संस्कृति है अतिथि का सत्कार। आओ बेटा! अन्दर आओ" – बुढ़िया माँ ने विनम्र भरे स्वर में कहा।

बुढ़िया माँ और सम्राट एक पल में झोंपड़ी के अन्दर थे। बुढ़िया ने तख्त की ओर संकेत कर आगन्तुक को बैठाया और स्वयं पश्चिम भाग की ओर चली गई। सोचती है केवल कोरे जल से अतिथि का क्या स्वागत करूँ और यह तो दिन भर का भूखा है। बगीचे से कुछ फल तोड़, रस निकालकर इसे पिलाती हूँ। बुढ़िया ने झटपट दो अनार के फल तोड़े और एक रस से भरा लौटा पांच मिनट में अतिथि के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। राजा प्यासा तो था ही तिस पर इतना शीतल और सुमधुर रस। वह भी प्यार के रस से भरा हुआ। एक ही श्वास में लोटा खाली कर दिया।

सम्राट बोला – "माँ क्या थोड़ा रस और पिलाओगी?"

माँ बोली – "क्यों नहीं" और दौड़कर पुनः रस भरा लोटा लेकर लौट आई।

रस पान कर सम्राट ने महान तृप्ति का अनुभव किया। जाते-जाते बोला – "माँ! मैं किन शब्दों से आपको धन्यवाद दूँ। मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। तुम कभी भी मेरे भवन में पधारो। मैं तुम्हारा स्वागत करूँगा। और हे माँ! एक बात का वचन दो; पुनः जब कभी दोबारा भूला-भटका तुम्हारा बेटा इधर से गुजरे तो उसे ऐसा ही रस पिलाना।"

बुढ़िया ने कहा – "अवश्य पिलाऊँगी।" ऐसा कहते हुए अतिथि को विदा किया।

सम्राट अर्ध निशा के सन्नाटे में अपने अन्तः पुर पहुंचा। कोमल कलियों की शय्या पर लेटा लेकिन आज वह सो न सका। वह बार-बार सोच रहा है, अहो! इतना स्वादिष्ट रस! मैंने सम्राट होकर आज तक नहीं पिया जिसे यह नाचीज-सी बुढ़िया रोज पीती होगी। प्रातः नित्य क्रियाओं से निवृत्त हो सम्राट ने मन्त्री को बुलावा भेजा। कुछ पलों में मन्त्री राजा के सम्मुख प्रस्तुत हुआ। सम्राट बोला – "मन्त्रीवर! कल मैं सूर्य की प्रथम किरण के साथ शिकार पर निकला था किन्तु सूर्य की अन्तिम किरण तक मुझे एक भी शिकार नहीं मिला। मैं श्रान्त-क्लांत एक कुटिया पर पहुंचा। वहाँ एक बुढ़िया माँ ने मुझे इतना स्वादिष्ट अनार का रस पिलाया जो मैंने अपने पचास बसन्त पार करने के बाद भी नहीं पिया।"

मंत्री ने कहा – "स्वामिन्! आप किस ओर गए थे?"

राजा बोला – "मैं पश्चिम की ओर गया था।" कुछ स्थूल संकेत भी राजा ने बतलाये। संकेतों के आधार पर अनुमान द्वारा सुनिश्चित कर मन्त्री ने कहा – "राजन्! वह सीमा क्षेत्र आपके राज्यान्र्तगत आता है। कहिए मैं प्रतिदिन आपको रस उपस्थित करा दूँ?"

राजा आश्चर्य में पड़ गया, बोला – "हमारे राज्य में इतने मधुर फल और मुझे आज तक ज्ञात नहीं। लगता है तुमने उन पर टैक्स ही नहीं लगाया होगा। जाओ उस सीमा क्षेत्र के बगीचों पर टैक्स लगा दो।"

आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। कहता हुआ मन्त्री चला गया। राजाज्ञा पर मन्त्री ने उन अनारों के बगीचों पर टैक्स लगा दिया।

कुछ दिनों पश्चात् सम्राट शिकार के लिए उसी वन की ओर गया। प्यास लगने पर उसी बुढ़िया की झोंपड़ी पर पहुंचा। आवाज दी – "ओ माँ! तेरा बेटा पुनः प्यासा खड़ा है; उसे रस पिलाओ।" बुढ़िया पोपले मुख पर किंचित मुस्कान विखेरते हुई बोली – "हां बेटा! बैठ। मैं अभी लाई रस से भरा लोटा।" बुढ़िया लोटा लेकर बगीचे में गई। कुछ फल तोड़े, रस निकालने लगी लेकिन आज 15-16 फलों के बाद भी

रस का लोटा न भर सका। वह कुछ खाली लोटा लेकर लौटी। सम्राट ने बीच में कई आवाजें दी – "माँ, जल्दी आओ।" माँ कहती रही – "अभी आई बेटा! अभी आई।" जब माँ को कुछ कम भरा लोटा हाथ में लिये देखा तो सम्राट अधीर हो उठा। बोला – "माँ! लोटा पूरा भी नहीं भरा और देर भी बहुत कर दी। पहले तो दो मिनिट में भरकर ले आयी थी।"

बुढ़िया बोली – "क्या कहूँ बेटा! मेरे राज्य का राजा बड़ा दुष्ट है। जब से उसकी कुदृष्टि हमारे बगीचों पर पड़ी, उसकी नियत बिगड़ गई है। उसने जब से फलों पर टैक्स लगा दिया तभी से प्रकृति नीरस हो गई है, रूष्ट हो गई है। इसलिए फलों में पहले जो रस था वह अब नहीं है। दो अनार जितना रस देते थे आज पन्द्रह अनार भी वह रस नहीं दे सके।" राजा चौंक गया। उसके कान खरगोश की तरह खड़े हो गए। बोला – "माँ! क्या यह तुम सच कह रही हो? क्या तुम्हारा सम्राट यहां आ जाये तो तुम यह वाक्य दोहरा सकती हो?" बुढ़िया ने निर्भीकता से उत्तर दिया – "क्यों नहीं। यदि वह आ जाये तो मैं यह बात उससे जरूर कहूँगी। सत्य कहने में किसका भय? उसकी दूषित मानसिकता का ही परिणाम है जो प्रकृति इतनी रूष्ट हो गई है।"

बस फिर क्या था? सम्राट बोला – "माँ! मैं ही हूँ इस राज्य का दुष्ट शासक।" सुनते ही माँ के पैर लड़खड़ा गये। राजा ने आश्वस्त किया – "माँ! मत घबराओ। चलो मेरे राज्य में। तुमने मेरी आंखे खोल दी। मेरे दूषित मानसिक प्रदूषण ने प्रकृति को दूषित कर दिया। चलो, मेरे साथ चलो। मैं आपको और आपकी नीतियों को सिहांसन पर बिठाकर राज्य करूँगा।"

प्रकृति सुन्दर भी प्रेरक भी

उक्त परिप्रेक्ष्य में यह आवश्यक है कि हम अपने स्वभाव को जानें-पहचानें और अपने अन्दर प्रसुप्त आंतरिक शक्तियों को ज्ञातकर उन्हें प्रकट करें तथा मानव की मर्यादा के अनुकूल जीवन जिएँ। जिससे पर्यावरण के प्रदूषण एवं प्राकृतिक आपत्तियों-विपत्तियों से व्यक्ति तथा समाज की रक्षा की जा सके। यही एकमात्र ऐसा राजमार्ग है जो "सर्वहिताय-सर्वसुखाय" के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। विश्वास है कि शिक्षा मनीषी, वैज्ञानिक, अध्यात्मवेत्ता एवं राजसत्ता पर पदासीन राजपुरूष वैचारिक शुचिता की महत्ता को गंभीरता से समझेंगे तथा भौतिक तत्त्वों द्वारा प्राकृतिक प्रदूषण से अभिशप्त प्रकृति-पुरूष को बचाने हेतु मानसिक प्रदूषण को नियंत्रित एवं संयमित करने में अपना योगदान देंगे। प्रकृति के बीच रहकर प्रकृति को हानि पहुँचाना स्वयं की हानि है। प्रकृति की अवहेलना कष्ट को निमंत्रण देना

है। प्रकृति कभी अपने और हमारे नियमों को नहीं तोड़ती किन्तु हम हैं कि उसके नियमों को तोड़ते चले जाते हैं। प्रकृति में जो सहज सौन्दर्य होता है वह विकृति में नहीं है। प्रकृति सुन्दर ही नहीं प्रेरक भी है। हम उससे प्रेरणा लें। उसे अपनी गन्दी मानसिकता से प्रदूषित करने का दुःसाहस न करें।

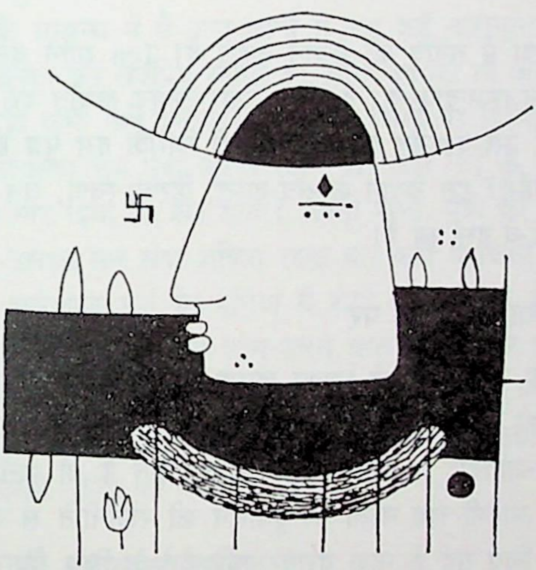
⌘ ⌘

हाइपरटेन्शन

मोहमल्लममल्लं यो, व्यजेष्टानिष्ट कारिणम् ।
करीन्द्र ना हरिः सोऽयं, मल्लिः शल्य हरोऽस्तु नः ।।

– मंगलाचरण-67

आज हम जिस दौर से गुजर रहे हैं उससे मन-मस्तिष्क पर काफी दबाव पड़ रहा है। उस दबाव से बचने के लिए, सुख-शान्ति का आस्वाद लेने के लिए मैं कुछ चर्चा करना चाहता हूँ। इस सदी का अगर सबसे बड़ा कोई अभिशाप है तो वह है तनाव।



उच्चकोटि के सन्त कवि तुलसीदास जी ने कहा है – 'तुलसी तहां न बैठिये जहां कोई देय उठाय।' यह पंक्ति जीवन की सारी विकृतियों को दूर करने में सहायता प्रदान करती है। हम ऐसी कोई चेष्टा करने के लिए उद्यत न हों, जिस चेष्टा से हमारे भीतर कलुषित विचार जन्म लेते हों। आज देखने में आता है कि एक दुधमुँहा बालक भी तनाव-ग्रस्त है। वह भी दूध पीने के लिए तैयार नहीं है। कारण उसका मनचाहा नहीं हो पा रहा है। बेटे का तनाव माँ को भी तनाव-ग्रस्त कर देता है क्योंकि वह दूध नहीं पीयेगा तो माँ के कार्य में व्यवधान खड़ा कर देगा।

तनाव ने खाई शान्ति

यह तीन अक्षरी छोटा सा शब्द 'तनाव' व्यक्तिगत, पारिवारिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, मानसिक एवं राष्ट्रीय शान्ति को खा जाता है। तनाव संस्कृत की तन् धातु की संतान है। इस धातु से और भी कई शब्द निष्पन्न होते हैं। तान भी इसी का एक रूप है। इस पंचभूत शरीर में मांसपेशियों, स्नायुओं, शिराओं का जाल मकड़जाल की तरह बिछा है। जब किसी ज्ञाताज्ञात कारण वश इस जाल में खिंचाव या कसाव आ जाता है तब तन और मन दोनों ही व्यग्र हो उठते हैं। इसी व्यग्रता का नाम ही तो है हाइपरटेन्शन (hypertension)। यह तनाव पैदा कहां से होता है? तह में जाने पर ज्ञात होता है कि गलतफहमी इसकी माँ है एवं असन्तोष इसका पिता।

टेन्शन यानि

आंग्ल भाषा में तनाव को टेन्शन कहते हैं। Ten यानि दस, son यानि पुत्र (जरा आई को नजरअन्दाज कर दें) फिर देखे। टेन्शन अर्थात् दस पुत्र। जैसे जिसके दस मुख होते हैं उसे दशानन कहते हैं वैसे ही जिसके दस पुत्र हों उसे टेन्शन नहीं तो और क्या कहेंगे? इस टेन्शन के क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-स्वर्ण, धन-धान्य, दासी-दास, कुप्य और भाण्ड ये दस पुत्र हैं।

तनाव ने सुलाया शरशय्या पर

सत्य ही है जहां एक को धक्का लगता है वहां दूसरा परेशान हो उठता है। जैसे ही तीसरे को चोट पहुंचती है चौथा पीड़ा से तिल-मिला उठता है। व्यवहारिक जीवन में जमीन-जायदाद के विभाजन के तहत देखते हैं तो पाते हैं, एक-एक इंच जमीन के लिए आदमी लड़ मरता है। दुर्योधन की राजनीति से जगत परिचित है। वह पाण्डवों के लिए सूई के नोंक बराबर भूमि देने के लिए तैयार नहीं था। उसकी इस लिप्सा भरी नीति ने विदुर की विश्व प्रसिद्ध नीतियों की अवहेलना कर दी। भीष्म पितामह जैसे वृद्ध और दृढ़ प्रतिज्ञ व्यक्तित्व को जीवन भर तनाव ग्रस्त रख अन्त में 'शरशय्या' पर सुला दिया। श्रीकृष्ण जैसे विराट व्यक्तित्व का शान्ति प्रस्ताव ठुकरा दिया। इतना ही नहीं उसकी इस कूटनीति ने (कर्ण) भाई-भाई के रक्त को विषाक्त कर दिया। उसे पहिचानने नहीं दिया। सारा राज घराना, हस्तिनापुर नगर, पाण्डवों सहित द्रुपद नरेश आदि अनगिनत लोग तनाव ग्रस्त रहे। माता कुन्ती, पत्नी द्रौपदी सहित पाण्डवों को जंगलों की खाक छाननी पड़ी। विराट नरेश

का दासत्व स्वीकार करना पड़ा। कितने दुखी रहे; परिणामतः अन्त में महाभारत जैसा इतिहास प्रसिद्ध महायुद्ध हुआ। जिसने लाखों के प्राण एवं घर उजाड़ दिये।

तनाव के अन्तःपुर में झांकिए

महानुभाव! जिसके पास केवल क्षेत्र (जमीन) ही नहीं, इस जैसे धन-धान्यादि और भी नव पुत्र होंगे तव वह टेन्शन ग्रस्त नहीं होगा तो और क्या होगा? इस प्रश्न का उत्तर आप ही दीजिये। इतने ही पुत्र होते तो भी शायद बात कुछ बन भी जाती किन्तु यहां तो कमाल की बात है। जरा आगे बढ़ 'तनाव' के अन्तःपुर में झांक कर देखिये। वहां एक विचित्र प्रकार का परिवार घात लगाये बैठा है। उसकी अन्तरंग परिषद् में द्वितीय श्रेणी के दस पुत्र और अधिक शौर्य प्रदान कर रहे हैं। वे हैं अहंकार, आशंका, बैचनी, स्वार्थ, असफलता, महत्वाकांक्षा, अपेक्षा, भय, चिन्ता और कनकच्ची।

आशंका के सम्बन्ध में मैं आप लोगों से क्या कहूँ नामानुसार ही इसका चरित्र है क्योंकि यह तनाव की सर्वप्रिय संतान है। औरंगजेब को तो आप जानते ही होंगे। उसने अपनी दाढ़ी कभी नहीं बनवाई। कारण वह किसी पर विश्वास नहीं करता था। उसे सदा यह आशंका भय पैदा करती रहती थी; कहीं नाई के हाथ दाढ़ी थमा दी और उसने छुरा मार दिया तो क्या होगा? अपनी पत्नी, पुत्री को किसी से बात नहीं करने देता था। उसका मन सदा शंकित रहता था। कहीं ये किसी पर आकृष्ट न हो जाये। आशंका लाइलाज मर्ज है। दुनियां में रोगों की दवा तो है पर आशंका की कोई दवा नहीं है। राज्य के समस्त लोग उससे त्रस्त थे। आखिर एक दिन औरंगजेब की आशंका ने लोगों को उसके तिरस्कार के लिए मजबूर कर दिया। उसी की आशंका ने उसके परितः शत्रु खड़े कर दिये। इतिहासकार कहते हैं औरंगजेब की आशंका ने ही उसके राज्य को नष्ट कर दिया।

झूठी नामवरी भी तनाव का कारण

झूठी नामवरी और यशोभिलाषा में आदमी व्यर्थ तनाव-ग्रस्त हो अपनी मौलिकताओं के मार्ग अवरूद्ध कर देता है। औपचारिकताएँ उस पर हावी हो जाती हैं। शान्ति की सारी संभावनाएँ अस्त हो जाती हैं और अशान्ति अपने पैर जमा लेती है। चारों ओर निराशाएँ छा जाती हैं। स्वाभाविकताओं के ऊपर वैसा ही आवरण छा जाता है जैसे बिना एक भी मृत्यु के घरों में मातम छाया रहता है। आदमी की उम्र तो छोटी है किन्तु आकांक्षाएँ न जाने कितनी लम्बी-चौड़ी बैठी हैं उसके छोटे से जीवन में।

एक छोटा-सा, साधारण-सा आदमी भी सोचता है मेरी पहचाम प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति, बड़े-से-बड़े उद्योगपति, पूंजीपतियों से हो जाए। ये गगनचुम्बी महत्वाकांक्षाएँ इंसान को भीतर-ही-भीतर मारती रहती हैं। दोहरे जीवन वाला व्यक्ति ही तनावग्रस्त रहता है। कारण उसमें बाहर की जिन्दगी कुछ अलग है और भीतर की जिन्दगी बिलकुल अलग। इस दोहरी जिन्दगी के प्रमुख दो तत्व हैं – अहंकार और स्वार्थ। क्रूर मुस्कुराहट लिए ये दोनों यमदूतों की तरह लम्बे-चौड़े जवान सदा इन्सान के दायें-बायें खड़े रहते हैं।

मैं यहां एक ऐसा व्यक्तित्व प्रस्तुत करना चाहता हूँ जो इन दोनों जवानों की छत्र-छाया में पल रहा था। जिससे वह स्वयं तो तनावग्रस्त था ही, साथ ही सारे नगर की जनता इस भीषण बीमारी से अनछुई नहीं थी।

सम्राट की ज्यादती

एक सम्राट था। उसके अहंकार और स्वार्थ अपने आगे उसे किसी के अस्तित्व का बोध नहीं होने देते थे। वह अपने आपको दुनियां का बेहतरीन सम्राट समझता था। नगर के लोग उसके पैर की जूती जैसे थे। किसी भी हिन्दु, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन और बौद्ध परिवार में कोई भी धार्मिकानुष्ठान हो, कोई पारिवारिक मांगलिक कार्य हो अथवा कोई सामाजिक उत्सव या शोक प्रसंग हो, सम्राट को प्रजाजनों का निमन्त्रण मिलने पर वह अपने प्रतिनिधि के रूप में अपनी जूतियां भेज देता था। इससे सारी प्रजा परेशान थी परन्तु विरोध भी नहीं कर सकती थी। सच भी है पिंजरे में बन्द शेर के गुर्राने-गरजने का मतलब ही क्या निकलता था? फिर भी प्रजा के हृदय क्षितिज पर उठी हुई अशान्ति की बदली ने फैलकर शीघ्र ही समूचे नगर को अपनी छाया से ढंक लिया। सभी मिलकर उत्कंठित थे सम्राट को सबक सिखलाने के लिए। वह भी वक्त आ गया।

उसे ले डूबी

आज सम्राट का आमन्त्रण था प्रजाजनों को राज पुत्र की शादी में सम्मिलित होने का। सबने मिलकर विचार-विमर्श किया। अब हम अधिक बर्दाश्त नहीं कर सकते। हमें स्वर्ण अवसर मिला है तनाव मुक्त होने का। सम्राट के अहंकार को चूर करने का। उसे सबक सिखलाने का। इसे हम चूकने नहीं देंगे। Tit for tat – उसे भी ज्ञात हो जाना चाहिए हमारी प्रजा कितनी हाइपरटेन्शन में है। सारे नगरवासियों ने मिलकर अपनी-अपनी जूतियां राजा के यहां भेज दी। साथ ही कहलवा दिया, "राजन्! माफ करना, हमारे पास वक्त नहीं है। ये जूतियां ही हमारा प्रतिनिधित्व

करेंगी।" राजा की आंखें खुल गई। अहं हिम की तरह गल गया। प्रजा की सुख शान्ति का मार्ग खुल गया। अहंकार अशान्ति का सबसे बड़ा जिम्मेदार साथी है। जब-जब तनाव की स्थिति निर्मित हुई है तब-तब अहंकार, असन्तोष और स्वार्थ बीच में आये हैं क्योंकि ये ही तनाव के बीज डालकर अशान्ति की फसल उत्पन्न करते हैं। अशान्ति नहीं शान्ति, असन्तोष नहीं सन्तोष, अहंकार नहीं मार्दव के मार्ग पर चलने से 'तनाव', टेन्शन के बन्धन खुल सकते हैं।

टेन्शन मुक्ति का एक उपाय : कायोत्सर्ग

टेन्शन मुक्ति का एक और कारगर उपाय है कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग के मायने काय और कषाय का उत्सर्ग। जब आप शरीर के प्रति निर्मम हो जायेंगे तब शरीराश्रित सारी अपेक्षाओं के पर्वत ढह जायेंगे। फलतः किसी से शिकायत का अवकाश आपको नहीं मिलेगा और जब कषायों का उत्सर्ग हो जायेगा। तब Ego और क्रोध, माया और लोभ भी पतझड़ की वाटिका के समान श्री सौन्दर्य विहीन हो सिसकने लगेंगे। तब वहां छा जायेगा शान्ति का साम्राज्य। वहाँ आयेगी उन्मुक्त हंसी की फुहार। आज आदमी न ठीक से हंस पा रहा है, न ही रो पा रहा है। उसकी खुशी उसकी मुस्कुराहट ऐसी लगती है मानों इसने किसी से उधार ले ली हो।

कायोत्सर्ग की मुद्रा में ऊपरी सम्बन्ध खत्म हो जाते हैं। सारा प्रवाह जल की भांति नीचे की ओर मुड़ जाता है। राग-द्वेष, मोह, मद, स्वार्थ, काम, क्रोध, लोभ, घृणा की जो हवा आपके भीतर घुमड़ रही है, जिसकी दुर्गन्ध कार्बन से आप घुट रहे हैं उसे कायोत्सर्ग के पम्प से दूर निकाल फेंको। भीतर शुद्ध आक्सीजन भर अमृत का निर्झर बहाओ। जीवन में कभी तनाव उत्पन्न नहीं होगा। यह तनाव प्रतिपल शरीर, आयु, बुद्धि, मन और कार्यक्षमता को घुन की तरह खा रहा है। व्याधियों को आमन्त्रण भेज रहा है। अतः इससे बचने के लिए माताएं अपने बच्चों, पोता-पोतियों एवं परिवारिक सदस्यों को तनाव की स्थिति में दुग्धपान न करायें, न ही भोजन करायें। कारण तनाव के विषैले हारमोन्स भोजन के साथ पेट में पहुँच प्रदूषण पैदा करते हैं। रक्तकणों को हर समय प्रभावित कर व्यक्ति को चिड़चिड़ा बना देते हैं।

यदि महिला, गृहिणी तनाव की स्थिति में, जल्दबाजी में, उतावलेपन में भोजन निष्पन्न करेगी एवं उस भोजन को स्वयं खायेगी और परिवारिक सदस्यों को खिलायेगी तो तनाव के सारे संस्कार भोजन के साथ भीतर इतने Deep उतर जायेंगे कि उनसे उभर पाना/ऊपर उठ पाना बड़ा मुश्किल होगा। हाइपरटेन्शन अपना प्रभाव शरीर पर कई रूपों में छोड़ रहा है। सर्वप्रथम भूख कम लगना पश्चात् अनिद्रा की

स्थिति पैदा होना और कालान्तर में हाई-बल्ड-प्रेशर एवं हृदयरोग जैसी खतरनाक बीमारियाँ व्यक्ति के शरीर को अपना घर बना लेतीं हैं। आखिर 'तनाव' किस प्रकार इतने सारे तन्त्रों में चाभी देता है?

तनाव के दुष्प्रभाव : वैज्ञानिक आधार

प्रश्न विचाराधीन था ही कि अभी हाल में स्क्रिप्स रिसर्च इंस्टीट्यूट कैलिफोर्निया के वैज्ञानिकों ने कुछ तथ्य उजागर किए हैं। उनकी मान्यता है कि हाइपरटेन्शन ग्रस्त आदमी का मस्तिष्क कुछ विशेष प्रकार के न्यूरोपेप्टाइड अणुओं को स्रावित करता है और इसी स्राव के कारण भूख कम हो जाती है; निद्रा से सम्बन्ध टूटने लगता है; धड़कन की गति सामान्य से अधिक हो जाती है।

वस्तुतः हाइपरटेन्शन की स्थिति में स्रावित होने वाले विभिन्न न्यूरोपेप्टाइडों का प्रधान कारण तो कार्टिकोटॉपिन रिलीजिंग फैक्टर ही है। यह ही सम्बद्ध हॉर्मोनों के स्राव तथा उनके व्यवहार को नियन्त्रित एवं निर्देशित करता है।

विशेषज्ञों की अवधारणा है कि तनाव जन्य भूख की कमी में सी.आर.एफ. ही जिम्मेवार है। सी.आर.एफ. नामक न्यूरोपेप्टाइड मस्तिष्क की कोशिकाओं की सतह पर पाए जाने वाले दो रिसेप्टरों सी.आर.एफ. 1 एवं सी.आर.एफ. 2 मित्रता कर लेते हैं। डॉक्टरों का मत है कि सी.आर.एफ. 2 मस्तिष्क के उस हिस्से में प्रचुरता से पाये जाते हैं जो भूख के लिए उत्तरदायी हैं। इस प्रकार स्क्रिप्स रिसर्च इंस्टीट्यूट कैलिफोर्निया के वैज्ञानिक जार्ज कूब ने पुरातन मान्यताओं का खण्डन कर अपने सहयोगियों के साथ यूरोकार्टिन नामक न्यूरोपेप्टाइड पर गहरी छानबीन की है। देखिए पिछले ही वर्ष यूरोकार्टिन नामक इस न्यूरोपेप्टाइड का पता चला है। जॉर्ज कूब का कहना है कि यूरोकार्टिन सी.आर.एफ. 2 रिसेप्टर पर सी.आर.एफ. न्यूरोपेप्टाइड की अपेक्षा कहीं अधिक आसक्त है। नतीजा यह है कि सी.आर.एफ., जहां सी.आर.एफ. 1 एवं सी.आर.एफ. 2 दोनों से मैत्री गांठता है, वहीं यूरोकार्टिन मस्तिष्क के उन हिस्सों को देखता तक नहीं। साथ ही, यूरोकार्टिन मस्तिष्क के उन हिस्सों में बहुतायत से पाए जाते हैं, जहां सी.आर.एफ. 2 के पाए जाने की सम्भावना होती है। जब शोधकर्ताओं ने दोनों न्यूरोपेप्टाइड की खुराक चूहे को दी तो सी.आर.एफ. ने शरीर क्रिया प्रणाली को समग्र रूप से उत्तेजित कर दिया तथा यूरोकार्टिन ने भूख पर लगाम लगा दी। एक माइक्रोग्राम यूरोकार्टिन ने चूहे को 6 घंटे के लिए भूख की पीड़ा से मुक्त कर दिया।

यूरोकार्टिन नामक इस न्यूरोपेप्टाइड के प्रभावों की गहरी छानबीन की जा रही है। चिकित्सक एनोरेक्जिया एवं ब्यूलीमिया जैसे रोगों के निदान में यूरोकार्टिन की

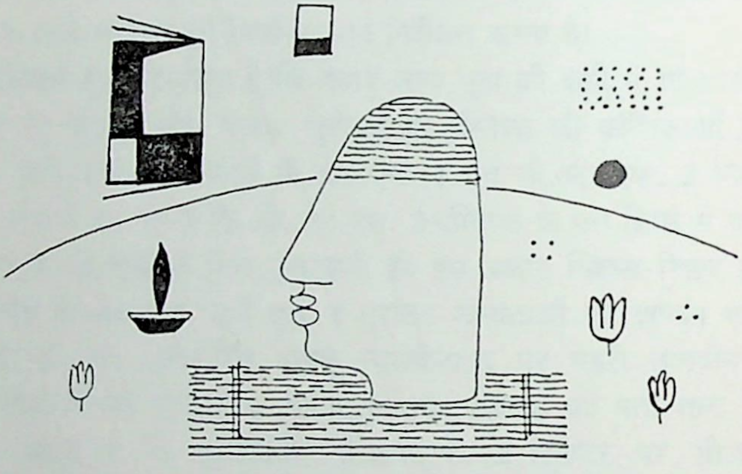
भूमिका पर विचार कर रहे हैं।

अन्त में कहना चाहूँगा जो कुछ भी हो, शान्ति के लिए तनाव मुक्त होना निहायत अनिवार्य है। सो वात्सल्य, स्नेह और प्यार के साथ भोजन बनायें, करें एवं सबको करायें। साथ ही साथ तनाव के मूल कारण बहिरंग क्षेत्र-वास्तु आदि दसों पुत्रों से अटेचमेन्ट कम करें। अन्तःपुर में हृदयासीन आशंका, अहंकार, बैचेनी, स्वार्थ आदि दसों अपत्यों से विरत होने के लिए तनाव-रहित महापुरूषों की शरण महत्वपूर्ण है। ओम् शान्ति।

⌘ ⌘

आओ! विचारें विचार पर

विश्व के समस्त परिवर्तनों के मूल कारण विचार 'ही' हैं। प्रत्येक विचार उस नन्हें से बीज के समान है जिसमें एक महान वृक्ष उत्पन्न करने की शक्ति छुपी है। यदि उस बीज को उचित वातावरण मिले तो निश्चय ही वह हमें सामर्थ्यशाली बना सकता है। विश्व का उत्पादक मूल स्रोत या केन्द्र हमारे विचारों को ऊँचा खींचने का प्रयत्न करता रहता है। यदि हम अपने विचारों को उनकी स्वाभाविक गति के अनुसार चलने दें तो निश्चय ही हमारा जीवन परिवर्तित होकर कल्पनातीत उत्कृष्ट स्थिति में आ जावेगा।



अध्यात्म शास्त्र का अटल एवं अनुभव सिद्ध सिद्धांत है कि मनुष्य के जैसे विचार होते हैं, वैसा वह नित्यप्रति जीवन में सोचता विचारता और ध्यान करता है। वैसा ही उसका भाग्य तथा फल निर्माण होता है। हमारा प्रत्येक विचार हमारे पथ में काँटे या पुष्प बिखेरता है। हम जैसा चाहें, अपने विचारों की शक्ति द्वारा बन सकते हैं। कोई भी विस्फोटक पदार्थ मनुष्य के प्रचण्ड विचारों से बढ़कर शक्ति नहीं रखता है। **विचार दिव्य शक्ति** हैं। विचारों द्वारा ही हम शक्ति का केन्द्र मन से निकालते हैं और अपने सबसे बड़े मित्र बन सकते हैं। वह शक्ति विचार है जो सारे संसार को चला रही है। जहां विचारों की ऊंचाई है वहां स्वर्ग है और जहां विचारों की मलिनता है वहां नरक है। विचारों में उतर कर ही हिंसा और अहिंसा को सक्रिय होने का अवसर मिलता है।

विचार की रचना

विचार की रचना परमाणुमयी है। ये आकाश में व्याप्त ईथर तत्व के सूक्ष्म कण समूह हैं। जिनकी रचना मन के अदृश्य स्तर में होती है। ईथर पदार्थ समग्र विश्व में प्रचुरता से व्याप्त है। इसी माध्यम के अनुसार विचार एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजे जा सकते हैं। दृढ़ इच्छा शक्ति एवं मनोबल द्वारा अपने विचार दूसरे मस्तिष्कों में भेज सकते हैं। विचार भी यात्रा करते हैं। वे विचारक के मन से अपनी यात्रा प्रारम्भ करते हैं और एक-दूसरे के मन को आन्दोलित करते हुए अपनी यात्रा सम्पन्न करते हैं। ईथर का अदृश्य माध्यम विचार संचालन क्रिया में सबसे बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है।

विचार हमारे मस्तिष्क की उपज हैं। अतएव व्यक्ति की उन्नति या सफलता का आधार उसके मस्तिष्क के विकास पर निर्भर है। यदि उचित प्रयास न किया तो मस्तिष्क अविकसित अवस्था में रह जाता है तथा सदैव दूसरों का दास बना रहता है। जरा-जरा सी बातों पर दूसरों की राय के भिखारी बने रहना उचित नहीं है। इससे मस्तिष्क की दृढ़ता तथा महत्ता खत्म हो जाती है किन्तु जिज्ञासु वृत्ति को केन्द्र में रखकर विचार उसकी परिधि की प्रदक्षिणा देते हैं तो मस्तिष्क पुष्ट हो जाता है।

हमारी मानसिक शक्तियाँ इच्छा शक्ति पर निर्भर हैं। इसलिये प्रत्येक समय मस्तिष्क पर कड़ी दृष्टि रखनी चाहिए। जब तक मन किसी विचार को पूरी तरह ग्रहण नहीं कर लेता, जब तक उसको अन्तर की अचेतन वृत्ति स्वीकार नहीं कर लेती, जब तक वह हमारे मस्तिष्क का एक अंश नहीं बन जाता या जब तक वह हृदय पटल पर दृढ़ता से अंकित नहीं हो जाता तब तक वह विचार वास्तविक स्थूल स्वरूप धारण नहीं कर सकता। उस विचार को सत्यस्थ होकर हमारे मन की एक स्थाई वृत्ति बन जाना चाहिये। 'स्वेच्छित-आत्मसंकेत' इसी रीति का नाम है। जो उत्तम विचार हम मन में अंकित करते हैं, उन्हीं को आत्मसंकेत कहते हैं। इच्छा शक्ति ही विचार उत्पन्न करने की शक्ति है और विचारों से ही इस शक्ति का निर्माण होता है। इसलिए इच्छा शक्ति कम होने पर ऐच्छिक विचार निर्माण करना कठिन हो जाता है क्योंकि भय के विचार से हमारी भावोत्पादक शक्ति निर्बल हो जाती है। स्वार्थी, संकीर्ण और संकुचित विचार हमारी शान्ति, सुख और विजय के शत्रु है।

विचार दारिद्रय

यों तो संसार में अनेक निंद्य वस्तुएँ मनुष्य का पतन करती हैं किन्तु शायद दुनिया की सबसे निकृष्ट वस्तु है – विचार दारिद्रय। विचार दारिद्रय ने आज अनेक

व्यक्तियों को दारिद्रय की कठोर श्रृंखलाओं में जकड़ रखा है। उनमें कुत्सित संकीर्णता, सीमा बन्धन तथा संकोच्य की क्षुद्र वृत्तियाँ उत्पन्न कर दी हैं। मानव जीवन में एक विषम अंधकार फैला दिया है। विचार दारिद्रय ने मानव समाज का बड़ा अपकार किया है। विचारों की दरिद्रता का परिवर्तन किए बिना जो भी परिवर्तन होंगे वे मनुष्य को अशान्ति की दिशा में ही ले जायेंगे।

यह एक निश्चित अकाट्य, निर्विवाद सत्य है कि विचार की दरिद्रता के कारण मनुष्य दरिद्र बनता है। अपने अंतःकरण में न्यूनता, गरीबी, असमर्थता की वृद्धि करता है। दरिद्रता की दास वृत्ति बहुत कुछ मनुष्यों के विचारों के परिणाम स्वरूप है। हर्ष का विषय है कि धीरे-धीरे मनुष्यों को विचार की अद्भुत शक्ति का ज्ञान होता जा रहा है और इस तथ्य पर पूर्ण विश्वास हो गया है कि व्यक्तियों को निकृष्ट बनाने वाले उनके विचार ही हैं।

संकीर्ण विचारों के कारण मनुष्य की शक्तियाँ पंगु होती हैं। उसे निकट भविष्य में अपनी दुर्गति होती हुई प्रतीत होती है। अंतःकरण में कभी शान्त न होने वाला अंतर्द्वन्द प्रारम्भ हो जाता है। विचार दारिद्रय बढ़ जाने पर मनुष्य भिखारी बन जाता है। वह अपनी शक्तियों के प्रति शंकित हो उठता है। उसका आत्मविश्वास उठ जाता है और वह असमर्थ बन जाता है।

विचारों का स्वभाव

विचारों का स्वभाव है कि उनका अतिथि सत्कार करो तो वे पुष्ट होते हैं, बढ़ते हैं, विकसित होकर नव-जीवन निर्माण करते हैं। यदि उन्हें दुत्कार दो या उनको बेइज्जत कर दो और उनकी परवाह न करो तो वे चले जाते हैं/मृत्यु को प्राप्त होते हैं। ऐसे विचारों को अपना मित्र समझो, जिनसे अच्छी आदतें बनती हो, उत्तम स्वभाव का निर्माण होता हो, उन्हीं का बार-बार चिन्तन करो। अतिथि सत्कार करो। इन भव्य विचारों का जीवन की प्रत्येक घटना पर बड़ा प्रभाव पड़ेगा। मनुष्य का जीवन घटनाओं का समूह है और ये घटनाएँ हमारे विचारों के परिणाम हैं।

जैसे सूर्य की किरणें आतिशी शीशे द्वारा एक ही केन्द्र पर डाली जाती हैं तो अग्नि उत्पन्न हो उठती है। उसी प्रकार विचार एक केन्द्र पर एकाग्र होने से बलवान बनते हैं। हमारी विचार शक्ति की ताकत हमारे मन की एकाग्रता पर निर्भर है। बिना एकाग्रता के मन में बल नहीं आ सकता। जिस व्यक्ति ने भी इस संसार में महत्ता प्राप्त की है उनका मन्त्र विचारों की एकाग्रता ही रहा है। केवल परमार्थ क्षेत्र में ही नहीं, संसार के व्यवहारिक कार्यों में भी एकाग्रता की बड़ी आवश्यकता पड़ती है।

मनोवेत्ताओं का अनुभव है कि हमारा प्रत्येक विचार मस्तिष्क में एक मार्ग बनाता है तथा उस निर्दिष्ट मार्ग पर वैसे ही अन्य विचार आकर उठते रहते हैं। पहले एक छोटी-सी पगडंडी बनती है फिर वही धीरे-धीरे राजमार्ग बन जाती है। पहले जब कुविचार मन में प्रवेश करता है तो एक मामूली सी लकीर बनाता है फिर वैसे ही मिथ्याविचार, आलस्य निरूद्यमता आदि तमोगुणी भाव प्रकट कर मानसिक मार्ग को और भी बड़ा बनाते हैं। बार-बार वैसे ही विचार आने से वे स्वभाव बन जाते हैं। सुख तथा दुःख हमारे इन मानसिक मार्गों की ही प्रतिक्रियाएँ हैं।

दुष्ट विचार सबसे बड़ा शत्रु है। प्राणी की हत्या करने वाला शायद उसी की हत्या करता है किन्तु विचारों की हत्या करने वाला न जाने कितने ही प्राणियों की हत्या का हेतु बन जाता है। जब तक विचारों के नए झरोखें नहीं खुलेंगे तब तक जीवन में सत्य का प्रकाश नहीं आ पायेगा। यदि आप दुष्ट विचारों से बचना चाहते हैं तो निद्रा से पूर्व आत्म निरीक्षण कीजिए। सोचिए कि आज आपने क्या बुराई की? कौन-कौन से दुष्ट विचार आपके मनः क्षेत्र में प्रविष्ट हुए? आज आपसे कौन-सा पाप हुआ? किस-किस की निंदा की? किससे ईर्ष्या की? किसका जी दुखाया? आदि ऐसे जो-जो पाप हुए हों उनके लिए हार्दिक पश्चाताप कीजिए तथा भविष्य में न करने का संकल्प लीजिए।

क्रियात्मक विचार की न्यूनता

विंचार संसार की सबसे बड़ी शक्ति है। किन्तु असंगठित, अव्यवस्थित और काल्पनिक किताबी विचार केवल दिल बहलाव, मनोरंजन की सामग्री है। जिस प्रकार हम कुछ देर के लिये कोई पुस्तक लेकर अपना मनोरंजन कर लेते हैं, उसी प्रकार इन शुभ विचारों में रमण कर कुछ देर के लिए हम उनकी शक्तियों पर चमत्कृत हो लेते हैं।

हमारी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि हम उन विचारों को क्रियात्मक स्वरूप प्रदान नहीं करते। पुस्तकों में वर्णित स्वर्ण सूत्रों को कार्य रूप में परिवर्तित करने के लिये प्रयत्नशील नहीं होते। उनके अनुसार जीवन को नहीं मोड़ते। शिक्षाओं पर दत्त चित्त, एकाग्र दृढ़ता पूर्वक अमल नहीं करते। अपने आचरण को उनके अनुसार नहीं बनाते। केवल पढ़कर या जानकर ही संतुष्ट हो जाते हैं। आजकल अधिकांश जिज्ञासु तथा विचारक क्रियात्मक विचार की न्यूनता के कारण वांछनीय परिस्थिति उत्पन्न नहीं कर पाते।

विचार के दो रूप हैं एक काल्पनिक तथा दूसरा क्रियात्मक। काल्पनिक तथा क्रियात्मक स्वरूपों के उत्तम सामंजस्य से ही समूचा विचार बनता है तथा उनमें पूर्ण

उत्पादक शक्ति का संचार होता है। अभिलाषा, विचार, योजनाएँ तब तक उत्पादक नहीं बन सकतीं, जब तक वह मनुष्य की क्रिया के रूप में पूर्ण रूप से बदल ही न जायें। अभिलाषा का क्रिया के साथ सम्मिलन होने पर उत्पादक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तथा शीघ्र ही फल की प्राप्ति हो जाती है। यह क्रियात्मक विचार प्रणाली कहलाती है। जिस विचारधारा में जीवन विकास का क्रम, नये निर्माण का अदम्य पौरूष एवं आनन्दोपलब्धि की क्षमता न हो उस विचार या परम्परा को निभाने का आग्रह अनुचित है। वे ही विचार महत्वपूर्ण हो सकते हैं जो जन-जन के जीवन की समस्याओं को सुलझाने में समर्थ होते हैं। अनायास धनुष से छूटा तीर कभी-कभी सही लक्ष्य भेद कर देता है। उसी प्रकार कभी-कभी सहज रूप से हृदय में उभरा भाव, विचार व्यक्ति के जीवन को आमूल-चूल बदल देता है।

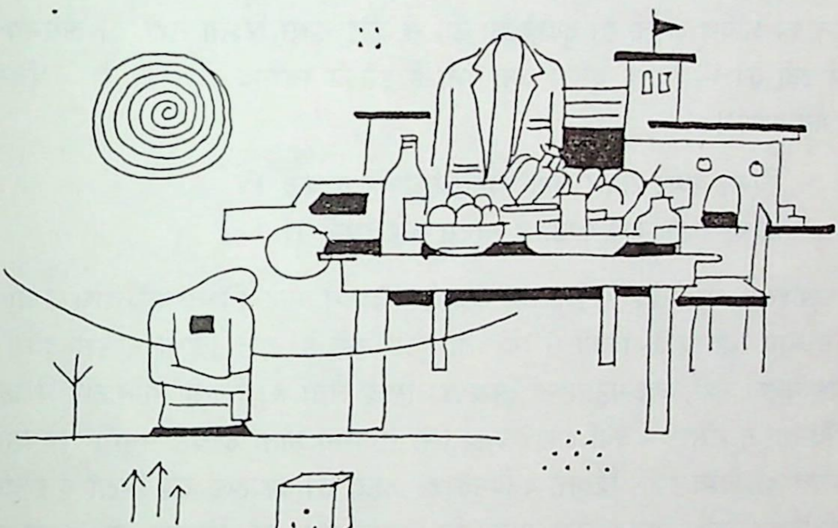
वास्तव में मानव जैसा सोचता है, वैसा बन जाता है। उसकी वृत्तियों, नीतियों और व्यवहारों पर उसके विचारों का प्रभाव पड़ता है। इसलिए कहा है कि विचारों की शक्ति की थाह पाना बहुत मुश्किल है।

विचार प्रणाली को आत्मसात् करके इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सकती है। आवश्यकता है दृढ़ इच्छा शक्ति की। आखिर इसके लिये प्रेरणा देने वाला मूल तत्व तो 'विचार' ही है ना?

⌘ ⌘

चिन्ता और चिता

आज विश्व में मानव के पास सुख के सर्व साधन उपलब्ध हैं। रहने के लिए बड़े-बड़े बंगले हैं। पहनने के लिए सुन्दर-सुन्दर वस्त्र। खाने के लिए नाना तरह के स्वादिष्ट भोजन-व्यंजन। सैर-सपाटे, मौज-मस्ती के लिए एक से एक गाड़ियाँ। आकाश तक उड़ने के लिए ऐरोप्लेन, विश्व भर को घर बैठे जानने के लिए ट्रांजिस्टर, समाचार पत्र एवं टेलीविजन हैं। हजारों-हजार किलोमीटर दूरी पर बैठे व्यक्तियों से वार्तालाप करने के लिए टेलीफोन, सेलुलर, पेजर, वायरलैस तथा उनसे साक्षात् बातचीत का आनन्द एवं सम्पर्क के लिए टेलीपैथी भी हमें वैज्ञानिकों के खोजी मस्तिष्कों ने दे दी है।



आपके सामने अब प्रश्न चिन्ह है कि इन तमाम भौतिकताओं के अभाव में पल रहे हमारे पूर्वजों का जीवन शान्त था या इन भौतिकताओं के बीच में बैठे आपका जीवन शान्त है? सोचना आपको ही होगा। यदि उनका जीवन शान्त था तो क्या वजह थी कि अभावों में भी वे शान्ति का अनुभव करते थे? और क्या वजह है कि आप सद्भावों में भी उस परम तत्त्व से रीते हैं? विज्ञान की प्रगति बुरी नहीं है; बशर्ते वह धर्म के साथ हाथ मिलाकर चलती हो। बुराई तो तब होती है जब वह 'धर्म की लगाम' गलत हाथों में पड़कर उच्छृंखल एवं बेलगाम हो जाती है। वैज्ञानिक नये-नये आविष्कार तो कर सकते हैं लेकिन उन आविष्कारों पर नियंत्रण

और उनका सम्यक् उपयोग वैज्ञानिकों के नहीं, आपके हाथों में हैं।

आज विज्ञान विवेक-दृष्टि से अन्धा है और आपका अध्यात्म आचरण से लंगड़ा गया है। यदि आज भी अंधे विज्ञान को लंगड़े अध्यात्म पर बिठा कर चलें तो मैं समझता हूँ आपका कल्याण तो हो ही सकता है। और यदि इस प्रकार की सोच हर इन्सान की हो जाये तो विश्व कल्याण तो सुनिश्चित ही है। पर सोचे कौन और क्यों? आपका अध्यात्म तो केवल लंगड़ा है। वह चल तो सकता है। चलना भी चाहता है परन्तु आपका मन तैयार नहीं होता क्योंकि मन 'ज्वर पीड़ित' है।

को वा ज्वरः प्राणभृतां हि?

चिन्ता।

शिष्य ने पूछा – "भंते! प्राणधारियों के लिए कौन सा ज्वर सदा पीड़ित करता है?"

भगवान् ने उत्तर दिया – "चिन्ता" 'चिन्ता समं नास्ति शरीर शोषणम्' चिन्ता इन्सान का शोषण करती है। बुढ़ापे का उम्र से कोई खास रिश्ता नहीं है। असमय में अल्प उम्री को भी चिन्ता बुड्ढ़ा बना देती है इसका स्वभाव ही ऐसा है – 'चिन्ता जरा मनुष्याणां'।

चिन्ता बंध्यउ सयल जग, चिन्ता किणहि न बद्ध ।
जे नर चिंता बस करइ, ते मानस नहि सिद्ध ।।

आश्चर्य और खेद है इस ढाई अक्षरी शब्द ने सारे विश्व को बांध रखा है लेकिन स्वयं स्वतन्त्र है; किसी से भी बंधा हुआ नहीं है। यदि किसी ने इसे बांधा है तो वह मनुष्य नहीं, वह मनुष्य तो सिद्ध है। सिद्ध जैसा है। किसी नीतिकार ने कहा है – चिन्ता! तू संसार में क्यों आई? जहाँ तेरा समागम होता है वह मनुष्य तेरे बाणों से घायल हो विह्वल सा किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाता है। ब्रह्माण्ड को हिला देने वाले प्रचण्ड-पौरूष को भूलकर तेरा दास बन दुष्प्रवृतियों का शिकार हो जाता है। शक्तिशाली श्रीमान, धीमान्, बलवान, कर्मठ कार्यकर्त्ता, शास्त्रज्ञ सभी की गति में तू पर्वत की तरह अवरोधक है। ये सब तेरे सामने विवश हैं।

धन्य है! चिन्ता तेरा चरित्र

हे चिन्ता! तेरा चरित्र किसी को भी प्रिय नहीं। तेरा वंचना पूर्ण व्यवहार किसी के लिए भी तो सुखद नहीं है। कारण तू जिसके पास पहुंचती है, जिस आसन पर तू आसीन होती है; उस आसन सहित, आसन के आधार को भी जला डालती है। अपनी आग में निरन्तर धधकती रहती है और मजे की बात तो यह है कि जो

शालीन घट (लोग) होते हैं उनसे तू अपना विषैला, कड़ुवा धुँआ भी बाहर नहीं निकलने देती। वे वहीं घुटन में घुटते रहते हैं। कुछ ऐसे आसन, घट होते हैं जिनकी दरारों से तेरी उपस्थिति के द्योतक धूम-कण बाहर आ जाते हैं। जो परिवार को ही नहीं, सारे नगर को विषाक्त कर देते हैं। अफ्रीका में नरभक्षी वृक्ष पाये जाते है। जो उसके पास से निकलता है उसे वे अपनी शाखाओं को झुकाकर जकड़ लेते हैं। शरीर का सारा रक्त चूस लेने पर रस निकाले गए ईख के छिलके की तरह फेंक देते हैं।

चिन्ता जीवित की चिता

हे चिन्ता! तेरा चरित्र भी तो ऐसे ही नरभक्षी वृक्षों की तरह है। तू तो साक्षात् बिना मरे जीवित लोगों की चिता है। चिता फिर भी अच्छी है। वह तो मृत को और वह भी एक बार जलाती है किन्तु तू जीवित को और ऊपर से प्रतिपल जलाती रहती है। तुझमें और उसमें कितना अन्तर है।

अन्तेवासी ने गुरू से पूछा – को भेदश्चिताचिन्तयो?

गुरू ने उत्तर दिया –

चिता चिंता समायुक्ता, बिन्दुमात्र विशेषतः ।
सजीवे दहते चिंता, निर्जीवे दहते चिता ॥

चिता और चिन्ता दोनों में एक 'बिन्दु' मात्र का अन्तर है। लेकिन यह बिन्दु कितना शक्तिशाली है? चिता में केवल निर्जीव को जलाने का सामर्थ्य है लेकिन चिन्ता ने तो सजीव भी जला डाला। चिन्ता विष है, जो शरीर को शुष्क करता है। मांस रस को चूसता है। रक्त विषाक्त करता है एवं शरीर पर दाहक प्रभाव डालता रहता है। व्यक्ति का रक्त चिन्ता की भट्टी में तपते रहने से इतना उष्ण हो जाता है कि उसका मन-मस्तिष्क सदा उत्तेजित रहता है। सारे स्नायु मंडल, ज्ञान तन्तु, रक्त वाहिनी धमनियां, क्रियाशील नाड़ियाँ सभी उत्तेजित रहते हैं। न वह सो सकता है, न खा सकता है। न चैन से जी पाता है और न ही चैन से मर पाता है। कारण चिन्ता की बलिवेदी पर उसके सारे सुख स्वाहा हो जाते हैं। चिन्ता कितनी खतरनाक है कि अपने ही शरण प्रदाता को मरण की शरण भेज देती है। इसका दिल पर सबसे बुरा असर पड़ता है। दिल घबराने लगता है और वह स्थिति भी आ जाती है जब इन्सान को Heart attack (हार्ट अटेक) हो जाता है।

कितना बड़ा सत्य है। इन्सान स्वतन्त्र पैदा होता है किन्तु ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, त्यों-त्यों चिन्ता के बन्धनों में जकड़ता चला जाता है। आयुष्य पर्यंत बन्धन ग्रस्त हो जीवन वृत की इति श्री कर मृत्यु की गोद में समा जाता है। चिन्ता से एक ओर

घातक बीमारी जन्म लेती है जिसे कहते हैं अनिद्रा या उन्निद्र। नींद लेने के लिए गोलियां लेना कितनी मूर्खतापूर्ण बात है। नींद की गोलियां अनिद्रा दोष/रोग को बढ़ातीं हैं। कारण अधिक या प्रतिदिन उनका सेवन करने से उनकी प्रभावक शक्ति कम हो जाती है। इस रोग को रोकने के लिए केवल दो उपाय हैं।

निद्रा के द्वार पर पड़ी चिन्ता की फाइलें

पहला चिन्ता के कारणों का अन्वेषण किया जाए और दूसरा नींद लाने की व्यर्थ कोशिश न की जाये। आप जितना सोने का प्रयत्न करते हैं, चेष्टा करते हैं उतना ही आप मस्तिष्क में रक्त को रोके रखते हैं। रक्त को उन्मुक्त हो बाहर नहीं जाने देते। जब मस्तिष्क रक्त से भरा हो तो आप लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं सो सकेंगे। आपने ध्यान दिया होगा यदि शान्तिपूर्वक भोजन किया जाए तो भोजनोपरान्त निद्रा आने लगती है। क्या कारण है? क्या अन्न का प्रभाव है? क्या अन्न का नशा? नहीं। ये दोनों ही कारण नहीं। कारण है रक्त का मस्तिष्क से बहकर पाचन-संस्थानों के अंग प्लीहा, यकृत, आमाशय, वृहदांत्र आदि में विभाजित हो जाना। आप जब शयन कक्ष में विश्राम हेतु पहुंचते हैं चिन्ताओं का बोझ, ऑफिसों की फाइलें, गृहस्थी की गन्दी रिपोर्ट लेकर, तब आप ही कहिए निद्रा कहां से आयेगी? उसके आने के मार्ग पर तो आपने चिन्ताओं की फाइलें पटक दी हैं। शयनकक्ष (सोने का स्थान) Gold Place है चिन्तालय नहीं। यहाँ पर चिन्ता, भय, जलन, ईर्ष्या, मन को घायल करने वाले आक्रामक और अप्रिय विचारों का स्थान नहीं है। इनकी मरम्मत यहां नहीं हो सकती है।

चिन्ता का दुष्चक्र

आप जानते हैं जहाँ गाड़ी के टायरों की मरम्मत होती है; क्या वहाँ वस्त्रों को रंगा जा सकता है? यदि नहीं, तो जहाँ शारीरिक चिकित्सा होती है, वहाँ चिंता की खुली-बंद फाइलों को कैसे देखा जा सकता है? **शयनकक्ष तो शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक विश्राम का आलय है**। पुनः ऊर्जा संचित करने, बैटरी चार्ज करने का एकमात्र स्थान है। मस्तिष्क की जो स्लेट दिनभर की थकान, कुढ़न, ऊब, चिड़चिड़ाहट से भरी है उसे साफ करने की लेबोरेट्री है। जो चिन्ता लेकर शयनकक्ष में जाता है, उनकी चिन्ता नीरव वातावरण पा उससे खुलकर खेलने लगती है क्योंकि उनका खुला नृत्य देखने वाले केवल आप ही होते हैं। उस समय उन पर किसी का हस्तक्षेप नहीं रहता। अस्तु रात्रि के अंधेरे में चिन्ताओं के दैत्य जुलूस बनाकर आपके सामने से गुजरने लगते हैं। आप घबरा जाते हैं तो झट गोली लेने

की सोचते हैं। अथवा लम्बी-लम्बी रातें करवटें बदलकर निकाल देते हैं। अब जब आप त्रस्त मस्तिष्क लेकर उठेंगे, निश्चित ही किसी से झगड़ेंगे। आपकी शान्ति भंग होगी और परिवार की भी। फिर आप तनाव से भरकर घर से निकल जायेंगे। व्यापारियों से, सहकर्मियों से झगड़ उठेंगे। आपकी सृजनशीलता एवं शारीरिक व मानसिक उत्साह खंडित हो जायेगा। **असफलता की बारूद लेकर पुनः चिड़चिड़े घर लौट आयेंगे** और सारा एकत्रित गुबार या तो गृहलक्ष्मी पर उतरेगा या निरपराध शिशु या सर्वेन्टों पर। चिन्ता का दुष्चक्र बड़ा वक्र है। इसमें बारहसिंघा की तरह इन्सान फंसता जाता है और अन्त में कहता है – "महाराज! गृहस्थी बड़ी गन्दी है।"

पश्चिम निमाड़ प्रान्त (म.प्र.) में मेरे पास एक भक्त आता था। कहता था – "महाराज! क्या करूं रोज आने की सोचता हूँ लेकिन आ नहीं पाता।"

मैंने पूछा – "क्यों?"

बोला – "गुरूदेव मेरे पास इतनी अधिक चिन्ताएं हैं कि उन्हें सम्भाल नहीं पाता हूँ। आप तो जगह-जगह भ्रमण करते हो बताओ कोई व्यक्ति ऐसा हो जिसे चिन्ता की जरूरत हो। उसे मैं एक-दो ट्रक भर चिन्ताएं मुफ्त में सप्लाय कर दूँ।"

उसके चेहरे को देखकर मेरा मन भी द्रवित हो उठा। मैंने कहा – "भैया! तुमने चिन्ताओं को ओढ़ा ही क्यों? सच बताओ **चिन्ता पहले तुम्हारे पास आई थी या आपने उसके साधनों को अपनाकर उसे निमंत्रण भेजा था**?"

चुलुम्पा-सी देह ऐरावत-सी चिन्ताएँ

महानुभाव यह जिन्दगी छोटी सी है। उस पर भी वह अनिश्चित और चंचल है। चुलुम्पा जैसी छोटी देह पर ऐरावत जैसी विशालकाय चिन्ताओं के बोझ को क्यों लादते हो? क्या नहीं जानते; चुलुम्पा की क्या स्थिति होगी? वह समझ गया। शायद आप भी समझ गये होंगे। महानुभाव! क्या-क्या कहूँ? और कैसे कहूँ? किसलिए आप अल्प जीवन के लिए चिन्ताओं के दुष्चक्र में फंसते हो? चिन्ताओं को छोड़ो। यह हमारी अपनी भूल-भ्रांति है। हमने अपनी अज्ञानता से इसे बनाया है। इसका त्याग भी आप स्वतन्त्रता से कर सकते हैं। चिन्ता के त्याग के लिए कोई तपस्या की आवश्यकता नहीं है। कुछ उछल-कूद भी नहीं करनी पड़ेगी। सोच लो; जो प्राणी इस पृथ्वी पर आता है गर्भ से ही अपना भाग्य, आयु, धन, कर्म और विद्या साथ लेकर आता है फिर मैं व्यर्थ उसकी चिन्ता क्यों करूँ। चिन्ता पाप है, अधर्म है, आत्मघाती है। इसके विष का वमन करो। फिर देखो गन्दी गृहस्थी भी 'नन्दन वन' बन जायेगी।

⌘ ⌘

गर्भपात ! गर्भपात !! गर्भपात !!!
इतिहास तुझे कभी माफ नहीं करेगा

इन दिनों शाकाहार एक बहुचर्चित विषय है। देश में सर्वत्र शाकाहार की महत्ता और उपयोगिता पर व्यापक विचार-विमर्श चल रहे हैं; जिससे पता लग रहा है कि मांसाहार से पर्यावरण को कितनी क्षति पहुँच रही है। सबसे पीड़ादायी तो यह है कि आदमी उन तथ्यों, जानकारियों को रखते हुए भी बेखबर है, जिनका उसके वैयक्तिक और सामाजिक जीवन पर बेशुमार प्रभाव पड़ रहा है, परिवार पाशविक वृत्ति के शिकार होते जा रहे हैं। घर कत्लखाने बनते जा रहे हैं। माँ की पवित्र कोख बूचड़खाना बनती जा रही है। पूरा-का-पूरा देश हिंसक वातावरण में नहा रहा है।



संवेदना शून्य होता मानव

स्थिति बड़ी गंभीर है; मांसाहार की रणनीति, विज्ञापन-प्रचार का बड़ा शोर है। जिससे धर्म की सारी कथाएँ बे-असर होती जा रही हैं। मानव संवेदना शून्य होता नजर आ रहा है। कारण दूरदर्शन ने अच्छी तरह से झोपड़ी से भवन तक, गली से

मोहल्ले तक, गाँव से शहर तक न जाने कहाँ-कहाँ तक अपनी पहुँच बना ली है। सरकार विदेशी मुद्रा की मृग तृष्णा में एक स्थान पर बैठे-बैठे मांस का द्रुत गति से प्रचार कर उसके अस्तित्व को अन्तराष्ट्रीय स्तर पर फैला रही है। पूर्ण रंग-बिरंगे चित्रों एवं गीतों द्वारा सुकुमार मतियों के चित्त मांसाहार की ओर आकर्षित कर रही है।

सिंगापुर स्थित एशियन मास कम्युनिकेशन रिसर्च इन्फर्मेशन सेंटर के दूरदर्शन कार्यक्रम; सर्वेक्षण के अनुसार भारत में हिंसा की 74 प्रतिशत व्यापकता वृद्धि के लिए उत्तरदायी है।

क्या यही है देश का विकास?

दुर्भाग्य है 20वीं सदी के लोगों का; जो हो रहे गर्भपात के दर्दनाक आँकड़ों पर किंचित् भी चिन्तित नहीं हैं। बावजूद भारत सरकार इस घिनौने महापातक को वैध करार देकर अपनी प्रगति का फरमान जारी कर रही है। अहं का घूंट पीकर अपने आपको विकासशील देशों में परिगणित कर रही है। क्या यही है देश का विकास? क्या इसी का नाम है प्रजातन्त्र? क्या इसी को माने हम बुद्धि का विकास? या कि सर्वनाश? क्या माने? आज सैक्स परीक्षण में मादा भ्रूण का पता चलने पर गर्भ में ही हत्या कर देने का चलन बढ़ता जा रहा है। अकेले जयपुर में इस तरह हर साल नष्ट होने वाले 3500 मादा भ्रूण इसका सबूत है।

मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ प्रेगनेंसी एक्ट का दुरूपयोग

यहाँ यह बताना होगा कि डॉक्टरों ने व्यक्तिगत मुनाफे के लिए इस प्रथा को बढ़ावा दिया है। सन् 1971 में पारित मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ प्रेगनेंसी एक्ट का दुरूपयोग किया है तथा आज भी कर रहे हैं। क्या वे इस बात को नहीं जानते कि सैक्स का पता लगाने वाली आधुनिक नूतन विधियों से गर्भवती महिला और कोख में पल रहे शिशु के स्वास्थ्य पर कितना गम्भीर असर पड़ रहा है? गर्भपात से होने वाली मौतों की संख्या धरती पर नर्क का दृश्य उपस्थित कर चिन्ताजनक ढंग से बढ़ रही है।

महानुभाव! सवाई मानसिंह मेडिकल कॉलेज में शरीर संरचना विभाग के प्रोफेसर डॉ. `एस.जी. काबरा ने अपनी पुस्तक 'मिसकैरीयेज ऑफ मेडिसन' में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि पहले बाकायदा भ्रूण की स्थिति के बारे में पता लगाया जाता है और उसके बाद मादा भ्रूण को मार दिया जाता है।

मानवता का क्रूर उपहास : लेट हर डाइ

बी.बी.सी. द्वारा निर्मित फिल्म 'लेट हर डाइ' (उसे मरने दो) में भी जैसलमेर (राजस्थान) के एक गाँव का जिक्र है, जहाँ बच्ची के जन्मते ही उसे मार दिया जाता है। इसे सुनते ही रोम-रोम खड़ा हो जाता है, हृदय वेदना से भर उठता है। और मन इस भयंकर पीड़ा को बर्दाश्त नहीं कर पाता।

कितनी बेहूदी बात है कि विदेशों में गर्भपात के खिलाफ जंग छिड़ी हुई है और हमारे देश में इसे उत्साहित करने के लिए स्टेशनों पर, अखबारों में इश्तहार तथा विज्ञापन छपते हैं। क्या हम इन आधुनिक नर कत्लघरों के बारे में कभी चिन्तित हो पायेंगे?

देखिए! बी.बी.सी. की एमिली बुचानन साप्ताहिक 'एसाइनमेंट' कार्यक्रम में सुश्री बुचानन तीसरी दुनियां के ज्वलंत मुद्दे उठाती रही हैं। अल्जीरिया में मुस्लिम उग्रवाद का भड़कना हो या जिम्बाब्वे का अकाल या फिर लातिनी अमेरिका का पश्चिम द्वारा शोषण, एलिनी के कार्यक्रम तूफान उठाते रहे हैं। ऐसा ही बड़ा तूफान उठाया उनकी डाक्यूमेंटरी 'लेट हर डाइ' ने। इस वृत्तचित्र में राजस्थान और तमिलनाडु को विशेष रूप से 'कवर' किया और दिखाया गया कि किस तरह मादा भ्रूण नृशंसता पूर्वक गर्भ में मार दिये जाते हैं।

राजस्थान के जैसलमेर जिले के एक भाटी गांव में बुचानन की कैमरा टीम ने 'लड़ाका कौम' की उस मनोवृति को समझाने का प्रयास किया है। वहां आज भी महिला को अनावश्यक बोझ की तरह लिया जाता है। यह फिल्म बी.बी.सी. पर 2 अक्टूबर 1993 महात्मा गांधी के जन्मदिन पर दिखायी गई। इस फिल्म की गूंज भारत में चाहे न हुई हो पर यूरोप खासकर स्वीडन में व्यापक चर्चा का विषय बनी। फलतः वैचारिक तूफान उठा। फिल्म में महिलाओं ने साफ कहा कि वह मादा बच्चे को मार देने को ज्यादा तरजीह देंगी बनस्पत उसे पाल-पोसकर बड़ा कर दहेज के जाल में फंसने के। एक पुरूष बता रहा था कि अगर उसका अगला बच्चा मादा हुआ तो गर्भपात से नहीं हिचकेगा।

माग्राथा विकलुंड का दर्द

फिल्म के बाद स्वीडन की प्रभावशाली संसदीय विदेश मामलों की समिति की सदस्य तथा सांसद सुश्री माग्राथा विकलुंड ने दर्द प्रकट किया कि भारत में स्थिति बेहद नाजुक है। इस स्थिति में स्वीडन को कुछ करना चाहिए। तब सुश्री विकलुंड ने चेतावनी दी, कि अगर भारत में मादा भ्रूण की रोक विषयक कानून नहीं बने तो स्वीडन आर्थिक मदद देना बन्द कर देगा। मानवाधिकार मन्त्री सुश्री अलिफसेंसन ने

भी इसमें अपनी सहमति प्रकट की और उन्होंने तो यहां तक कहा था कि संयुक्त राष्ट्र और मानवाधिकार सम्बन्धी एजेंसियों को भी आगे आना चाहिए और भारत को आर्थिक मदद बन्द कर देनी चाहिए। ज्ञात रहे! स्वीडन से भारत को विकासात्मक परियोजनाओं के लिए सबसे ज्यादा मदद मिलती है और राजस्थान को भी स्वीडन की 'सीडा' (स्वीडिश इंटरनेशनल डेवलपमेंट एजेंसी) ने शिक्षा से लेकर वृक्षारोपण तक के लिए कोई दस अरब रूपये दिये हैं। इसमें छह सौ करोड़ रूपये की लोक जुम्बिश और शिक्षा कर्मी जैसी महत्वपूर्ण परियोजना भी शामिल है।

प्रभावक तो यह है कि स्वीडन की जनता में इस फिल्म का प्रभाव इस कदर पड़ा कि हाल ही में राजस्थान के दौरे पर आये सीड के अधिकारियों में से एक अधिकारी राज्य (राजस्थान) के एक बड़े प्रशासनिक अधिकारी से भ्रूण परीक्षण पर पूछ बैठा। तो उसने सत्य का पर्दाफाश कर बताया, जिसका सीडी की टीम ने मादा भ्रूण हत्याओं को गम्भीरता पूर्वक लिया और सवाल भी उठाया कि जब नारी के साथ इतना अन्याय हो रहा है तो इसे रोका क्यों नहीं जा रहा? हमारा सामाजिक, आर्थिक उत्थान के लिए पैसा लगाने से क्या फायदा?

इधर भी सोचो

अरे मात्र पशु-वध पर चिन्ता व्यक्त करने वाले लोगों! जरा इस दर्द को भी झांककर देखो। ये संज्ञी पंचेन्द्रिय (महिला) मनुष्य मारे जा रहे हैं। उन्हें तुम नजर अंदाज किये जा रहे हो। उठो! जागो! उन अधम डॉक्टरों और सरकार को भारत माता की धरती पर रहने की क्षणभर की इजाजत मत दो। अन्यथा इस पाप के भागीदार, मूक समर्थन से आप भी माने जाओगे।

आप क्या सोचते हैं? क्या इन जघन्य कृत्यों ने समाज के सदाचार को नहीं उजाड़ दिया? क्या आगे चलकर भावी पीढ़ी पर उसके अच्छे नतीजे होंगे? इन तमाम हालातों को देखते हुए वे लोग भी संभल जायें जो छुपे रूस्तम शादी से पूर्व ऐसे अक्षम्य, अमानवीय आचारों में अपनी अहम भूमिका अदा कर रहे हैं। वे लोग भी ध्यान रखें! जो सन्तान की परवरिश करने से कतराते हैं और काम पुरूषार्थ के लिए हरदम तत्पर रह गर्भ में आये शिशुओं पर कहर बरपाते हैं और अन्धी दौड़ में स्वयं का जीवन दाव पर लगाये जाते हैं। जरा सोच लें, समझ लें कि वे कौन से नर्क का टिकट लेना चाहते हैं? क्या आपने जीते-जी धरती को ही नर्क बना देने की ठान ली है? कृपया निर्णय कर शीघ्र ही बताएँ! नहीं तो फिर ऐसे लोगों को इतिहास कभी भी माफ नहीं करेगा।

वर्तमान युग यों तो सभ्यता के विकास का चरम युग माना जा रहा है किन्तु

इस मानवीय कलंक की कालिमा की क्रिया-कलापों का दृश्यावलोकन या श्रवण कर सहज ही मनुष्य को नर-राक्षस कहना उचित होगा। मातृत्व का इससे घोर अपमान और क्या होगा? वह नन्हीं कली जो धरती पर जन्म लेने से पूर्व तोड़-मरोड़ कर फेंक दी जाती है? माँ के जीवन का इससे अधिक पीड़ादायी या क्रूरतापूर्ण क्षण और कौन सा होगा? जहाँ वह स्वयं ही अपनी ममता का गला घोंट रही हो या पुरूष समाज द्वारा घोंटा जा रहा हो।

सोचो! जब तुम माँ के गर्भ में थीं

भारतीय नारियों को समझना होगा कि जब तुम अपनी माँ के उदर में अंकुरित हो फल-फूल रही थी तब तुम्हारी माता ने यदि तुम्हारी गर्भ में ही हत्या करवा दी होती तो क्या तुम्हारा जन्म सम्भव था? क्या तुम इस संसार को देख पाती? यदि नहीं तो तुम स्वयं नारी होकर अपनी ही जाति पर अत्याचार करने पर क्यों तुली हो?

यदि कोई पुरूष तुम्हारी किसी बात पर तुम्हारा ध्यान आकर्षित कराता है तो तुम उसे नारी का आलोचक कहती हो। और मजे की/मूर्खता पूर्ण तुम्हारी यह बात है कि तुम उन्हें ही पुत्र रूप में पैदा करने का सबब देखती हो। "कोई नारी निन्दा न करे" या "हमारी नारी जाति पर पुरूषों ने ज्यादती की है" ऐसा कहने वाली तुम स्वयं अपनी जाति पर पुरूषों की अपेक्षा अधिक अत्याचार करती हो। आखिर तुम्हारे कथन और आचरण में इतना अधिक वैषम्य या विरोध क्यों?

नारी; नारी की सबसे बड़ी दुश्मन है। चाहे वह मादा भ्रूण की हत्या द्वारा उन पर जुल्म ढाये या दहेज के अभाव में उसे त्रास देकर जलाकर मार डाले।

नारी : कैसी है तुम्हारी कूटनीति?

जो माँ अपने द्वारा प्रसूत सन्तान पर फूल का प्रहार भी बर्दाश्त नहीं कर सकती। उसके लाडले को जरा सी चोट लग जाने पर जिसका कलेजा मुँह को आ जाता है। घर भर में कुहराम मचा देती है। उसके मासूम बच्चे को उसका साथी नन्हा-मुन्ना चाहे उसी परिवार का भाई बन्धु भी क्यों न हो? चाहे पड़ौसी का बच्चा क्यों न हो? अथवा चाहे स्वयं बालक के चाचा-ताऊ, दादा-दादी, चाची-ताई, बुआ-मौसी भी क्यों न हो? उनके द्वारा अपने बालक के प्रति कहे गये कठोर अपशब्द या आचरण जिस माँ को बर्दाश्त नहीं है किन्तु आश्चर्य है वही माँ अपनी कोख में पल रहे तीन से लेकर छह माह के अपने ही रक्त-मांस से बने; अपने ही पति द्वारा रोपे गए वैधानिक किन्तु अनचाहे नन्हें-नन्हें शिशुओं का कत्ल कर टुकड़े-टुकड़े करवाते

हुए तनिक भी नहीं हिचकिचाती? उनकी आत्मा अपने खून का खून होते देख तनिक भी उत्पीड़ित नहीं होती?

देश के अन्धे कानून

कैसे अन्धे कानून हैं इस भारत के? यदि कोई नारी गर्भस्थ शिशु को गर्भ में ही मरवा दे तो वह गर्भपात कहलाता है और धरती पर आ गई मासूम सी कली को मरवा दे तो वह खून या हत्या कहलाती है? भारत के कानून निर्माता ने कैसे अन्धे कानून बना रखें हैं? खूनी को कठोर दण्ड और गर्भपात जैसे पातक को प्रोत्साहन/पुरस्कार? मुम्बई समाचार; 11 मई 93 को देखने से ज्ञात हुआ कि आंणद स्थित त्रिभोवनदास फाउन्डेशन व अहमदाबाद की ज्योति संघ आदि संस्थाओं को क्रमशः डेढ लाख रूपये, पचास हजार रूपये की राशि प्रोत्साहक पारितोषिक स्वरूप प्रदान की गई। एक बार आरोग्य मन्त्री ने अपने उद्बोधन में कहा था कि गर्भपात के मामले में समस्त देश में तमिलनाडु एवं महाराष्ट्र राज्य अग्रगण्य हैं। इसलिए उन्होंने सम्बन्धित प्रदेश सरकारों का अभिनन्दन किया तथा इन दोनों तथाकथित प्रगतिशील प्रदेशों का अन्य प्रदेशों की सरकारों को अनुकरण करने की सलाह दी। मेरा आम जनता से प्रश्न है कि आरोग्य मन्त्री की यह सलाह क्या दर्शाती है? मानव का उत्थान या पतन? विकास या विनाश?

अनपढ़, गंवार, मूर्ख भी गर्भपात और हत्या को हत्या/खून कहता है और दोनों को दण्ड का पात्र समझता है। जंगलों में भी ऐसे जंगली लोग या जंगली कानून नहीं मिलेंगे जैसे बौद्धिक वर्ग एवं श्रेष्ठ सभ्य नागरिकों के बीच जंगली कानून चल रहे हैं। भारत का कितना दुर्भाग्य है? वहां के निवासियों का कितना मूर्खता पूर्ण आचरण है? वे कबूतरों को तो दाना खिलाते हैं। चीटियों के बिलों के आस-पास बाजरी डालते हैं। सद्यः प्रसूता कुत्ती/कूकरी को हलुआ खिलाते हैं। दयाभाव से मछलियों को आटे की गोलियाँ खिलाते हैं। रक्तदान, नेत्रदान, किडनी, हार्ट, फेफड़े डोनेट (donate) क्रते हैं। विकलांगों की सेवा करते हैं। अनाथों की सहायता करते हैं। और वहीं अपनी सन्तान की/अपने लाडले की बेहिचक हत्या करवा रहे हैं।

कानून किसलिए?

महानुभाव! जब तक गर्भपात पर कठोर दण्ड संहिता लागू नहीं होगी तब तक स्त्री-पुरूषों के खुले व्यभिचारों की होली बन्द नहीं होगी। आज गर्भपात आम बात हो गई है। अनचाही सन्तान से छुटकारा पाने के लिए लोग सभ्य और स्वच्छ दिखने वाले कसाईयों/डॉक्टरों की शरण चले जाते/जाती हैं। हिपोकेटिक के शपथ पत्र में

स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि "मैं आम जनता की सुरक्षा एवं तीमरदारी के लिए डॉक्टर बना हूँ। उनके वंश का विनाश करने के लिए नहीं।" दीक्षान्त समारोहों में भी शपथें दिलाई जाती हैं कि मैं निस्वार्थ भाव से समाज की सेवा करूँगा। किन्तु उन डॉक्टरों पर तरस आता है कि वे समाज सेवा न कर समाज की इकाईयों को काट-काट कर, नष्ट कर अपनी प्रतिज्ञा भंग कर रहे हैं। ये अपने कर्त्तव्यों को पैसों के बल बेच रहे हैं। उन्हें डॉक्टर कहूँ या कसाई? यह ज्वलन्त प्रश्न मेरे सामने मुँह बाये खड़ा है। जिसका समाधान हत्यारी माताओं, पिता, सहयोगी बन्धुओं एवं स्वयं डॉक्टरों को देना सोचना/होगा। सोचो! जरा सोचो!! कानून क्यों बनाये जाते हैं? आप सोचेंगे तो पायेंगे कि कानून की आवश्यकता इसलिए है कि वह सज्जनों की सुरक्षा करें और दुष्टों का निष्कासन अथवा रोक-थाम करें। यदि कानून से इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती है और वे केवल पापियों के पाप में सहायक बनते हैं तब सज्जन वृन्द तो 'दिया' लेकर ढूंढने पर भी नहीं मिलेंगे तथा पापियों की पाप-लीला हर पथ, हर चौराहों एवं बीथियों में ताण्डव करती नजर आयेगी। यदि आप नहीं चाहते 'धरती सज्जन विहीन हो/पापियों का बोलबाला बढ़े' तो लौट चलिए वहीं पर; जहाँ से पथभ्रष्ट हो आप चले थे।

शैक्षणिक क्रान्ति के भौतिक युग में माता-पिता स्वयं अपने भ्रूण की कोख में ही हत्या करवाने को आमदा हो रहे हैं। बढ़ती हुई जनसंख्या के नियन्त्रण का यह कौन सा समाधान है कि 'लिंग परीक्षण' के मध्य 'मादापन' को अवांछित करारने के लिए भ्रूण की ही हत्या कर दी जाये? माँ की पवित्र कोख को बूचड़खाना बना दिया जाये? कितने खेद की बात है, कहां तो इस महापुरूषों की पावन धरा से ब्रह्मचर्य, वासना-नियन्त्रण का पाठ विश्व ने सीखा और कहाँ आज अपनी कामुकता की अंध भक्ति करता यहीं का भारतीय नागरिक; मनुष्य का और वह भी अपनी ही सन्तान का हत्यारा बन बैठा है। अपनी अहिंसक परम पावन वसुन्धरा का धवल अंचल कलंकित कर रहा है। मानसिक पतन और चारित्रिक क्षरण के साथ संवेदन शून्यता की यह पराकाष्ठा है जो अपने दाम्पत्य जीवन के प्रेम की परिणति स्वरूप अपने ही अंगज, सृष्टि के एक अंग को निर्ममता से काट-काट कर टुकड़े-टुकड़े कर गर्भाशय से बाहर फिंकवा रहा है। जब स्व-सन्तान के प्रति उसका हृदय उद्वेलित नहीं होता तब वह क्या किसी के गला घोंटने में हिचक सकता है?

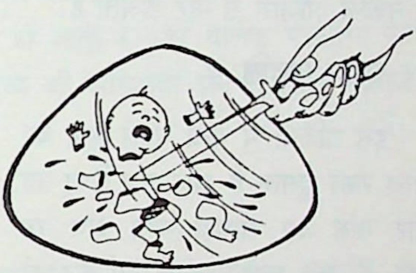
भ्रूण परीक्षण का मुख्य उद्देश्य था लेकिन

भ्रूण परीक्षण पद्धति का प्रारम्भ से उद्देश्य था कि स्वस्थ शिशु का जन्म हो और माता के जीवन की सुरक्षा की जा सके। परन्तु आज की इस पश्चिमी शैक्षणिक

पद्धति ने, बढ़ते लिंग परीक्षण केन्द्रों के उद्देश्य की ही हत्या कर दी। सर्वेक्षण आकड़ें लिंग परीक्षण केन्द्रों की कलई खोल रहे हैं। अकेले बम्बई नगर में सिर्फ एक वर्ष जैसी छोटी सी अवधि में 30 हजार से 50 हजार लड़कियों को जन्मने से पूर्व मृत्यु की महाशय्या पर सुला दिया जाता है। आप कुछ भी समझो। देश, समाज, राष्ट्र कुछ भी समझें, परन्तु मैं तो यही कहूँगा कि मादा भ्रूण हत्या या गर्भपात सदियों से नारी समाज को शोषित एवं दमन चक्र से कुचलते रहने का एक और आधुनिकतम वैज्ञानिक तरीका है। आज भी देश की जनसंख्या की ताजा गणना में 1000 पुरूषों की तुलना में महिलाओं की संख्या 921 है।

जरा गौर से देखें; मानवता के इतिहास में क्या कभी ऐसा अपनी सन्तान के प्रति नृशंस हत्याकाण्ड देखा है? यदि नहीं तो देखिए –

1. रेक्यूट पद्धति



नुकीले औजारों द्वारा शिशु के शरीर को छेद-छेद कर बाहर निकालना। इस पद्धति में सर्वप्रथम डॉक्टर अपने साधनों द्वारा गर्भवती महिला के गर्भाशय का मुख चौड़ा करते हैं। इसके पश्चात् चाकू या कैंची जैसे शस्त्र को गर्भ में डालकर जीवित बालक को बीध देते हैं। औजारों के जरिये गर्भस्थ बालक को गर्भाशय में ही लहूलुहान कर दिया जाता है। जब वह शिशु पीड़ा से छटपटाने लगता है तभी इसी छटपटाहट के मध्य असह्य वेदना से मृत्यु की महानिद्रा में चिरकाल के लिए सो जाता है। शायद यह सोचकर कि जिस माँ ने मुझे जन्मा उसकी ममतामयी अंक में न खेल/सो सका; चलो अब महामृत्यु की गोद में सदा को सो जाऊं और भ्रूणस्थ आत्मा की छटपटाहट शान्त होते ही निर्दयी/नृशंस डॉक्टर चम्मचनुमा औजारों की सहायता से उस मृत देह के टुकड़े-टुकड़े बाहर निकाल देते हैं। उस वक्त भ्रूण में निर्मित मस्तिष्क, रक्त, टपटपाती आँतें, बाहर की ओर निकली गोल-मटोल नन्हीं-नन्हीं सी आँखें, नन्हा सा हृदय, नन्हें-नन्हें फेफड़ें, हाथ-पैर जैसे शरीर के विभिन्न अवयवों को देखने वाले क्रूर प्राणी का हृदय भी कांप उठता है। रोंगटे खड़े हो जाते हैं। स्वयं डॉक्टर और परिचारिकाएँ भी ऐसी नृशंस हत्या देखकर पल-दो-पल के लिए कांप जाते हैं। उनका मानवीय हृदय रो पड़ता है किन्तु उस रूदन की आवाज 'पैसे का गुलाम हृदय' बाहर नहीं निकलने देता और उन्हें भीतर-ही-भीतर सिसकने के लिए मजबूर कर

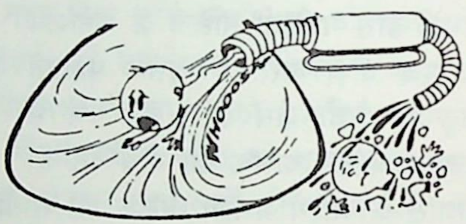
देता है।

कभी-कभी डॉक्टर की असावधानी या अज्ञानता के कारण गर्भवती महिला को गर्भाशय के अन्दर ज़ख्म हो जाने पर 'प्रदर' जैसे रोगों का आजन्म कष्ट उठाना पड़ता है। कभी-कभी तो ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित हो जाती हैं कि उक्त महिला पुनः गर्भवती होने का सौभाग्य ही खो बैठती है।

2. सीजेरियन पद्धति

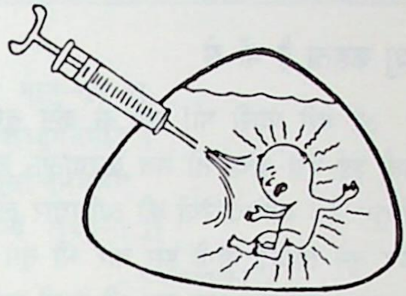
इस पद्धति में सबसे पहले सर्जन द्वारा पेड़ू को चीरकर पेट की आँतें निकाल दी जाती हैं। तत्पश्चात् गर्भाशय को खोलकर उसमें से पाँच-छह माह के शिशु को बाहर निकाल दिया जाता है। पूर्ण पक्वावस्था के अभाव में बालक जीने की नाकामयाब कोशिशें करते हुए निष्प्राण हो जाता है। कदाचित उसका भाग्य जीने के लिए मजबूर कर दे तो क्रूर डॉक्टर या परिचारक जैसे "चाण्डालों का जत्था" उसे पैने नुकीले औजारों से मार डालता है।

3. चूसन पद्धति



इस प्रक्रिया में यन्त्र पहले भ्रूण का समस्त रक्त चूसता है और जब शिशु का शरीर मांस का लोथड़ा मात्र शेष रह जाता है तब उसे नुकीले औजार से काटकर फेंक दिया जाता है। दरअसल इस प्रक्रिया के दौरान डॉक्टर लोग महिला के गर्भाशय में एक खोखली सी नली का शिरा डाल देते हैं। उस नली के एक शिरे पर एक पम्प फिट होता है तथा दूसरे शिरे पर एक बड़ी सी बॉटल लगी हुई होती है। नली के जिस शिरे पर पम्प फिट होता है उसे गर्भाशय में ठीक स्थान पर फिट करके पम्पिंग की जाती है। जिससे गर्भस्थ शिशु गर्भाशय की दीवालों से टकरा-टकरा कर मूर्च्छित हो जाता है। उसके कोमल-कोमल फूल से अंग चूर-चूर होकर नली के दूसरे शिरे से बाहर आ जाते हैं। कैसी क्रूर निर्मम हत्या है यह? कभी-कभी तो ऐसा भी हो जाता है कि जब कोई किस्मत वाला बालक मरने की बजाय छटपटाता हुआ नली के एक शिरे से गुजरता हुआ दूसरे शिरे से जीवित/मूर्च्छित ही बाहर निकल आता है अपनी करूण कहानी सुनाने अपनी जन्मदात्री वात्सल्यमूर्ति माँ को; हे माँ! मुझे मत मारो। मैं तुम्हारा निरपराध शिशु हूँ। परन्तु जहाँ माँ का ममतामयी हृदय ही संवेदन शून्य है तब कौन तैयार है उसकी व्यथित करूण कहानी सुनने?

4. क्षारीय पद्धति



इस पद्धति में गर्भवती महिला के गर्भाशय में एक बड़ी सी सुई बड़ी निर्ममता पूर्वक भोंक दी जाती है। पश्चात् उस सुई में पिचकारी द्वारा लवण युक्त तरल क्षारीय द्रव गर्भाशय में प्रविष्ट कराया जाता है। चारों ओर से बरसाती बूंदों की तरह उस क्षारीय तरल घोल की दो-चार बूंदें भ्रूण/शिशु के मुख में टपकती हैं जिससे उसे तत्काल हिचकी आने लगती है। विष खाये व्यक्ति की तरह शिशु गर्भाशय में ही अकड़ने लगता है। उसके सारे बदन में तनाव/खिंचाव पैदा हो जाता है। क्षारीय द्रव के संयोग से उसका सारा शरीर दाहकता के कारण काला पड़ जाता है और अन्ततोगत्वा उसकी श्वांस अवरूद्ध हो जाती है और बालक परमात्मा का प्यारा हो जाता है। कभी-कभी तो क्षारीय द्रव्य की अधिकता होने से शिशु के सारे आङ्गोपाङ्ग क्षार-क्षार हो जाते हैं।

5. प्रोस्टाग्लानडीन पद्धति

इस प्रक्रिया में होने वाले अजन्मे शिशु की माँ को एक टैबलेट (गोली) दी जाती है। जिसे खाते ही बच्चे का दम घुटने लगता है। सांस रूक जाती है क्योंकि इस टैबलेट का कार्य ही बच्चे की श्वांस रोकना है। पश्चात् वह टैबलेट घुलकर बच्चे के शरीर को विषाक्त कर देती है और बच्चा चन्द सेकेण्डों में तड़प-तड़प कर मर जाता है।

यह लोम हर्षक, दुर्दान्त, दुःखान्त कृत्य चाहे नारी करे या नर; इस हिंसक प्रवृत्ति की बढ़ती प्रचण्ड ज्वाला सर्व मानवीय गुणों को निगल लेगी। पता नहीं यह सृष्टि फिर जीने-समझने योग्य बचेगी या नहीं। जिस मानव देह को स्वर्गीय देव तरसते हैं उसे आप लोगों ने इतना घृणित बना दिया है कि जानवर भी थू-थू करने लगे हैं। अपनी भावभूमि को, धमनियों को घृणित विष से मत सींचो। उसमें अमृत घोलो, मानवीयता की पुनः प्रतिष्ठा करो। यह पंचम काल है, इससे आगे और भी बद्तर दुःखमा-दुःखमा काल कालवत मुंह फाड़े खड़ा है। उसकी जबाड़ में जाने से पहले स्वयं को सम्भाल लो। माना कि बढ़ती जनसंख्या एक नई समस्या है। उसके नये समाधान खोजो जो व्यवहारिक हो, समुचित हो। आचार्यों, भगवंतो, संतों ने ब्रह्मचर्य एवं इच्छा निरोध, संयम जैसे महाशस्त्र हमें सौंपे हैं, उनका समुचित प्रयोग

करो। अपने जीते-जी धरती को नरक बनाने की मत ठानो। अन्यथा इतिहास तुम्हें कभी माफ नहीं करेगा।

शिशु कहता है माँ से

ओ मेरी प्यारी माँ! कम से कम तुम तो अपने हाथों से, अपनी आँखों से देखती हुई मेरी हत्या तो मत करवाओ; नहीं तो यह संसार इसे केवल मेरी हत्या नहीं तुम जैसे व्यभिचारियों की व्यभिचार लीला कहकर तुम्हें कभी माफ नहीं करेगा। शायद तुम सोचती होगी इस बार भी तुम मुझे मारकर जब चाहो तब पा लोगी? भूल जाओ माँ! यदि एक बार भी तुमने मुझे या मुझ जैसे अबोध शिशुओं को मरवा दिया तो कभी मुझे/उन्हें न पा सकोगी। क्या तुमने धर्म ग्रन्थ नहीं सुनें या उन पर भी तुम्हें विश्वास नहीं है। सुनो! माँ! सुनो!! धर्म ग्रन्थ कहते हैं जो महिलाएँ गर्भपात कराती हैं, परिवार नियोजन करवाकर चलती कूख रोकती हैं वे इस घिनौने कृत्य के फलस्वरूप जन्म-जन्मान्तरों में वंध्या/निपूतनी होती है, नपुंसक होती हैं। ओ माँ! मेरी आहों का न सही, धर्म ग्रन्थों का तो भय खाओ। मैं जानना चाहता हूँ क्या इतना सब कुछ जानने के बाद भी तुम मुझे मरवाओगी?

⌘ ⌘

सदाचार : जीवन शुद्धि का बीज

सदाचारो-बन्धुः गुणगणनिधिः मातु-सम वा,
सदाचारो धर्मो विगत इव दोषोऽद्‌भुतगति ।
सदाचारो लोके जनयति शशिसन्निभयशम्,
सदाचारो वंदे भवविभव हान्यै सुमनसां ।।

– मंगलाचरण-271

सदाचार बन्धु है, गुण समूह का उत्पत्ति स्थान है। माता के समान हितानुशास्ता है। सदाचार धर्म है, निर्दोष है, उसकी गति अद्‌भुत है। सदाचार विश्व में चन्द्रसम विर्निर्मल यश को उत्पन्न करता है। अतः मैं श्रेष्ठ मन से भव-विभव की हानि के लिए सदाचार को नमस्कार करता हूँ।



यदि हम यह कहें कि उज्ज्वल चरित्र जहां से गुजरता है, वहाँ असंख्य पुष्प खिल जाते हैं। वायु स्वच्छ हो जाती है, और वहाँ का यश चन्द्रवत्त्विनिर्मल और दिग्-दिगन्त व्यापी हो जाता है तो कोई अत्युक्ति न होगी कारण चारित्रवान् के विमल चारित्र में ऐसी ही अपूर्व शक्ति होती है। उसके पास सद्‌चरित्र प्रेमी वैसे ही

आकृष्ट हो खिंचे चले आते हैं जैसे महासरोवर के पास गजयूथ अथवा गुलाब वनों के पास मकरन्द प्रेमी मधुकर टोलियाँ क्योंकि यहां ही उनकी तृषा-क्षुधा शान्त हो वर्णनातीत सुख प्राप्त करती है। यहीं सब कुछ सद् चरित्रवान् के निकट प्राप्त होता है। पुष्पों के पास जाओगे तो प्राण सुरभित वायु से अनुप्राणित होंगे। ईख के पास मधुरता के अतिरिक्त और क्या मिलेगा? केशर वनों में जितनी बार जाओगे उतनी ही बार वे अपनी सुगन्धि तुम्हें लुटायेंगे। सद्चारित्रवान् के पास जब-जब जाओगे वह भी सदाचार का पराग लुटायेगा क्योंकि उसके पास इसके अतिरिक्त और है ही क्या? सदाचार असंख्य गुणों की उत्पत्ति का साधन है। उज्ज्वल यशवर्धक, सुख एवं शान्ति के बीजों का प्रदाता है और है माता के समान हितानुशास्ता।

अमरपुरी से कोई एक अमर च्युत हो मर्त्यलोक पर आ रहा था। देव परिषद लगी थी। सारे देव ब्रह्मा की अध्यक्षता में उसे विदाई दे रहे थे। हे मित्र! तुम बहुत भाग्यशाली हो जो भारत भूमि पर जा रहे हो। वहां दुनियां की सबसे बड़ी दौलत है सदाचार।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ये भारत भूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते, भवन्ति भूयः पुरुषा सुरत्वात् ।।

देव गीत गाते हैं कि वे पुरूष धन्य हैं जो स्वर्ग-अपवर्ग के हेतु-भूत भारत-भूमि में जन्म लेते हैं। वे लोग हम देवों से भी श्रेष्ठ हैं। 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः' गुणीजनों में पूजा के आश्रय गुण हैं, न कि लिंग अर्थात् वेष और ना ही उम्र।

ब्रह्मा जी ने उक्त देव को दो थैलियाँ दी। बोले – भाई! एक थैली सामने की ओर गले से टांग हृदय-प्रदेश पर लटका लेना। इसमें सदाचार, संयम एवं सत्य के बीज भरे हैं। जहाँ-जहाँ, जिस-जिस, नगर-डगर से गुजरना वहां ये बीज फेंकते जाना। अर्थात् लोगों को अच्छाईयाँ बाँटते जाना। और दूसरी यह थैली है इसमें कुछ बुराईयां पड़ी हैं। इसमें जो असंतुष्ट और रुग्ण बुराईयां मिले डालते जाना। जब तुम पुनः ऊपर आओ तो सामने वाली थैली खाली एवं पीछे वाली थैली भरकर ले जाना। मित्रों ने कहा – बंधुवर! आप जब जा ही रहे हो तो ब्रह्माजी ने जो कुछ कहा उसे याद रखना। मर्त्यलोक पर रोशनी फैलाना। उनका नाम रोशन करना, कलंकित करके नहीं लौटना।

महानुभाव! आपको क्या बताऊँ उस देव ने मर्त्यलोक में जैसे ही पैर रखा उसका मस्तिष्क यहाँ के लोगों की हवा के स्पर्श से आलस्य से भर गया। स्वर्गों में तो नींद होती नहीं। उसने सोचा सुरभित-शीतल बयार का लाभ उठा लूं और एक

वृक्ष की सघन छाया में लेट गया। नींद में जैसे ही उसने करवट बदली, थैलियां भी बदल गई। आगे की पीछे, पीछे की आगे पलट गई। उठकर जब वह चला तब उसने रुग्ण सड़ी-गली बुराईयां बांटनी शुरू कर दी एवं सदाचार, संयम, सत्य को पीछे फेंकने लगा अर्थात् इस थैली में बुराईयाँ भरने लगा।

आज इन्सान यही तो कर रहा है। पवित्र मन और सदाचार से सदा शुचि कहलाने वाले मन में, आत्मा में बुराईयों को संग्रहीत कर रहा है और अच्छाईयों को फेंकता जा रहा है।

आज इन्सान के नेत्र सदाचार के अभाव में अच्छाईयों को देखने के लिए ज्योति विहीन होते जा रहे हैं और बुराईयाँ देखने के लिए चर्म चक्षुओं में भी ज्योति आती जा रही है। नयन पर उपनयन चढ़ने लगे हैं। हर इन्सान एक-दूसरे को देखने में लगा हुआ है। अपने भीतर झांकना नहीं चाहता, जबकि सदाचार ही एक ऐसा शाश्वत ज्योति पुंज है जो हर भटकते राह पर प्राणी मात्र को सत्पथ प्रदर्शक है, यश विस्तारक है।

मनुष्य अपने ही श्रेष्ठ सदाचार, शील एवं सद्चरित्र आदि गुणों से उत्तम एवं पूज्यों की परिगणना में परिकीर्तित होता है। ऊँचे आसन पर बैठने से नहीं। क्या कभी किसी विशाल भवन पर उपविष्ट होने से काक, राजहंस पक्षी या गरूड़ की कोटि में गिना गया है? नहीं।

सद्गुण सर्वत्र पूज्य हैं। पूज्यता में पितृवंश निरर्थक है। लोक वासुदेव श्रीकृष्ण को नमस्कार करता है किन्तु उनके पिता वसुदेव को नहीं। इसलिए तो नीति और धर्मकार कहते हैं –

गुणा सर्वत्र पूज्यन्ते पितृवंशो निरर्थकः ।
वासुदेवं नमस्यन्ति वसुदेवं न ते जनाः ॥

सदाचार : सभी गुणों का समावेश

सदाचार एक ऐसा विशिष्ट गुण है, जिसमें दैवी सम्पत्ति, अभय, सत्व, संबुद्धि, ज्ञान, योग, व्यवस्थिति इत्यादि सभी गुणों का समावेश है। लोक मंगल की कामना, 'जिओ और जीने दो' की भावना और सह-अस्तित्व की साधना; शील का स्वरूप है। इन्हीं श्रेष्ठ भावनाओं का सम्पोषक होने से समष्टि रूप में सदाचार ही भगवान महावीर के पंचशील नाम से प्रसिद्ध है।

संसार में मनुष्यों की कमी नहीं है। सुरसा के मुख की भाँति जनसंख्या प्रतिदिन विकराल रूप धारण करती जा रही है परन्तु मानवता की कसौटी पर खरे उतरने

वाले मानव कम हैं। यहाँ सदाचार के प्रमुख आधार-स्तंभ भूत गुणों की चर्चा करना कुछ अप्रासंगिक न होगा।

जीवन में यदि सत्य को जान लिया तो सब कुछ जान लिया। यदि उसे नहीं जाना तो बड़ी हानि है। सत्य का विवेचन सूक्ष्म और गहन है। वस्तुतः सत्य का स्वरूप गुह्य है। प्राणीमात्र की हित भावना से मनसा-वाचा-कर्मणा यथार्थ और श्रेयस्कर समाख्यान ही सत्य है। मनुष्य जीवन में शाब्दिक सत्य ही सब कुछ नहीं, उसमें व्यवहारिक सत्य भी अपेक्षित है। शाब्दिक सत्य में व्यवहारिकता की एकरूपता होना आवश्यक है।

अहिंसा : सत्य का व्यवहारिक रूप

सत्य एक सिद्धान्त है तो अहिंसा उसका व्यवहारिक रूप है। जो मानव जीवन में सर्वथा साध्य है, सदाचारी अहिंसा को मनसा-वाचा-कर्मणा अपनाता है। शस्त्र से किसी को मारना ही हिंसा नहीं है अपितु किसी के अंतःकरण को ठेस पहुँचाना, कटु वाणी द्वारा मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाना, असहाय के स्वत्व का अपहरण और संभावित व्यक्ति के प्रति 'तू' शब्द का प्रयोग भी हिंसा है। मनुष्य जब किसी मृत में प्राण नहीं डाल सकता तो उसे किसी निरीह प्राणी के प्राण-अपहरण का क्या अधिकार है? हिंसक मनुष्य के लिये यह कितने कलंक की बात है कि वह अपने एक जीवन के लिये कितने जीवों की हत्या करता है। यह कैसी आत्म-विडम्बना है आज के मांसाहारी मनुष्य नामधारी 'जन्तु' की?

जिस साधक ने अहिंसा के स्वरूप को आत्मसात किया, उसी ने विश्व-बन्धुत्व की भावना को सुरक्षित एवं जीवित रखा है। अहिंसा में महान् चमत्कार है। जहाँ सत्य का पुजारी रहता है वहाँ तो उसके प्रभाव से खूँखार हिंसक पशु भी अपनी हिंसक प्रवृत्ति छोड़ देते हैं। पारस्परिक वैर-भाव को छोड़कर प्रेम-भाव से रहते हैं। सदाचारी की आत्मीयंता मैत्री, व्यापक और सार्वभौम हुआ करती है।

सदाचार में इतना गुरूत्व है, वह स्वयमेव इतना बहुमूल्य है कि सदाचारी के संग की कामना सब करते हैं और सदा करते हैं जबकि दुराचारी या अत्याचारी को कुछ लोग सिर्फ कुत्सित स्वार्थ की सिद्धि के लिये यदा-कदा ही चाहते हैं।

सदाचार का अवलम्बन आवश्यक

जब सदाचार प्रकाश की ओर अग्रसर कराता है, तब वह अमरत्व की ओर ले चलता है। और जब देवत्व के पथ की ओर आगे बढ़ता है तब अभ्युदय और

निःश्रेयस् प्रदान करता है, सुख-शान्ति-सम्पन्नता देता है, मोक्ष का कारण होता है। फिर मनुष्य सदाचार से विमुख क्यों होता है? दुराचार की ओर क्यों पग बढ़ाता है?

इन प्रश्नों के उत्तर भी शाश्वत सत्य हैं। सदाचार चित्त की विशुद्धता के बिना सम्भव नहीं है। चित्त स्वभावतः काम-क्रोध, संकीर्ण स्वार्थ और लोभ से दूषित रहता है। ये ही मनुष्य के परम शत्रु हैं। ये चित्त की निर्मलता को नष्ट कर देते हैं। ज्ञान पर काफी मोटा पर्दा डाल देते हैं जिससे दृष्टि विकृत हो जाती है अथवा अपेक्षित सत्य व तथ्य को देख नहीं पाती। अतः इनको नियन्त्रित करने के लिए सदाचार का अवलम्बन नितान्त आवश्यक है।

आचारः परमो धर्म

इस सदाचार रूप सद्धर्म की पर्युपासना करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। कारण; विनय अकीर्ति को, पराक्रम अनर्थों को, क्षमा क्रोध को तथा सदाचार कुलक्षणों को नष्ट करता है। गुणवान् सदाचारी सर्वपूज्य है। मक्खन को कितनी ही ऊँचाई पर टांग दो पिपीलिकाएँ रास्ता खोज कर नवनीत तक पहुंच ही जायेगी। आप किसी की कितनी ही निंदा/बुराई कीजिये, उसे नीचा दिखाने की कोशिश कीजिए। जहाँ-जहाँ वह जाकर कुछ अच्छे कार्य करें और तुम उसे बर्दाश्त न कर सको, उसके उत्कर्ष को न सहन कर पाओ और उसके पीछे-पीछे, उन-उन स्थानों पर जाकर लोगों को भड़काओ-वहकाओ, लेकिन उससे कुछ नहीं होगा। वक्त आकर आपको ही बुरा कहेगा। लोग तो उसे खोजते-खोजते जयकार करते हुये पहुंच ही जायेंगे क्योंकि सद्गुणों की खुशबू उसमें सुरक्षित है।

चरित्र और कुछ नहीं सद्गुणों का समन्वय एवं अभिव्यक्तिकरण है। मनुष्य के भीतर-बाहर जो है वही चरित्र है। वह जैसा सोचता है और जैसा दूसरों के साथ व्यवहार करता है उसी के आधार पर उसका मूल्यांकन किया जाता है। सदाचार में जब अच्छा आचरण सम्मिलित किया गया है तो हमें अपनी बुराईयों को देख-सुन कर उनकी ओर से आंखे नहीं मूंद लेनी चाहिए, वरन् उनका निदान खोजना/निकालना चाहिए। जिस प्रकार रोग का सम्यक् निदान न होने पर वह बढ़ते-बढ़ते इतना भयानक रूप धारण कर लेता है कि रोगी मृत्यु का अतिथि बन जाता है। एक छोटी सी चिनगारी सुलगते-सुलगते विशाल रूप धारण कर विशाल भवन को अपनी प्रचण्ड लपटों से आलिंगित कर राख कर देती है। इसी भाँति चरित्र की लघु-सी बुराई भी मनुष्य को उच्चता के आसन पर आसीन नहीं होने देती। जैसे ओजोन-पर्त पर एक छोटा-सा छिद्र कष्टकर हो जाता है, उसी प्रकार सद्विचार और सदाचार भी एक ओजोन पर्त की तरह हैं। इनमें छोटा-सा छिद्र हो जाये तो वह लघु

छिद्र रूप दुर्गुण जीवन की सारी साधनाओं को निष्फल कर देता है। साधना पर पानी फेर देता है।

कुछ लोग कहते हैं कि बुराई तो हर इन्सान में होती है। जैसे धूप के साथ छाया, फूल के साथ कांटा। यद्यपि उनका तर्क ठीक है, तथापि वह तर्क, तर्क संगत एवं पूर्ण-सत्य नहीं है। कारण, धूप के साथ छाया और फूलों के साथ शूलों का नैसर्गिक सम्बन्ध है। यह उनकी प्रकृति है और है उनका अपना प्राकृतिक सौन्दर्य। किन्तु बुराई जीव की विभाव परिणति है। वैभाविक परिणति से स्वाभाविक गुणों का कोई तालमेल या शोभा नहीं हुआ करती। वह तो केवल कष्टकर ही है। पर्वत से गिरा हुआ व्यक्ति उठ सकता है, सिर उठाकर चल सकता है। किन्तु चारित्र शिखर से पतित प्राणी कभी भी न उठ सकता है, न सम्मान और न आदर का पात्र बन सकता है। वह जहां से भी गुजरेगा, लोगों की आंखें और अंगुलियाँ उस पर नियमतः टिकेंगी, उठेंगी। पद-पद पर वह लज्जित होता है, भीतर से बिखरने लगता है।

पंडित प्रवर आशाधर जी सागार 'धर्मामृत' में कहते हैं –

'प्राणान्तस्तत्क्षणे दुःख व्रत भंगो भवे भवे' अर्थात् प्राण निकलने पर प्राणी को उसी समय दुःख होता है किन्तु व्रत भंग होने पर भव-भवान्तर दुःख उठाना पड़ता है।

वृत्त और वित्त दो शब्द हैं। वृत्त अर्थात् चारित्र, आचरण। वित्त अर्थात् धन-दौलत। धन जड़ है, आता-जाता रहता है। लेकिन वृत्त, आचरण दुनियां की तमाम दौलतों में सर्वोत्तम दौलत है। इसकी सुरक्षा सर्व यत्नेन करनी चाहिए। धन क्षीण होने पर मनुष्य क्षीण नहीं होता, किन्तु वृत्त भ्रष्ट होते ही मनुष्य नष्ट होने लगता है।

सदाचार ही जीवन का जीवन्त धरातल है

महात्मा गांधी ने भी सदाचरण के संदर्भ में यही आशय प्रकट किया है। 'यदि चारित्र का निर्माण नहीं हुआ तो जीवन के सारे रचनात्मक कार्य कलाप व्यर्थ हैं।' सदाचार में ही वह पौरूष है जिससे सीता की अग्नि परीक्षा के समय अग्नि कुण्ड की जाज्वल्यमान दीप्त प्रचण्ड ज्वालाएं सिंहासन बन गई। अग्नि कुण्ड निर्मल कमल विकसित सरोवर बन गया। द्रौपदी के बढ़ते चीर ने दुःशासन जैसे योद्धा को उलझन में डाल दिया। चीर खींचते-खींचते वह थककर चूर हो गया। उसका हिमानी अभिमान गल गया।

सदाचारी ऑक्सीजन कम होने पर भी जी सकता है। कारण, आयु क्षय करने वाले अन्याय, अनीति, अपमान, अपकीर्ति, दुराचार जैसे प्रदूषित तत्त्व उसमें मौजूद नहीं हैं, इसी प्रबल हेतु से न तो उनकी अपमृत्यु होती है, न ही हार्ट अटैक। यह

बात चाहे तो डायरी में नोट कर लीजिये। हार्ट अटैक कदाचारी को ही होता है। कारण उसे नफरत ही नफरत मिलती है। किसी का प्यार नहीं मिलता जिससे वह जीवन शक्ति पा सके।

कदाचारी, दुराचारी अधिक नहीं चल सकता; क्योंकि वह खोटा सिक्का है। अस्तु प्राणान्त होने तक सदाचार की प्रतिष्ठा बनाये रखने का प्रयास कीजिए। सदाचार को जीवित रखने के लिए 'संगति सर्वदार्यः' आर्य पुरूषों की संगति कीजिए। जिस प्रकार सुगंधित गुलाब पुष्प अपने समीपवर्ती गोबर को भी सुगंधमय बना देता है, केशर पार्श्ववर्ती मिट्टी को सुगंधी से भर देती है उसी प्रकार सज्जन पुरूषों का सत्समागम सदाचार की प्रतिपल प्राण प्रतिष्ठा करता है। क्योंकि सदाचार और सत्समागम एक-दूसरे के सम्पोषक तत्व हैं। सदाचार की पुनः स्थापना इस बात पर निर्भर है कि दुराचार के कीटाणु विनष्ट हों; जो अनेक रूपों में जन मानस पर छाए हुए हैं। यदि जीवन में सदाचार नहीं है तो भौतिक बाह्य सामग्रियाँ अंक बिना शून्य जैसी हैं। सदाचार शून्य जीवन और मृत्यु में कोई अन्तर नहीं है। सदाचार एक ऐसा तत्व है, जो किसी कानून द्वारा नहीं, शिक्षा या हृदय परिवर्तन द्वारा पनप सकता है। सदाचार जीवन शुद्धि का बीज है। बीज में हजारों-लाखों फलों को पैदा करने की क्षमता होती है किन्तु यदि उसे जला दिया जाये तो एक पत्ता भी नहीं निकल सकता। सदाचार का एक बीज कितने फल पैदा करता है यह भविष्य बतलाता है। अस्तु अनैतिकता, कुंठा और घुटन की विभीषिका से त्रस्त मानव समाज सदाचार की संजीवनी से ही आरोग्य पा सकता है।

समाज की शक्ति : सदाचार

सदाचार से सिर्फ सदाचारी व्यक्ति का ही कल्याण नहीं होता है अपितु उसके परिवार का, प्रतिवेश का, गाँव का, समाज का, राष्ट्र का और मानव मात्र का कल्याण होता है। किसी राष्ट्र की वास्तविक शक्ति उसके अणु बमों या संघातिक अस्त्र-शस्त्रों में नहीं, सैन्य बल में नहीं बल्कि उसके सदाचारी नागरिकों में सन्निहित है। शिक्षा का असली महत्व व्यक्ति को साक्षर बनाने में नहीं, उसे सदाचारी बनाने में है क्योंकि सदाचार-विहीन साक्षरता मनुष्य को राक्षसता प्रदान करती है। देव और असुरों में यही असली अन्तर है कि सदाचार मानव को देव बनाता है और कदाचार अथवा दुराचार मानव को दानव बनाता है।

अतएव सदाचार की महत्ता से प्रभावित होकर कोई भी दृढ़ संकल्प के बल पर सदाचारी बन सकता है। सदाचारी होने के लिए धनवान, रूपवान या बलवान होना जरूरी नहीं है। जरूरत है सिर्फ निर्मल चित्त, विमल बुद्धि की, दैवी सम्पदा को

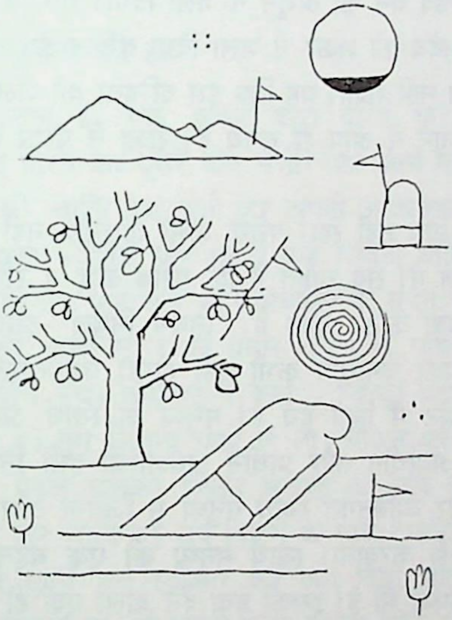
अपनाने की और त्यागमय अनासक्त जीवन दृष्टि की।

अतः आइये! हम सब प्रतिदिन शुद्ध शान्त चित्त से सदाचरण का, सदाचार का संकल्प करें और निर्मल चित्त, विमल बुद्धि अथवा दैवी सम्पदा की प्राप्ति के लिये हृदय से प्रयत्न करें।

⌘ ⌘

अहिंसा प्रचेता का अर्थशास्त्र

कोई व्यक्ति यह सोचे कि वह किसी बाहरी शक्ति अथवा अर्थ शक्ति के बल पर अपने मन का अंधकार दूर कर लेगा। जीवन-पथ में बिछे कांटे बुहार लेगा। अपने दुःख को सुख में बदल लेगा तो यह उसकी वहुत बड़ी भ्रान्ति है। कारण परिग्रह के गर्भ में दुःख और पश्चाताप ही सन्निहित है। परिग्रह में वक्रता है इसलिए वह ग्रन्थि है। शोषण और संग्रह उसकी पर्यायें है। परिग्रह और हिंसा एक ही समस्या के दो छोर हैं। एक छोर जब तक नहीं छूटता तब तक दूसरे छोर से छूटने का प्रयास बालू पीड़न, जल मन्थन जैसा है।



अद्भुत उपहार

एक ब्राह्मण पण्डित ने राजा से मिलने के लिए प्रस्थान किया। वह वहुत दरिद्र था। राजा को भेंट करने के लिए कपड़े में गन्ने के कुछ खण्ड (टुकड़े) बांधकर राजमन्दिर की ओर चल पड़ा। कुछ विश्राम करने के लिए वह जंगल में सो गया। उधर से आ रहे एक व्यक्ति ने उसे देखा। उसने सोचा – राजा के पास यह उपहार के लिए इक्षु-खण्ड लेकर जा रहा है। उसने कपड़े से इक्षु-खण्ड निकाल लिए और

उसकी जगह लकड़ियां बांध दी। पण्डित सोकर उठा। वह कपड़े में बंधी लकड़ियों को लेकर राजा के महल की ओर चल पड़ा। दरबार में पहुंचकर भेंट करने की इच्छा से जब कपड़े को खोला तो उसमें अरणियाँ (लकड़ियाँ) देखकर स्तब्ध रह गया। वह बहुत चिंतित हो गया। महाकवि कालिदास समझ गए – इस व्यक्ति के साथ किसी ने छलना की है। उन्होंने तुरन्त स्थिति को संभालते हुए कहा – महाराज! आज जैसा उपहार आया है, वैसा कभी किसी ने भेंट नहीं किया। बड़ा अद्भुत उपहार है। राजा ने पूछा – कैसे? कालिदास ने कहा –

दग्धं खाण्डवमर्जुनेन बलिना रम्यद्रुमैर्भूषितं,
दग्धं वायुसुतेन हेमनगरी लंका पुनः स्वर्णभूः ।
दग्धे लोकसुखो हरेण मदनः किं तेन युक्तं कृतं,
दारिद्रयं तापकारकमिदं केनापि दग्धं न हि ।।

हे राजन! खाण्डव वन को अर्जुन ने जला दिया। सोने की लंका को हनुमान ने जला दिया और कामदेव को शंकर ने जला दिया लेकिन इस दरिद्रता को जो सबको जलाती है कोई जला नहीं सका। यह विप्र इस दरिद्रता को जलाने के लिए ईंधन भेंट कर रहा है। इसे जलाने में आप ही समर्थ हैं। राजा ने प्रसन्न हो उसकी दरिद्रता को दूर कर दिया।

दारिद्रय कभी प्रिय नहीं रहा। गरीबी कभी वांछनीय नहीं रही। न प्राचीन काल में, न अर्वाचीन काल में। सब चाहते हैं कि गरीब कोई न रहे, समाज किसी को न सताए किन्तु यह बड़ा कठिन काम है। 'निर्धनं निर्बलं' इसका सभी ने तिरस्कार किया है लेकिन इसका समाधान कभी नहीं होगा। व्यक्तिगत स्वार्थों का चक्रावर्त सभी को अपनी लपेट में लिये हुये है। मनुष्य के स्वार्थ और उसके मनोवेग को उजागर करते हुए अर्वाचीन और प्राचीन अर्थशास्त्री इसी निर्णय पर पहुंचे हैं कि व्यक्तिगत प्रेरणा और व्यक्तिगत स्वार्थ मनुष्य से जितना और जो कार्य करवाता है उतना और कोई नहीं करवाता। **स्वार्थ मनुष्य की एक बहुत बड़ी प्रेरणा है और बहुत प्रिय एवं आकर्षक भी है।** इसको हवा देने वाला एक ही प्रभावक तत्त्व है, वह है बढ़ती हुई इच्छाओं का उद्वेग। मनुष्य की मनोवृति ही ऐसी है कि वह प्राप्त से असंतुष्ट/अतृप्त है और अप्राप्त की ओर भाग रहा है। जो न प्रिय है, न ही हितकर। महावीर ने इन दो शब्दों की तीन बिन्दुओं द्वारा बड़ी सुन्दर मार्मिक मीमांसा की है –

प्रथम बिन्दु – एक बात प्रिय लगती है किन्तु हितकर नहीं है जैसे स्वार्थवृत्तियां।

द्वितीय बिन्दु – एक बात हितकर तो है किन्तु प्रिय नहीं है – जैसे कटु औषधि और लोक व्यवहार में मान्य कटु सत्य।

तृतीय बिन्दु – जो प्रिय भी है और हितकर भी। जैसे धर्म, मानवीय कर्तव्य। यदि इन तीनों बिन्दुओं के धरातल पर इच्छाओं, स्वार्थों के क्षितिज से उतर कर चला जाये तो न तो कोई भूखा दिखाई देगा, न ही वस्त्रहीन। न कोई आवास विहीन मिलेगा, न ही आजीविका शून्य। सभी की प्राथमिक आवश्यकताएँ नियमतः पूर्ण होंगी।

सवाल यह है कि इस राह पर चले कौन? इच्छा निरोध का व्रत ले स्वार्थशून्यता का घंटा कौन बजाये? सभी की हठ केकड़ें की पकड़ की तरह है। बहुत सुन्दर सूक्ति है 'सर्वारंभा तन्दुलप्रस्थमूलां' मनुष्य की सारी प्रवृत्तियां एक सेर चावल के लिए थी और हैं। यदि सेर भर चावल की आवश्यकता न होती तो फिर उसे प्रवृत्ति की कोई अपेक्षा न थी, न होगी; किन्तु वर्तमान युगी मनुष्य ने इस तथ्य को झुठला दिया है, भुला दिया है। औद्योगिक विकास और अर्थ का नशा उस पर इतना हावी हो रहा है कि वह अपना होश खो जोश के साथ अर्थ विकास में जुट प्राण खो रहा है।

अर्थ का नशा : मूर्खता की हद

एक सत्य घटना है। एक कृषक बहुत दरिद्र था। उसकी पत्नी ने उसे आजीविका के लिए प्रेरित कर दूसरे गांव भेजा। वहां उसने एक जमींदार से थोड़ी सी जमीन की याचना की, ताकि वहां खेती कर अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर सके।

जमींदार ने कहा – "नदी पार चलो। तुम्हें जितनी चाहिए हो ले लेना।" दोनों ब्रह्म मुहुर्त में नदी के उस पार चल पड़े। अंधकार के सघन चीर को चीरकर प्रभात का अभिवादन करने वाली सूरज की प्रथम किरण के साथ दोनों सरिता के उत्तर तटीय प्रदेश पर पहुँच गये। जमींदार ने कहा – "बन्धु! यहां चतुर्दिशाओं में सैकड़ों मील फैला भूखण्ड है। तुम जितना चाहो ले लो। लेकिन शर्त है सुबह से शाम तक तुम अपने पैरों से पैदल चलकर जितने भूखण्ड को नाप लोगे, उतना ही तुम्हारा होगा। संध्या वन्दन कर जाती हुई सूर्य किरण के साथ तुम्हारा कार्य समाप्त हो जाना चाहिए।" कृषक ने सहर्ष शर्त स्वीकार कर ली। बिना कुछ तर्क-वितर्क किए वह समय नहीं गंवाना चाहता था, सो जल्दी चिन्ह स्वरूप ध्वज गाड़कर चल पड़ा। लम्बे-लम्बे कदम बढ़ाते हुए प्रति घंटा आठ किलोमीटर की रफ्तार से।

सर्वप्रथम सरिता के दक्षिण तट से पूर्व की ओर बढ़ा। तीन घंटों में उसने चौबीस किलोमीटर जमीन नाप ली। वहां उसने एक बड़ी सी शिला खण्ड को प्रतीक बनाया और उत्तर की ओर भागने लगा। प्यास से कंठ सूख रहा था किन्तु तेजी से लोभ भी दौड़ रहा था। सोचने लगा यदि पानी खोजूँगा, पिऊँगा तो पन्द्रह-बीस मिनट खत्म हो जायेंगे। तृषा का तिरस्कार कर वह भागने लगा। भागते-भागते जब वह

चौबीस किलोमीटर की यात्रा तय कर चुका तब उसने पाया सूर्य नारायण सिर पर खड़े हैं। पैर जवाब देने लगे, कंठ तालु से चिपक गया। श्वास लेने के लिए जैसे ही खड़ा हुआ। उसके मस्तिष्क में एक विचार कौंधा, अरे पगले! आधा दिन तो निकल गया, आधा ही तो हाथ में है। यह भी निकल गया तो वापिस नहीं लौटेगा क्योंकि समय और सिन्धु की लहरों ने कब किसका इंतजार किया है? आज की ही तो बात है, कल मैं कितना बड़ा आदमी बन जाऊँगा। कितने मौज होंगे मेरे। यह सुखद प्रिय विचार उसे गुदगुदाने लगा परन्तु उस अभागे के लिए इन विचारों के लिए अवकाश ही कहाँ था? वहाँ पर भी एक विशाल वट वृक्ष को निशाना बना पहले से भी अधिक तेज गति से भागने लगा। लगता था मानों आगामी सुखों के गुदगुदे स्वप्न-विचारों ने उसकी कण्ठ की प्यास बुझा दी थी और पैरों में भी बल आ गया था। सचमुच ही 'धन सबसे बड़ा बल' है।

पलक झपकते ही उसकी यात्रा का क्रम उत्तर से पश्चिम की ओर मुड़ गया। चलते-चलते पुनः तीन घंटे समाप्त हो गए। दोपहर शाम की ओर ढुलकने लगी। सूर्य की यात्रा का केवल एक ही भाग शेष था। उसने सोचा – सूर्य की यात्रा के साथ अब मुझे भी अपना क्रम पूरा कर लेना चाहिए। जो पश्चिम से दक्षिण की ओर अभी शेष है। मैंने तीनों दिशाओं में कितनी जमीन पैरों से नाप ली अभी क्या हिसाब लगाऊँ? कहीं बाहर तो जानी नहीं है। फिर चिन्ता किस बात की? समय क्यों खोऊँ? तीन घन्टे बाद मजे से बैठकर हिसाब लगाऊँगा। अभी तो चिन्ह गाढ़ जाता हूँ। तीनों ओर दृष्टिपात किया, कहीं विजय चिन्ह दिखाई नहीं दिये। उसका 'मानस सरोवर' प्रसन्नता से उछलने लगा। सामने पर्वतीय चोटी पर उसकी यात्रा क्रम का ध्वज दण्ड गौरव से फहराता दिखलाई पड़ रहा था। उसे देख उसकी आँखें खुशी से चौड़ी हो गई। इसी वेग से उसने उसी ओर कदम बढ़ाये। इस बार वह असफल होने लगा। उसकी देह जवाब देने लगी। आखिर विना पेट्रोल की गाड़ी को कब तक खींचता? भागते-भागते वह उस स्थल पर पहुँचने ही वाला था; कि उसने दूर से जमींदार को इशारा किया – "देखो मैं आ रहा हूँ, सूर्य अभी अस्त नहीं हुआ। सूर्य नारायण की कृपा दृष्टि है। देखो! देखो!! वे अभी मेरी विजय श्री पर मुस्कुरा रहे हैं।" नादान अभी ये नहीं समझ पाया कि वे क्यों मुस्कुरा रहे हैं। शायद यह वह नहीं जानता था कि प्रभु संकेत दे रहे हैं – "पगले! तेरी अविराम यात्रा मेरे साथ विराम लेने वाली है।" वह पुनः वेग से भागा। श्वांस फूलने लगी। गन्तव्य पर पहुँचकर जमींदार के पैरों पर गिर पड़ा। अपनी सफलता पर मुस्कुराता हुआ – "मैंने इतना विशाल भूखण्ड हासिल कर लिया।" और उसी पल उसकी यात्रा भी सूर्य के साथ सदा-सदा के लिए अस्त हो गई।

क्या पाया उसने सब कुछ खोकर? किसने कहा था उसे; इतनी जमीन हथियाने के लिए? क्या उसकी पत्नी ने इसलिए उसे भेजा था? नहीं। उसकी अतृप्त लालसा ने उसके जीवन का लहू चूस लिया। उसकी परिग्रहवादी लालसा उसे प्रिय तो थी लेकिन हितकर सिद्ध नहीं हुई। महावीर ने यही तो कहा था जो प्रिय हो वह आवश्यक नहीं हितकर भी हो। तब ऊपर से मधुर परिणाम में किंपाक फल की तरह कटुक, दुष्परिणामी से क्या प्रयोजन? वस्तु स्वरूप को न समझनेवाला व्यक्ति अपरिग्रहवाद के पाठ को नहीं पढ़ सकता अथवा 'इच्छा परिमाण' व्रत अंगीकार नहीं कर सकता। किन्तु उसे समझना चाहिए कि इसी अपरिग्रहवाद या इच्छा परिमाण व्रत से उत्पन्न सन्तोष ही दरिद्रता एवं परिग्रहवाद रूपी रोग की रामवाणौषधि है।

महावीर का अर्थशास्त्र यह ध्वनित करता है कि सन्तोष धन के समक्ष सारे धन धूल हैं। कुछ लोग कहते हैं – धर्म, अर्थ विकास में बाधक है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का भी यही मन्तव्य है कि धर्म अंकुश लगाता है। हमारी प्रगति को रोकता है। यह मत करो, वह मत खाओ आदि। इससे आर्थिक विकास क्रम में रूकावट आती है। उनका यह विचार एकांगी है। महान दार्शनिक उद्‌भट विद्वान समन्तभद्राचार्य कहते हैं –

> उच्चै र्गोत्रं प्रणते भोगो दानादुपासनात्पूजा ।
> भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥

तप ही जिसका धन है ऐसे तपोनिधियों को प्रणाम करने से उच्च गोत्र, दान देने से 'भोग सामग्री' उपासना से प्रतिष्ठा, भक्ति से सुन्दर रूप और उनके स्तवन से कीर्ति की प्राप्ति होती है।

धार्मिकानुष्ठानों से न केवल भोग सम्पदा प्राप्त होती है अपितु वे कुलीन घरों की उच्चता, प्रतिष्ठा, शरीरगत सौन्दर्य और लोकख्याति भी प्रदान करते हैं। धर्म से धन का विकास होता है। धन तो मात्र साधन है। वह चाहे तो अपने सदुपयोग कर्ता को धर्म की ओर प्रेरित कर सकता है। चाहे अपने दुरूपयोग से धरातल की गहराईयों में भी ढकेल सकता है। धर्म का तो केवल सदुपयोग ही होता है। दुरूपयोग का तो स्थान ही नहीं है। जहाँ धर्म का दुरूपयोग दिखता है वहां छल है, कपट है, ढकोसला है और धर्म का ढकोसले से क्या सम्बन्ध? धर्म अपने विकास के साथ-साथ 'सूर्य और सुमन' की तरह निरन्तर आश्रयी का विकास करता है। उसमें करूणा का विकास करता है। संवेदनशीलता को तो गहराता ही है। वात्सल्य का पराग भरता है। तो धन अपने विकास के साथ-साथ धनार्थी, धन स्वामी में क्रूरता

पैदा करता है। करूणा, दया के स्रोत को सुखा देता है। धन हड़प की लिप्सा अपने आर्थिक विकास के साथ हजारों, लाखों प्राणियों को ह्रास का गढ़्ढ़ा खोद देती है। **धर्म और धन में यही अन्तर है, एक निर्भय बनाता है दूसरा भय पैदा करता है।** जहां धर्म है वहां आनन्द है और जहां धन है वहां कलह है।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि धन का विकास मत करो। करो, पर ध्यान रखो तुम्हारा धंधा; अंधा न हो और न ही अंधाधुंध। उसकी आँखें हों। किन्तु ध्यान रखना! चर्मचक्षुओं की नहीं 'विवेकचक्षु' की आँखें हों। आपकी अर्थ विकास की प्रक्रिया किसी के खून से सनी न हो। उसकी नींव शोषण की ईंटों से न रखी गई हो। यदि ऐसा ही ख्याल है तो निश्चित ही आप धर्मात्मा हैं, अहिंसक हैं। ऐसी स्थिति में गरीबी की रेखा तले जीने वालों की संख्या निश्चित कम हो जायेगी। उसे पूरा तो कम नहीं किया जा सकता क्योंकि प्राणी का अपना शुभाशुभ कृत्य का परिणाम वाला सिद्धांत भी अपनी जगह अडिग है।

पुण्यैर्बिना नहि भवन्ति समीहितार्थम्

महान् इच्छा वाला आजीविका के लिए महानारंभ बढ़ाता है और स्वयं चण्ड, रूद्र, क्षुद्र, वक्र, दुःशील हिसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और संचयानन्द बन बैठता है। माया छल-कपट, प्रपंच सभी हथकण्डे अपनाता है। नकली खाते, रिश्वत, धमकी, हत्या, अपहरण सभी कुछ करता हुआ परिग्रहसागर में डूबता चला जाता है। इस धन प्रधान युग में धर्म की जगह धन ने ले ली है एवं लोगों को रूपया ही भगवान नजर आ रहा है। उसका हर घण्टा रूपयों की सांकल से बंधा हुआ है।

उनकी मान्यता है –

अच्छे अच्छों की कब्र खुदवा देता है पैसा,
धरती से स्वर्ग पर पहुंचा देता है पैसा ।
युगों से साक्षी है इतिहास इस बात का मनुज,
प्यार जता कर गला कटवा देता है पैसा ।।

चतुर्थ पंक्ति बड़ी मार्मिक है। लक्ष्मी ने बुद्धिमानों, शूरवीरों, कृतज्ञों, कोमल और कठोर हृदयवाले सभी को मलिन कर दिया है। जिस प्रकार धूल रत्नों की कांति मलिन कर देती है, उसी प्रकार लक्ष्मी मनुष्यों के हृदय प्रदेश मलिन कर देती है।

अन्यायोपार्जित धन दस वर्ष तक तो ठहरता है किन्तु ग्यारहवां वर्ष लगते ही मूल के साथ नष्ट हो जाता है। जैसे मछली को फंसाने वाले कांटे में लगा आमिष अपने साथ मछली को भी ले मरता है।

अन्यायोपार्जितं वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति ।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति ।।

परमार्थ से धन कमाने का नाम ही न्याय है और यही महावीर का अर्थशास्त्र है। क्योंकि जिस प्रकार मेंढ़क जलाशय में और मछलियां भरे तालाब में आकर बसती हैं वैसे ही समस्त सम्पदाएं विवश होकर शुभ कर्म से प्रेरित हो उन्हीं का अनुसरण करती हैं।

भगवान महावीर ने अपने अर्थशास्त्रियों को यही उद्घोष किया है कि धर्म का तिरस्कार करके धन नहीं कमाया जा सकता। चारों पुरूषार्थों का क्रम भी यही है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म पुरूषार्थ के अभाव में अर्थ पुरूषार्थ अन्याय है, काम पुरूषार्थ व्यभिचार है और मोक्ष तो कल्पना शून्य है। अस्तु तीनों की सिद्धि-प्रसिद्धि के लिए धर्म पुरूषार्थ, श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है।

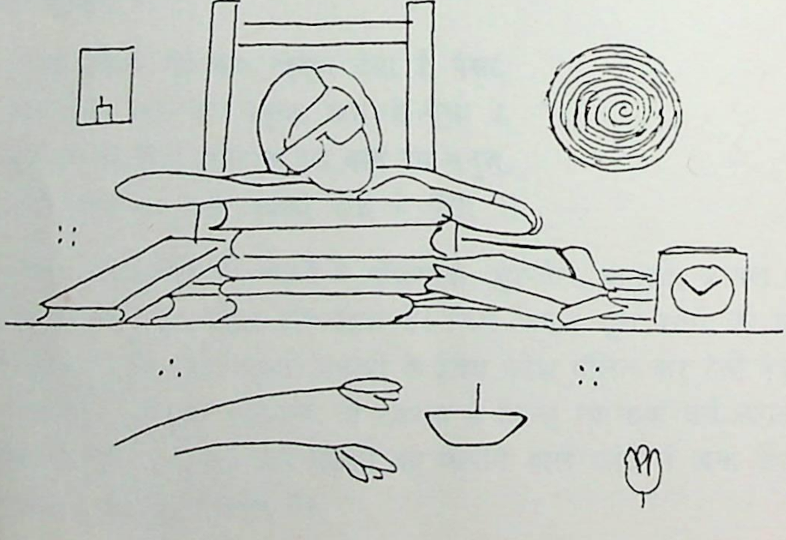
⌘ ⌘

शुद्धाचरण वाली शिक्षा ही श्रेयस्कर है

मानव जीवन का सम्पूर्ण विकास, सर्वोपरि उन्नति, उसकी सुसुप्त शक्तियों का जागरण और समाज के लिये उपयोगी बनाने वाली यदि कोई शक्ति है तो वह है शिक्षा।

शिक्षा के अभिप्राय और उद्देश्य को विभिन्न विद्वानों ने पृथक-पृथक ढंग से उल्लेखित किया है। पाश्चात्य विद्वान हर्बर्ट के शब्दों में – "चरित्र निर्माण ही शिक्षा का उद्देश्य है तथा नैतिकता की बुनियाद द्वारा जीवन की विसंगतियों को दूर करना शिक्षा का मूल अभिप्राय है।"

एक अन्य विद्वान हर्बर्ट स्पेंसर ने कहा है – "शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिये कि आत्मशक्ति का पूरी तरह उद्‌बोध और विकास हो। जिस शिक्षा के पश्चात् भी जीवन में बेकारी जुड़ी रहती है वह शिक्षा जीवन के लिए भार है। विद्यार्थियों को अवसर देना चाहिये कि वे अपनी बुद्धि से काम लेकर खोज करें और उससे परिणाम निकालें। जहाँ तक हो नई बातें उन्हें कम बतलाई जाएँ। विद्यार्थियों के मस्तिष्क को जानकारियों मात्र से न भर कर उनमें अनुभव की क्षमता भी बढ़ाई जाए। विद्यार्थियों को प्रेरित किया जाए कि वे स्वयं खोज करें और नई बातें निकालें। मानव-समाज का उत्थान इसी प्रकार हुआ है और संसार के विकास का इतिहास भी इसी बात का साक्षी है।"



शिक्षा का विस्तार सर्वोपरि

शिक्षा है ज्ञान नेत्र। चर्म-चक्षुओं से आगे बढ़कर ज्ञान नेत्रों को आलेकित करने पर ही मनुष्य को विज्ञ बनने का अवसर मिलता है। भाषा और लिपि के सहारे ही दूरवर्ती लोगों से सम्पर्क साधकर उनके द्वारा अर्जित की गई ज्ञान सम्पदा से लाभ उठाना सम्भव होता है। चूंकि साहित्य में चिर अतीत का उल्लेख उपलब्ध है।

शिक्षा से वंचित रहना एक प्रकार से दुर्भाग्य ग्रस्त रहना है। यह एक ऐसा दुर्भाग्य है कि यदि चाहा जाये तो उससे आसानी से छुटकारा मिल सकता है। शिक्षितों को खुले ज्ञान-नेत्र वाला कहा जाता है। इस माध्यम से उन्हें अपनी सम्पदा में अभिवृद्धि करते हुए अनेक कठिनाइयों से पार पाना, प्रगति के अनेक आधारों से अवगत होना सुगम एवं सम्भव हो सका है। शिक्षा जीव का अविच्छिन्न एवं बुनियादी आवश्यक तत्त्व है किन्तु जब वह प्रदूषित हो जाता है तब वह साधक को 'साक्षर से राक्षस' बना देता है। यदि शिक्षा वरदान है तो नैतिक विकास के अभाव में ही अभिशाप बन जाती है। शिक्षा का सम्बन्ध केवल साक्षरता से नहीं जीवन-मूल्यों से होना चाहिए। जब वह केवल साक्षरता से जुड़ती है तब विद्यार्थी का बौद्धिक विकास तो हो जाता है किन्तु उसकी रचनात्मक ऊर्जा कुण्ठित हो जाती है।

सर्वविदित है कि ज्ञान के स्तर पर ही सम्पदा के अनेक पक्ष विकसित होते हैं। प्रगतिशीलता हस्तगत होती है। दूसरों की सेवा, सहायता एवं उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकना सम्भव होता है। इसलिये शिक्षा का विस्तार संसार की प्रगतिशीलता एवं सुविधा-संवर्धन भी है। इन लाभों को दृष्टिगत रखते हुए कहा जा सकता है कि संसार की सर्वोपरि प्राथमिकता मिलने योग्य यदि कोई तत्त्व है तो वह है शिक्षा।

लेकिन यह दुर्भाग्य ही है कि विश्व में आधे पेट भूखे सोने वालों की तुलना में अशिक्षितों की संख्या अधिक है। अपने देश में ही एक चौथाई व्यक्ति शिक्षित तथा शेष तीन चौथाई अशिक्षित हैं, जो सुदूर देहातों में हैं। जहाँ न शिक्षा का महत्व समझा जाता है और न उसके लिये आवश्यक सुविधा साधन ही उपलब्ध हैं।

देश के आर्थिक अभावों की भी एक बड़ी कठिनाई है। इस दिशा में सरकारी और व्यक्तिगत रूप से कुछ प्रयत्न हो भी रहे हैं क्योंकि सफलता की दिशा में कुछ कदम तो बढ़ रहे हैं पर धीमी गति से क्योंकि ये प्रयास उतने नहीं हो रहे हैं, जितने कि अब तक हो जाने चाहिये थे।

दो सहोदर बहिनें गरीबी और अशिक्षा

प्रकृति कुछ ऐसी है कि गरीबी और अशिक्षा दोनों साथ-साथ ही रहती हैं एवं

दोनों साथ-साथ ही विदा होती हैं। अपने देश में संव्याप्त निर्धनता इसलिये अधिक अखरती है कि उसके कारण जो कष्ट सहने पड़ते हैं वे प्रत्यक्ष होते हैं। जबकि अशिक्षा अदृश्य है, मानसिक है, इसलिये उसके बिना शरीर को कितने घाटे में रहना पड़ता है। यह तथ्य समझ में नहीं आता कि अशिक्षा के निराकरण के लिये समुचित उत्साह प्रदर्शित क्यों नहीं किया जाता? अतएव व्यक्तिगत प्रयत्न जगाने के लिये शिक्षा की आवश्यकता एवं उसकी महत्ता को समझना पड़ेगा।

आंतरिक जीवन बहिष्कृत

यद्यपि वर्तमान में शिक्षा और शिक्षा संस्थानों की संख्या में वृद्धि हुई है। साक्षरता का अनुपात सभी देशों में बढ़ा है और बढ़ रहा है। आज शिक्षा की अनगिनत शाखाएँ हैं। उन सबकी उपयोगिता भी प्रमाणित हो चुकी है। समाज की समृद्धि बढ़ी है, साधन बढ़े हैं, सुविधाएँ बढ़ी हैं। चिकित्सा एवं अन्य क्षेत्रों में कीर्तिमान स्थापित हुए हैं, तथापि एक प्रश्न मन को कचोटता रहता है कि क्या मानसिक शान्ति बढ़ी है? क्या मन का तनाव कम हुआ है? इसका उत्तर नकारात्मक ही मिलता है। ऐसा क्यों? बाहर में प्रचुर सम्पन्नता और भीतर में इतनी रिक्तता? सुखानुभूति के साधनों का विकास होने पर भी मन की शान्ति की समस्या क्यों है? वह इसलिये क्योंकि वर्तमान शिक्षा प्रणाली व उससे सम्बद्ध शिक्षा संस्थानों में आंतरिक जीवन के लिये कोई स्थान नहीं है। वहाँ वह सर्वथा बहिष्कृत है।

आज के शिक्षण केन्द्र अक्षर ज्ञान तो देते हैं पर संस्कार देने में असमर्थ हैं, पंगु हैं। शिक्षित बेकार हैं, अनुशासनहीन है, संयमहीन है, दुर्व्यसनों के शिकार हैं और उनमें वह सब कुछ है जो नहीं होना चाहिए। विद्यार्थी आगजनी करते हैं। हड़तालें, चक्का जाम, तोड़-फोड़ द्वारा सामाजिक एवं राष्ट्रीय सम्पदा को नष्ट कर रहे हैं। क्या इन सबको देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि यह शिक्षा नहीं, शिक्षा का मजाक है? अपनी विफलता, असमर्थता, अकर्मण्यता को छिपाने के लिए किसी प्रवंचना का सहारा लेना शिक्षा के मूल उद्देश्यों पर कुठाराघात नहीं तो और क्या है? शिक्षा तो अपने आपको पहिचानने के लिए निर्मल दर्पण है। शिक्षा का सर्वोपरि लक्ष्य जीवन निर्वाह के स्तर को ऊँचा उठाने की अपेक्षा जीवन निर्माण का स्तर ऊँचा उठाना है।

बढ़ते मानसिक तनाव और विक्षिप्तों की निरंतर बढ़ती संख्या से भयभीत होकर वैज्ञानिकों ने ज्ञान के विषय में नई खोजें शुरू की हैं। अध्यात्म फिर गुह्य-विद्या की सीमा-रेखा को तोड़कर सामान्य श्रेणी में आ रहा है परन्तु ध्यान रखना, अध्यात्म निरपेक्ष विद्या जागतिक सृजन को समृद्ध तो कर देगी। भौतिक विज्ञान को

उन्नत बना देगी किन्तु ऐसी शिक्षा जीवन वृत्तियों, मधुर सम्बन्धों के उदात्तीकरण के समक्ष प्रश्न चिन्ह अवश्य खड़ा कर देगी।

चरित्र निर्माण

शिक्षा से अपेक्षा की जाती है कि वह मनुष्य को बदले, उसके चरित्र का निर्माण करे। लोगों की शिकायत है कि वर्तमान शिक्षा से यह अपेक्षा पूरी नहीं हो रही है। यद्यपि शिक्षा के सभी क्षेत्रों में दक्षता बढ़ रही है। वह 'शिक्षित' करने का अपना कार्य पूरा कर रही है। तथापि चरित्र निर्माण एवं नैतिक जीवन से उसका कोई सरोकार नहीं है। शिक्षा तो ठीक है केवल शिक्षण पद्धति को पक्षाघात हो गया है। वह दूषित हो गई है। वृक्ष का कार्य है फल देना। फूल, पत्ते टहनियाँ तो नैसर्गिक प्रकृति है वे आयेंगे ही, जब वृक्ष का अस्तित्व है तब। उसी प्रकार शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य है जीवन को संवारना। आजीविका के साधन रूप फूल, पत्र तो आयेंगे ही क्योंकि वह तो उसकी प्रकृति है, जिसे रोका ही नहीं जा सकता। जब शिक्षण पद्धति ही मूल्य विहीन हो जाए तो मूल्यों की संस्कृति किस पर फलेगी? जिसका बीज ही नहीं बोया जाता, उसके पौधे की आशा करना क्या समझदारी होगी? चरित्र विकास के लिये जिस शिक्षा की अपेक्षा है, वह शिक्षा ही प्रचलित नहीं है।

चरित्र का निर्माण शिक्षा से, सामाजिक परिस्थिति और पारिवारिक वातावरण से होता है, ऐसा माना जाता है। इस दृष्टि से बच्चों के चरित्र निर्माण का दायित्व अभिभावकों और अध्यापकों पर होता है क्योंकि बच्चे उनके सम्पर्क में अति निकट से आते हैं। उनका आचरण ही बच्चों पर प्रतिबिंबित होता है?

चरित्र निर्माण का जो सबसे अधिक प्रभावी साधन है, जिसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित नहीं है – वह है अपना आंतरिक परिचय। आंतरिक सम्पन्नता के लिये आंतरिक परिचय बहुत जरूरी है। न ही शिक्षा हमारे आंतरिक व्यक्तित्व से हमें परिचित कराती है और न ही धर्म इस आवश्यकता की पूर्ति करता है। कोई ऐसा सर्वमान्य धर्म नहीं है, जिसे निर्विवाद रूप से विद्यालयों में पढ़ाया जा सके। इसलिये शिक्षा विद्यार्थी को धर्म का बोध कराने में सक्षम नहीं है।

चरित्र का सम्बन्ध जीवन से है और वह एक जीवन-विज्ञान है। जीवन-विज्ञान की एक शाखा – विद्या का विकास किया जाए तो आंतरिक व्यक्तित्व से परिचित होने और उसे समझने-संवारने का अधिक व्यापक अवसर मिल सकता है।

शिक्षा : सुलगते सवाल

वर्तमान शिक्षा पद्धति कितने सवालों से घिर गई है और उससे एक-एक सवाल, समाधान मांगता है।

1. यदि आम-आदमी की दृष्टि में शिक्षा का क्रम ठीक नहीं है तो उसे सुधारने का प्रयत्न क्यों नहीं हो रहा है?
2. शिक्षा नीति के बारे में एक लम्बी और देश व्यापी बहस का नतीजा क्या आया? क्या कोई समाधान सूझता है अथवा नहीं?
3. यदि शिक्षा के साथ जुड़ी हुई विसंगतियों को निकालना है तो उसे 'सर्वांगीण' बनाना होगा।
4. क्या अपूर्ण शिक्षा के द्वारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण सम्भव है? सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अर्थ है – व्यक्ति की बौद्धिक, शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, आध्यात्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का जागरण।
5. क्या कभी केवल बौद्धिक विकास की बुनियाद पर सर्वांगीण चेतना का निर्माण हो सकता है?
6. क्या शिक्षा कथनी और करनी की भेद रेखा को नहीं तोड़ेगी?
7. क्या अक्षरों के माध्यम से जो कुछ कहा जाता है यदि वह जीवन में नहीं उतरता तो ऐसी शिक्षा की सार्थकता के आगे प्रश्न चिन्ह नहीं लग जायेगा?
8. क्या अनन्त ज्ञान सीखने के लिए मनुष्य जीवन-पर्यन्त विद्यार्थी नहीं रह सकता?
9. विद्यार्थी के उदण्ड, अनुशासनहीन, अविवेकी और बेरोजगार होने में किसी हद तक शिक्षक जिम्मेदार है या नहीं?

आदि-आदि ऐसे ज्वलन्त प्रश्न हैं जिनका समाधान हर मानव चाहता है।

अशिक्षा के आश्रम में पनपती अनैतिक महामारियाँ

जहाँ तक शिक्षा के महत्व पर विचार करने का प्रश्न है वह उसके उद्देश्य की प्रसिद्धि में ही निहित है। उपयुक्त शिक्षा ही अच्छे समाज के जीवन की कुंजी है जिससे समाज की रूह में कैद सड़ी, गली, भ्रान्त रूढ़ियों को निकालकर बाहर फेंका जा सकता है। शिक्षा से मानव की अन्तर्निहित प्रतिभा स्फुरणा पाकर उसके उच्च व्यक्ति के स्वरूप में व्यक्त होती है, जो उसे सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाती है। वह मानव को जीवन संग्राम के लिये तैयार करती है। ऐसी शिक्षा ही असत् व अंधकार से सत् व प्रकाश की ओर ले जाने में समर्थ होती है क्योंकि वस्तुपरक शिक्षा ही जीवन परिवर्तन में बहुत उपयोगी होती है।

विना शिक्षा के अधिकार एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान, जनमत का निर्माण व राजनैतिक जागृति जन-सामान्य में नहीं आ सकती। जनतंत्र में अशिक्षा के कारण कुछ समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस सम्बन्ध में 'आर्चबिशप ऑफ यार्क' द्वारा दी

गई चेतावनी – "अशिक्षित जनतंत्र सब राज्य शासन प्रणालियों में खतरनाक है।" अक्षरशः सत्य है। जनता अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के ज्ञान से बहुधा अनभिज्ञ ही रहती है। वह तो 'कोउ नृप होउ हमें का हानि' में विश्वास कर लेती है। भारत में अशिक्षा के फलस्वरूप ही देश की प्रगति की चाल धीमी है। भ्रष्टाचार और अनैतिकता की महामारियाँ अशिक्षा के आश्रम में ही पनपती हैं।

अनुपयुक्त शिक्षा प्रणाली

भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली लार्ड़ मेकाले की योजनानुसार ब्रिटिश सरकार की देन है। इस शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य केवल ब्रिटिश सरकार के लिये क्लर्क, लेखापाल आदि तैयार करना ही था। वही शिक्षा आज तक चली आ रही है और शिक्षा भी उसी उद्देश्य को पूर्ण कर रही है। यह शिक्षा व्यवहारिक जीवन के लिये उपयोगी नहीं है। आज का कृषि स्नातक अपनी शिक्षा का उपयोग कृषि के रूप में नहीं कर, नौकरी के रूप में करना चाहता है।

वर्तमान अनुपयुक्त, दोषयुक्त शिक्षा-परीक्षा प्रणाली, विद्यार्थियों के स्वास्थ्य का ह्रास, शिक्षा की अव्यवहारिकता, नैतिक बल का उत्तरोत्तर ह्रास आदि-आदि दोषों से प्रेरित है।

शिक्षक दोषी नहीं

उपर्युक्त दोषों के लिये शिक्षक दोषी नहीं है क्योंकि वह तंत्राधीन है। तन्त्र के द्वारा शासित है। वह अपने कर्त्तव्य को पूरा कर सके, पुरूषार्थ के द्वारा दूसरों को निर्मित कर सके, यह उसके हाथ में नहीं है क्योंकि वह ऐसी जंजीर से जकड़ा हुआ है जो दूसरों के द्वारा प्रशासित है। इसी कारण वह अपना विकास नहीं कर पाता, स्वतन्त्रता से सोच नहीं सकता। उसके सामने अनेक समस्याएँ हैं, जिनके कारण वह विद्यार्थी को पाठ्यक्रम भी पूरी स्वतंत्रता से नहीं पढ़ा सकता।

स्वतंत्र विचार के विकास का अभाव होने से यह स्थिति निर्मित हुई है। आज जहाँ शिक्षक को भी स्वतंत्र विचार प्राप्त नहीं है, वहाँ वह दूसरों को क्या स्वतंत्र विचार दे सकता है? हाँ, किसी हद तक शिक्षक लापरवाह अवश्य हैं। आज प्रत्येक व्यक्ति यह स्वीकार करता है कि हमारी जो शिक्षा प्रणाली है, वह गलत है। भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा डॉ. राधाकृष्णन भी सम्प्रति शिक्षा पद्धति को गलत बताते थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली में कुछ खास परिवर्तन करने में ही देश का कल्याण है क्योंकि वर्तमान शिक्षा स्वतंत्र भारतीय परिस्थितियों

के प्रतिकूल है। आजकल विद्यालय एवं महाविद्यालय रूपी टकसाल सस्ते सिक्के रूपी स्नातक तैयार करते हैं जिनका जीवन रूपी बाजार में कोई मूल्य नहीं रहता। शिक्षा प्रणाली में क्रान्ति की आवश्यकता है। शिक्षा प्रणाली यदि नैतिक और आध्यात्मिक होगी तो ही गुरूकुल प्रणाली द्वारा प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के अनुरूप एक नए समाज एवं देश की रचना होगी, जिससे शान्ति का अद्‌भुत साम्राज्य स्थापित होगा।

शिक्षा में केवल पुस्तकीय ज्ञान को महत्व न देकर; व्यवहारिक पक्ष का स्थान और महत्व होना जरूरी है। जीवन के उच्च आदर्शों से परिपूर्ण और भारतीय संस्कृति के अनुकूल शिक्षा की योजना होनी चाहिये। शुद्धाचरण, आत्मगौरव, स्वावलम्बी, कर्त्तव्यपरायण का विवेक जागृत करने वाली शिक्षा ही वास्तविक शिक्षा है और इसी पर भारत का उज्ज्वल भविष्य एवं निर्मल राष्ट्रीयता का उदय निर्भर है। सच तो यह है कि जब तक मनुष्य को पुस्तकीय शिक्षा के साथ मनुष्यता की शिक्षा नहीं दी जाती है तब तक अच्छे आदमी आयेंगे कहाँ से? वह शिक्षा किस काम की जो मनुष्य को अपने स्वार्थ के घेरे से ही बाहर न निकलने दे। तत्वज्ञान से वंचित रख अन्धों की संख्या बढ़ाती रहे। यह माना कि शिक्षा जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है परन्तु वह शिक्षा जो मनुष्य को केवल मनुष्याकार न रखकर उसे आकार से ऊपर मनुष्यता तक ले जाए।

शिक्षण केन्द्र ज्ञान मन्दिर है। वहाँ ज्ञान देवता सरस्वती की उपासना की जाती है। 'गुरू' देवता तक जोड़ने वाली अद्‌भुत श्रृंखला है। हजारों पुस्तकें पढ़ लेने के बाद भी उतना ज्ञान प्राप्त नहीं होता जितना एक शिक्षक के व्यावहारिक जीवन से उपलब्ध हो जाता है।

अतएव शिक्षा और शिक्षा की देवी सरस्वती की उपासना में विनय आवश्यक तत्व है। जिससे जीवन में नैतिकता के साथ आध्यात्मिक जीवन शुरू होता है। जिसके लिए आज देश के प्रत्येक नागरिक उत्कण्ठा से प्रतीक्षित हैं।

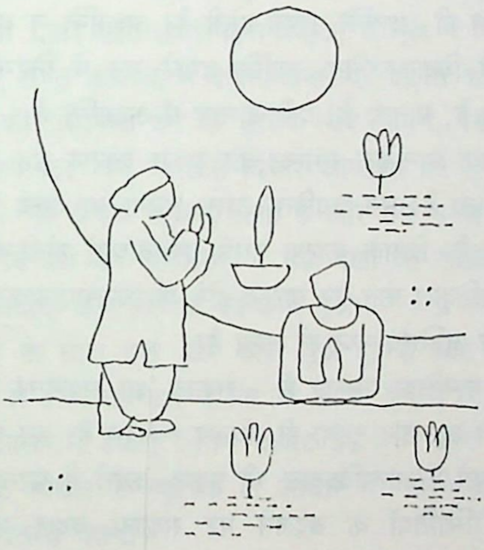
⌘ ⌘

सांसारिक समस्याओं के आध्यात्मिक समाधान

सारा संसार दुःखमय है, समस्याओं से भरा हुआ है। समस्या यानि अनेक होना और अनेक होने का अर्थ है – समस्या। समस्या के लिये दो का होना जरूरी है। द्वन्द के दो अर्थ होते हैं – दो और युद्ध। दो हुए बिना युद्ध नहीं हो सकता, संघर्ष नहीं हो सकता। समस्या भी नहीं हो सकती।

विचारणीय प्रश्न यह है कि हमारी समस्याएँ क्या हैं? हम उन्हें किस दृष्टिकोण से देखें? समस्याओं का सागर अत्यन्त गहरा है जिसमें शारीरिक, मानसिक, वैचारिक, पारिवारिक एवं आर्थिक समस्याओं की सरिताएँ समाविष्ट रहती हैं।

इन सांसारिक समस्याओं के संक्षिप्त परिचय एवं उनके आध्यात्मिक समाधान प्रस्तुत करना आलेख की प्रमुख विषय वस्तु है। आइये, इन पर दृष्टिपात करें।



शारीरिक समस्याएँ

सर्वप्रथम हैं शारीरिक समस्याएँ। चूंकि सबसे पहले शरीर आता है और शरीर हमारे लिये सब कुछ है। शरीर की प्रमुख समस्या है इसकी अनित्यता। इसकी नश्वरता। यदि यह नश्वर नहीं होता तो बात कुछ और होती।

इसकी दूसरी समस्या है – रोग। शरीर सदैव स्वस्थ नहीं रहता। इसे व्याधियाँ घेरे ही रहती हैं। वे चाहें ऋतुजनित हों, चाहे कर्मज हों, चाहे दोषज हों अथवा आगंतुक हों। यह भी एक व्यापक समस्या है।

शरीर की तीसरी प्रमुख समस्या है – वृद्धावस्था। हमारे शरीर की कोशिकाएँ जब क्षीण हो जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं तो वृद्धावस्था का आगमन हो जाता है। वृद्धावस्था न आए इस हेतु वैज्ञानिक प्रयत्नशील हैं परन्तु अभी तक सफलता हाथ नहीं लगी है।

इसके अलावा कुछ और समस्याएँ भी होती हैं जैसे भूख और प्यास भी एक समस्या है। सर्दी और गर्मी भी एक समस्या है। इस प्रकार ये शारीरिक समस्याएँ हमारे सामने हैं। इनमें एक प्रमुख समस्या है – रोटी की समस्या।

मानसिक समस्याएँ

शारीरिक समस्याओं के अलावा मानसिक समस्याएँ भी मानव को घेरे रहती हैं। मन की पहली समस्या है मन का चंचल होना। चंचलता स्वयं में एक समस्या है। चंचलता के कारण ही अशान्ति उत्पन्न होती है। अशान्ति न वस्तुजनित है न घटना जनित है। वह है विकल्पजनित; क्योंकि हमारे मन में निरन्तर उत्पन्न होने वाले विकल्पों की धारा है, सातत्य है। यही वास्तव में अशान्ति है।

इसके अलावा मानसिक समस्या का दूसरा कारण यह भी है कि मन बहुत जल्दी प्रभावित होता है। मन; व्यक्ति, वस्तु, घटना या अन्य जानी-अनजानी चीजों से प्रभावित होता है। जिसके कारण उसमें प्रतिक्रियाएँ होती हैं। अनुकूल बात पर प्रसन्न होने तथा प्रतिकूल बात पर नाराज होने की घटनाएं प्रकाश में आती हैं। इससे मनुष्य का स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट हो जाता है।

एक अन्य मानसिक समस्या है – संकल्प का स्खलन। संकल्पों का बार-बार करना और उनका बार-बार टूटना ही संकल्प स्खलन है। हम हर बार संकल्प करते हैं/दृढ़ निश्चय करते हैं/आत्मविश्वास भी प्रकट करते हैं परन्तु थोड़ा समय व्यतीत होने पर या परिस्थितियों के बदलने पर संकल्प बदल जाता है जिससे कई परेशानियाँ खड़ी हो जाती हैं।

मन की एक अन्य समस्या है – प्रियता और अप्रियता की अनुभूति। हम कहीं आसक्त होते हैं तो कहीं विरक्त। कहीं अनुरक्ति प्रदर्शित की जाती है तो कहीं अप्रीति। मन की यह जो खण्डित धारा है वह व्यक्तित्व को भी खण्डित कर देती है, जो हमें कहीं नहीं पहुँचाती है। इसी के कारण तनाव उत्पन्न होता है। मन आवेगों का अच्छा वाहक होता है। जितने भी मूल आवेग हैं वे तथा भय, क्रोध, घृणा आदि उप

आवेग हैं ये सारे मन के माध्यम से प्रकट होते हैं। प्रियता/अप्रियता की अनुभूति बहुत बड़ी मानसिक समस्या है।

उभय समस्या

एक समस्या ऐसी भी है जो न केवल शारीरिक ही है और न केवल मानसिक ही। यह है शरीर-मानस समस्या। 'काम' की समस्या न केवल शारीरिक है और न केवल मानसिक। वस्तुतः वह शरीर-मानस की संयुक्त समस्या है। इसमें शरीर और मन दोनों का योग होता है। दोनों साथ-साथ चलते हैं। जैसा कि विदित ही है दुःख तीन प्रकार के होते हैं – शारीरिक, मानसिक और शारीरिक-मानसिक। 'काम' को तीसरे प्रकार के दुःख की श्रेणी में रखा गया है।

वैचारिक समस्या

विचारों की भी अपनी समस्या है। मन की क्रिया है विचार। विचार स्वयं में एक समस्या है। वर्तमान में जो अशान्ति दृष्टिगोचर हो रही है इसका सबसे बड़ा कारण है – विचारों का चक्र। सारी उलझनों/समस्याओं के मूल में विचार हैं। विचारों की प्रधानता ने विचार रहित अवस्था में देखने/जानने की शक्ति को लुप्त कर दिया है। दूसरों के विचारों को प्रधानता देने के कारण स्वयं जानने, देखने और अनुभव करने की बात को गौण कर दिये जाने से विचार आसक्ति की समस्या उत्पन्न हुई। विचारातीत अवस्था में भी चेतना सक्रिय रहती है और उस समय जो जाना जाता है/देखा जाता है वह विचारों की उपस्थिति में नहीं देखा जा सकता। इस बात को भूलने से ही अनेक मतवादों और विवादों का जन्म हुआ।

वैचारिक समस्या के साथ एक और चीज जुड़ी हुई है और वह है स्मृति की प्रतिबद्धता। हम स्मृति से इतने प्रतिबद्ध हैं कि जो स्मरण है उसे ही ज्ञान मानते चले आ रहे हैं। उसी के आसपास हमारा जीवन चलता है। हमने ज्ञान और विचार को एक मान लिया जबकि विचार है स्मृतियों के आधार पर बनने वाली एक प्रक्रिया और ज्ञान है अपनी स्वतन्त्र चेतना।

तीन क्षण हैं – एक अतीत का, एक वर्तमान का और एक भविष्य का। वर्तमान का क्षण बहुत छोटा होता है। अतीत बहुत बड़ा तथा भविष्य भी बहुत बड़ा है, अनन्त है। हमारा वर्तमान या तो स्मृति से प्रतिबद्ध है या कल्पना से। इसलिये हम वर्तमान की समस्याओं को खोजने में बहुत कम ध्यान देते हैं और स्वतन्त्र चिन्तन इसलिये नहीं कर पाते क्योंकि या तो हम अतीत के संदर्भ में सोचते हैं या भविष्य के संदर्भ में। यह बहुत बड़ी समस्या है।

पारिवारिक समस्या

शारीरिक, मानसिक और वैचारिक समस्याएँ वैयक्तिक समस्याओं की श्रेणी में आती है। जबकि पारिवारिक समस्या, सामाजिकता की परिधि में आती है। परिवार की सबसे बड़ी समस्या है – आदमी को एक घेरे में बांध देना। पारिवारिक समस्या का मूल है स्वत्व की सीमा एवं ममता का परिवार में केन्द्रीकरण होना। जहाँ स्वत्व सीमित हो जाता है, सिमट जाता है। अपनत्व, ममत्व या प्रेम इतना विराट् नहीं रह पाता कि वह सबके प्रति बँट जाए किन्तु वह केवल परिवार में ही केन्द्रित हो जाता है। यही प्रमुख समस्या है।

परिवारगत समस्या का प्रमुख कारण है भिन्न-भिन्न रूचियाँ होना। चिन्तन, इच्छा, रूचि या विचारों का पृथक-पृथक होना। एक ओर स्वत्वों का सीमांकन और दूसरी ओर विभिन्न रूचियों/विचारों के संघर्ष ने अन्तर्विरोध उत्पन्न कर इस पारिवारिक समस्या में वृद्धि की है।

आर्थिक समस्या

आर्थिक समस्या व्यापक है क्योंकि इसका सम्बन्ध शरीर, मन, विचार और परिवार सबके साथ है। आर्थिक समस्या का प्रमुख पहलू है – वस्तुओं की सीमा, सीमित साधन और असीम इच्छा। इच्छाएँ अनन्त होने से व्यक्ति साधन बटोरते-बटोरते कभी विश्राम नहीं ले पाता। उसे तृप्ति नहीं होती। हमेशा अपर्याप्तता बनी रहती है। इच्छा की असीमता/अनन्ता प्रमुख समस्या है।

इच्छाओं के विकास और उत्पादन में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। ये अपरिमित इच्छाएँ ही आर्थिक समस्याओं को बढ़ावा देती हैं। सारी समस्याओं की जड़ है – इच्छा, कामना और लोभ। तृष्णा ने अनेक आर्थिक समस्याओं को उत्पन्न किया है। अपार सम्पत्ति का संग्रह, अमित धनराशि और सम्पदा का संचय इसी लोभ/इच्छा का परिणाम है। जब तक आर्थिक समस्या के प्रमुख कारकों का परित्याग नहीं कर दिया जाता तब तक आर्थिक समस्याएं बरकरार रहेंगी।

समस्याओं के आध्यात्मिक समाधान

ऐसा नहीं है कि उपर्युक्त वर्णित समस्याओं के समाधान नहीं है। हमारे आध्यात्म में इन समस्याओं के समाधान निहित हैं। आवश्यकता है इन्हें जानने और देखने की। समस्याओं का समाधान है जानना और देखना; अर्थात् चेतना को जागृत करना। ज्ञान चेतना को जागृत करना। अज्ञान का अर्थ है वासना का चेतना पर

हावी हो जाना। जब चेतना वासना से आक्रान्त होती है तब वह घुमाती है, लक्ष्य तक नहीं पहुँचाती क्योंकि वासना का मार्ग गोलाकार है जो घुमाता है पहुँचाता नहीं।

समस्याओं का सबसे बड़ा, पहला और अन्तिम निदान है चेतना का जागरण/चेतना की उद्बुद्धता, चेतना का विकास। चेतना दो प्रकार की होती है – एक शुद्ध चेतना और एक वासनाग्रस्त चेतना। राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता के भाव से आक्रान्त चेतना 'वासना की चेतना' है। यह प्रतिक्रियात्मक चेतना है; जिसमें न व्यक्ति स्वतन्त्र होता है न ही उसके विचार स्वतन्त्र होते हैं। वह परतन्त्रता के तानों-बानों में बुरी तरह कस जाता है। जो चेतना शुद्ध है, वह क्रियात्मक होती है। उसमें पूर्ण स्वतन्त्रता होती है।

जैन दर्शन में तीन मार्ग दर्शाए हैं – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र। देखो, जानो और करो। यह मुक्ति का मार्ग है। बन्धन से परे होने का मार्ग है। समस्याओं के समाधान का मार्ग है। यह मार्ग है चेतना के रूपान्तरण का। वासना की चेतना को शुद्ध चेतना में बदलने का। यह मार्ग है दृष्टिकोण को बदलने का।

शारीरिक समस्या के समाधान

जैसा कि पूर्व में दर्शाया गया है कि शारीरिक समस्याओं में प्रमुख है शरीर की अनित्यता, जो कि समस्या होते हुए स्वयं एक समाधान है। शरीर के प्रति हमारा मोह सर्वाधिक है। जब तक इस मोह को नहीं तोड़ देते तब तक आसक्तियाँ समाप्त नहीं होती। मोह से उत्पन्न होता है भय; और भय से उत्पन्न होता है तनाव। एक क्रम है – मोह, भय और तनाव। शरीर के मोह को छोड़ो। मोह की ग्रन्थि के सुदृढ़ नहीं होने पर भय की ग्रन्थि भी सघन नहीं होती। भय के अभाव में तनाव भी नहीं हो सकता।

जहाँ तक रोग की समस्या का प्रश्न है ये रोग परिस्थितिवश भी उत्पन्न होते हैं और प्रमाद या भूल के कारण भी उत्पन्न होते हैं। यह बात अलग है कि अधिकांश रोगों का मूल कारण प्रमाद या असावधानी है। आयुर्वेद की दृष्टि से वात, पित्त और कफ़ का असंतुलन ही रोग है। उनकी विषमता ही रोग है। यदि खाद्य के असंयम से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं तो संयमित आहार/आचार से स्वस्थ भी रहा जा सकता है। अस्वस्थता के कारण और उन कारणों के निवारण हमारे शरीर में ही निहित हैं।

'बुढ़ापा' अपने आप में एक समाधान है। जिसका सूत्र है – एकत्व की अनुभूति करना। वृद्ध व्यक्ति में यदि यह आध्यात्मिक जागृति हो जाए कि 'मैं अकेला हूँ' तो सत्य उसके समक्ष उद्घाटित हो जाता है।

बुढ़ापा एक अवसर है इस तथ्य को अनुभव करने का कि आदमी जो है, वह वैसा ही दीखे अर्थात् वस्तु स्वरूप का यथार्थ निर्मल दर्पण। अकेलेपन के अनुभव का यह अनुपम अवसर है। यदि व्यक्ति इस सच्चाई पर अपना ध्यान केन्द्रित कर लेता है तो उपेक्षा का दुःख उसे कभी नहीं सताता।

भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी जैसी शारीरिक समस्याएं परिस्थितिजन्य बाधाएं हैं। प्रकृति में अनेक विचित्रताएँ भरी पड़ी हैं। समस्याओं और समाधानों में प्रतिस्पर्धा होती रहती है। इसलिये मानव को उचित यही है कि ऐसी समस्याओं का यथा रूप ही स्वीकारें। सर्दी-गर्मी मौसम द्वारा प्रदत्त आघात है। इन्हें सहना ही अच्छा है। रही भूख, प्यास की समस्या जिसे चेतना को विकसित कर लेने पर सहज ही सहा जा सकता है।

मानसिक समस्या के समाधान

मन की चंचलता क्या वास्तविक है? इसका समाधान है कि मन को जानो और देखो। चंचलता समस्या नहीं होती। वह समस्या तब बनती है जब हम बाहर ही देखते रहते हैं। जब हम भीतर की ओर देखना आरम्भ कर देते हैं तब मन चंचल है ही नहीं। मन को जानना/देखना ही इसकी समस्या का बड़ा समाधान है।

मन की दूसरी समस्या यह है कि मन में प्रतिक्रियाएँ बहुत होती हैं। वह खिलौना बन जाता है दूसरों के हाथों का। प्रतिक्रिया से ग्रस्त मन का समाधान है – संयम। संयम अर्थात् दृष्टि, श्रवण विकल्प और रस का संयम।

मन की तीसरी समस्या है – आवेग। मन में अनेक आवेग उठते हैं। वे मन को सताते हैं। अप्रमाद से उन्हें रोका जा सकता है। अप्रमाद का अर्थ है – जागरूक/जागृत रहना। जब हम नशे की स्थिति अर्थात् मोह में होते हैं तब सारे आवेग उत्पन्न होते हैं।

क्रोध, भय, वासना, लालच, कषाय सब नशे की अवस्था में पैदा होते हैं। जागृत अवस्था में आवेग नहीं होता। क्रोध आने पर नाड़ी की गति बढ़ जाती है। श्वांस की गति तीव्र हो जाती है। आवेग चाहे क्रोध का हो या वासना का, प्रत्येक आवेग में श्वांस तीव्र होता है। यह एक लक्षण है जिससे जाना जा सकता है कि आदमी नशे में है। इसलिये आवेग का समाधान है सदैव जागरूक रहना।

वर्तमान का जो क्षण बीत रहा है उसे जानना ही वस्तुतः वर्तमान में जीना है और जो वर्तमान में जीता है वह स्मृति और कल्पना से प्रताड़ित नहीं होता। वही अप्रमत्त रह सकता है।

विचार भेद की समस्या का भी समाधान सम्भव है अहिंसा के दृष्टिकोण से। सामंजस्य के द्वारा विचार भेद रहते हुए भी विचार भेद से उत्पन्न होने वाले संघर्ष को मिटाया जा सकता है। विचार भेद से उठने वाले स्फुलिंगों को शान्त किया जा सकता है। अनेक व्यक्ति, अनेक विचारों के बीच विचारों की टकराहट न करते हुए रहें; यह सूत्र है सह-अस्तित्व का। जिसकी अनुगूँज राजनीति में राष्ट्रसंघ जैसे अंतर्राष्ट्रीय मंच से सुनाई देती है।

वैचारिक समस्या का समाधान

वैचारिक जगत में स्मृति को अधिक महत्व प्राप्त है। विचार की प्रकृति है स्मृति। 'स्मृति कोष' के उभरने से विचार बनते हैं। जिसके कारण हम अतीत से बन्ध जाते हैं। अतः वर्तमान में जीना सीखना ही इसका उपाय है। प्रश्न है वर्तमान में कैसे जिएँ/रहें? हम यदि अतीत की बातों को याद न करें और भविष्य की कल्पनाएं न करें तो केवल वर्तमान में जी सकते हैं। वर्तमान में रहना, वर्तमान को जानना और वर्तमान को देखना यही इसका समाधान है।

पारिवारिक समस्या का समाधान

पारिवारिक समस्या का प्रमुख कारण है – भिन्न-भिन्न रूचियाँ। इन्हीं रूचियों की विभिन्नता के कारण ही संघर्ष/कलह होता है। जिसे मिटाया जा सकता है यदि सबकी रूचियों का समीकरण हो जाए तो। रूचियों की भिन्नता के साथ संघर्ष न हो इस हेतु सूत्र है – अहिंसा का प्रयोग। हमें परिवार को अहिंसा की प्रयोगभूमि बनाना चाहिये; क्योंकि परिवार ही अहिंसा का प्रयोग स्थल है। अहिंसा का प्रयोग समूह में होता है। परिवार एक छोटी इकाई होता है। यदि अहिंसा का भाव परिवार में नहीं पनपता तो उसमें रहने की बात ही नहीं उठती। एतावता सह-अस्तित्व ही इसका समाधान है जो अहिंसा के साथ-साथ फलता-फूलता है।

आर्थिक समस्या का समाधान

आर्थिक समस्या इसलिये जटिल है क्योंकि समूचे विश्व का ढांचा इससे बनता-बिगड़ता है। कौटिल्य के 'पुरूषार्थ चतुष्टयी' (अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष) में अर्थ को प्रधान माना है। जिनका अर्थ के बिना जीवन नहीं चलता उनके लिए अर्थशास्त्र के प्रचेता भगवान महावीर ने इच्छा-परिमाण का व्रत वतलाया है तथा जो अर्थ बिना जीवन चला सकते हैं उनके लिए अपरिग्रह का महाव्रत सौंप दिया है। क्या महावीर

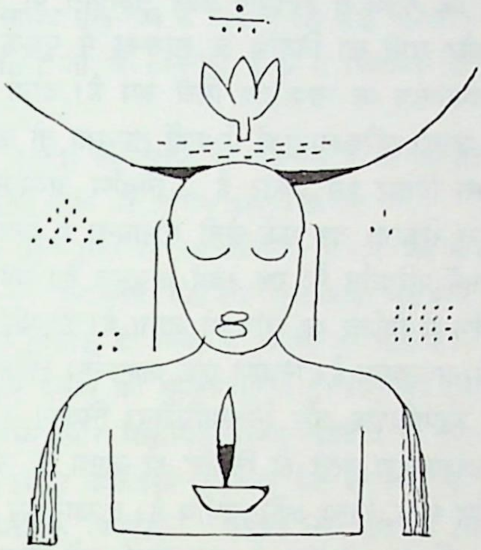
के उभय सूत्रों से अर्थ की समस्या समाहित नहीं हो सकती है? पूरा अर्थशास्त्र वितरण की बात के साथ अपरिग्रह के सिद्धांत से अवश्य जुड़ा है।

इच्छा-परिमाण का अर्थ है अपनी इच्छा को उतना विकसित मत करो जिससे हजारों-हजारों व्यक्तियों को उसका दुष्परिणाम भोगना पड़े। दो बातों का ध्यान रखा जाना चाहिये – अर्थोपार्जन के साधन शुद्ध हों तथा व्यक्तिगत संयम हो। इस तरह से आर्थिक समस्याओं से मुक्ति पाई जा सकती है।

एतावता अध्यात्म के माध्यम से दैनंदिन जीवन की शारीरिक, मानसिक, वैचारिक, पारिवारिक और आर्थिक समस्याओं से मुक्ति पाई जा सकती है।

⌘ ⌘

निर्वाण की परिकल्पना : भारतीय संदर्भ में



भारतीय दार्शनिक जगत में अधिकतर मतों ने 'निर्वाण' को किसी स्थिति या दशा से सम्बन्धित माना है। निर्वाण शब्द का अर्थ है – निर्वात स्थिति अर्थात् जहां विकारों/विचारों की वायु नहीं चलती अथवा शुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित होना यानी मोक्ष। इस प्रकार जो भी कहा जाता है वह किसी न किसी दशा का द्योतन करता है किन्तु परमार्थ से निर्वाण कोई दशा या स्थिति नहीं है और हो भी नहीं सकती क्योंकि स्थिति या दशा सापेक्ष होती है लेकिन निर्वाण निरपेक्ष है।

निर्वाण सभी इन्द्रियों और बुद्धियों से परे शब्दातीत, अनिवर्चनीय, अव्यक्त निष्फल चेतनामात्र है। जहां न ज्ञाता है, न ज्ञेय हैं और न ही प्रमेय के विषय हैं। जहाँ केवल ज्ञान मात्र है वहीं तो निर्वाण परमसुख है। अक्षय, अबाध, अव्यय आनंद है। लौकिक जीव अपनी भाषा में अपनी स्थितियों को लेकर ही उनके आश्रय से समझता-बूझता है। यही कठिनाई है किन्तु निर्वाण कोई स्थिति या दशा नहीं है। वह तो स्थितिहीन स्थिति है। जहां तक शब्द जाते हैं, जहां तक अर्थ पहुंचते हैं और जहां तक मन-बुद्धि की दौड़ है, उन सबसे परे है – निर्वाण।

निर्वाण शब्द मूलतः श्रमण परम्परा का है। निर्वाण की परिकल्पना नितान्त भारतीय है। इसलिए इस पर भारतीय ढंग से विचार करना उचित होगा। भारतीय विचारधारा के सम्बन्ध में जो बात ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि जैन, वैदिक व

बौद्ध विचारों की त्रिवेणी प्रवाहित है। किसी एक धारा को भारतीय विचार का प्रतिनिधि मानना त्रुटिपूर्ण होगा क्योंकि प्रत्येक धारा स्वतंत्र होते हुए भी एक देशीय होने के कारण इनमें परस्पर कुछ संगतियां हैं। इसी क्रम में सर्वप्रथम बौद्ध विचार – जैसा कि विदित है कि बौद्धों में हीनयान और महायान दो भेद हैं। इनके अपने-अपने संप्रदाय हैं और सभी का निर्वाण के सम्बन्ध में पृथक-पृथक दृष्टिकोण है। निर्वाण भावरूप, अभावरूप या भावाभाव मिश्र रूप है। दोनों विषमता निर्वाण को मानती तो हैं किन्तु उनकी परिकल्पनाओं में कहीं साम्यता तो कहीं विषमता है।

दोनों के समस्त विचार इस प्रकार हैं – निर्वाण अव्यक्त है, जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह एक ऐसी संभावना है जिसकी न उत्पत्ति है न विनाश और न जिसमें परिवर्तन है। यह स्वयं अनुभूत है। यह तीनों कालों में एक सा ही है और निर्वाण में व्यक्ति का लोप हो जाता है। हीनयानियों की मान्यताएँ हैं कि निर्वाण दुःखों से अभावरूप है। निर्वाण एक कल्पनीय लोकोत्तर दशा है। निर्वाण की दो दशाएँ हैं – सोपाधिशेष और निरूपाधिशेष। निर्वाण और संसार की स्थिति एक सी नहीं है। क्लेशावरण हटते ही निर्वाण हो जाता है जबकि महायानियों की मान्यता है कि निर्वाण सत्य, नित्य अनिवर्चनीय है। दुःखानुरूप न होकर सुखरूप भी है। निर्वाण प्राप्तव्य नहीं एक संभावना है। यह प्राप्त नहीं किया जाता, हो जाता है। भिक्षु और निर्वाण समान है। जैसे साधु बनाये नहीं जाते, स्वयं आत्मप्रेरणा एवं विरक्ति से बनते हैं, तद्वत् निर्वाण प्राप्त नहीं किया जाता – स्वयमेव उपलब्ध हो जाता है। निर्वाण में सर्वज्ञता प्राप्त होती है और इसमें लोकोत्तर से लोकोत्तम दशा होती है। सोपाधिशेष और निरूपाधिशेष के अतिरिक्त निर्वाण के प्रकृति शुद्ध और अप्रतिष्ठित ये दो भेद और होते हैं। निर्वाण ही शाश्वत तत्त्व है। जगत तो परिवर्तनशील है। क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों निर्वाण में बाधक हैं। इनसे छूटना ही मुक्ति है।

इस प्रकार दोनों मान्यताओं में समताएँ और विषमताएँ हैं। नागार्जुन के मत से निर्वाण न तो छोड़ा जा सकता है, न प्राप्त किया जा सकता है। यह न शाश्वत है, न उच्छिक होने वाला। न विरूद्ध है, न उत्पन्न है (माध्यमिक कारिक 25)।

वैदिक विचारधारा

इसके अन्तर्गत वेदप्रसूत विचारों में सांख्य, न्याय, मीमांसक, वैशेषिक आदि कई धाराएं हैं। निर्वाण के सम्बन्ध में सभी के विचार अलग-अलग हैं। जिनका संक्षेप में दिग्दर्शन किया जा रहा है –

1. वेदांत – ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ है, उसकी प्राप्ति मोक्ष है। मोक्ष का कारण

ज्ञान है। मृत्यु, दुःख और अज्ञान से परे वह सत् चित् और आनन्द स्वरूप है।

2. सांख्य – जीवात्मा का प्रकृति से अलग होकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना मोक्ष है। मोक्ष में केवल चेतना रह जाती है। सारी अनुभूतियां, ज्ञान तक छूट जाती हैं। सांख्य मूल-रूप में निर्वाण की कोई परिकल्पना नहीं देता।
3. नैयायिक – गौतम जी के अनुसार दुःख से अत्यन्त विमोक्ष (छूटना) अपवर्ग (मोक्ष) है।
4. मीमांसा – यह मूलतः कर्ममूलक है। वर्तमान में औपनिषदिक विचार अपनाकर उस पर आधारित मोक्ष पर चिंतन प्रस्तुत करता है।
5. वैशेषिक – ये भी दुखों से आत्यन्तिक अभाव को मोक्ष मानते हैं। इनका अपना मत है – 'बुद्धयादि वैशेषिक गुणोच्छेदः पुरुषस्य मोक्षः।' बुद्धि आदि विशेष गुणों का विनाश हो जाना ही आत्मा को मोक्ष है।
6. वैष्णव – ये चार प्रकार की मुक्ति मानते हैं। सालोक्य (वैकुंठ लोक की प्राप्ति) सायुज्य, सान्निध्य और सारुप्य। वैष्णव संप्रदाय में सेवा भक्ति की प्रधानता होने से इसका अद्वैत वेदांतियों की तरह द्वैत का लोप मान्य नहीं है।
7. शैव – शिवगीता के अनुसार – अज्ञान की गांठ जो हृदय में पड़ी है उसका खुलना ही मोक्ष है।
8. एतरेयोपनिषद् – आत्मज्ञान के द्वारा इस संसार से ऊपर उठकर आनन्दमय लोक में अपने अभीष्ट अमृतत्व ब्रह्मपद (मोक्ष) की प्राप्ति।
9. बौद्ध – 'प्रदीप निर्वाण कल्पमात्मनिर्वाणम्' जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है। उसी प्रकार आत्मा की सन्तान का विच्छेद हो जाना ही मोक्ष है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वेदप्रसूत विभिन्न संप्रदायों में निर्वाण की अलग-अलग कल्पनाएं की गई हैं। इनमें विचार भेद होने से कुछ विद्वान इन्हें श्रमण विचार प्रसूत या प्रभावित मानते हैं।

जैनों में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दो संप्रदाय हैं। इन संप्रदायों के अपने-अपने आचार्य और उपासना के अपने-अपने तरीके हैं। परन्तु निर्वाण को सब अन्तिम लक्ष्य और प्राप्तव्य मानते हैं। उसकी परिकल्पना सभी की समान है।

जैन दर्शन

कर्मवर्गणाएं संसार और दुःख का कारण हैं और इनसे मुक्त हो जाना ही मोक्ष या निर्वाण है। कर्मों के अनेक भेद हैं जो मुख्य आठ श्रेणियों में विभक्त किये हैं। यथा – ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय, आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय। इनमें प्रथम चार घातिया कहे जाते हैं क्योंकि इनके कारण आत्मा के गुणों का

सर्वतः घात होता है। ये जीव के संसार भ्रमण का कारण होते हैं। शेष चार अघातिया कहे जाते हैं। यद्यपि इनसे आत्म-गुणों को नुकसान नहीं होता तथापि अपनी स्थिति पर्यंत ये जीव को संसार में बांधे रखते हैं। उसे सुख-दुःख की अनुभूति कराते हैं, मुक्त नहीं होने देते। इन आठों से छूटकर जीव जन्मान्तर के दुःख-द्वन्दों से मुक्त होकर अपने शुद्ध-स्वरूप में आ जाता है और अशरीर, चिन्मय, ज्ञानमय, निर्विकार, शुद्ध, निस्पंद, सिद्ध मुक्त होकर शाश्वत सुख में लीन हो जाता है। जहाँ दुःख नहीं सांसारिक सुख नहीं, पीड़ा, बाधा, जन्म-मरण कुछ भी नहीं वहीं निर्वाण है। जहाँ इन्द्रियाँ, मोह, विस्मय, निद्रा, क्षुधा, तृषा कुछ नहीं वहीं निर्वाण है। जहाँ कर्म-नोकर्म, चिन्ता, आर्तरौद्र अथवा धर्म और शुक्ल ध्यान कुछ भी नहीं वहीं निर्वाण है।

जैनों की मान्यता है कि जीवन में ही मुक्ति की तैयारी पूरी कर लेनी पड़ती है। जो जीवन में मुक्त नहीं होता क्या वह मरने के बाद मुक्त होगा? जीवन में साधना की इतनी मंजिल तय कर लेना आवश्यक है जहां से निर्वाण केवल एक छलांग भर दूर हो और मृत्यु उस लक्ष्य-भेद की वह छलांग बन जाये।

निर्वाण के सम्बन्ध में वैदिक और श्रमण (जैन और बौद्ध) मान्यताओं में थोड़ा अन्तर है। उसकी प्राप्ति के लिए कर्म, साधना, तपस्या, ज्ञान, तितिक्षा, योग आदि के अलावा वैदिक अंतरिक्ष शक्ति की सहायता और अनुग्रह भी अपेक्षा रखते हैं। जबकि श्रमण, स्वकर्म को ही पर्याप्त मानते हैं। निर्वाण प्राप्ति के लिए गीता की गुह्यतर विज्ञप्ति 18वें अध्याय के 62वें श्लोक में वर्णित है, जिसके अनुसार – "हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहकर अपनी माया से उन्हें यंत्रारूढ़ की तरह घुमाता है। इसलिए तू सर्वतोभावेन उसी की शरण जा। उसके अनुग्रह से तुझे परम शान्ति और नित्य स्थान (निर्वाण) की प्राप्ति होगी।" एक और गुह्यतम विज्ञप्ति 18वें अध्याय के ही 66वें श्लोक में उल्लेखित है जिसके अनुसार "सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा, चिन्ता न कर।" जबकि श्रमण संस्कृति को आत्मोत्कर्ष के लिए किसी की सहायता तो अपेक्षित है ही नहीं, अनुपादेय भी है। वहाँ यदि किसी की अपेक्षा है तो अपनी दृष्टि, ज्ञान और आचरण को पूर्णतः परिशुद्ध बनाने की।

विभिन्न वैदिक, जैन और बौद्ध संस्कृतियों में निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में कई विसदृश्यताएं हैं। गीता, महाभारत, बृहदारण्यक, उपनिषद आदि वैदिक साहित्य और जैन मान्यता में मोक्ष के अनुकूल समय और मार्ग के विषय में भी विसंगतियां हैं। आचार्य विनोबा भावे के अनुसार (संदर्भ – गीता प्रवचन-शुक्ल कृष्ण गति) मोक्ष के सम्बन्ध में गीता का यह कथन काल सूचक नहीं है बल्कि साधना सूचक है।

तिलक जी के अनुसार उपलब्धि (ज्ञान-विज्ञान) सूचक है। वेदांत सूत्र वादरायणाचार्य आदि के मत से मार्ग सूचक है और बृहदारण्यक के अनुसार काल और मार्ग सूचक है। (गीता) के कथानुसार यह विशेषतः काल सूचक है।

ज्ञातव्य है कि भगवान महावीर स्वामी का निर्वाण दक्षिणायन, कृष्ण पक्ष चतुर्दशी और रात्रि के अंतिम मनोहारी पर्व प्रहर में कार्तिक कृष्ण अमावस्या को प्रत्यूष काल में हुआ था। अन्य तीर्थंकरों में प्रायः पाँच तीर्थंकर रात्रि की बेला में, दस कृष्ण पक्ष में और आठ दक्षिणायन के समय निर्वाण को प्राप्त हुए थे। इससे यह धारणा बलवती होती है कि मोक्ष प्राप्ति के लिये अनुकूल साधना अपेक्षित है, काल नहीं।

जैन और बौद्ध एक ही श्रमण संस्कृति के होते हुए भी उनके विचारों, मान्यताओं और साधनाओं में अन्तर है। जैन दर्शन आत्मा की स्थिति तीनों कालों में मानते हैं। उनकी मान्यता है कि सिद्ध, मुक्त और निवृत्त आत्मा का भी अस्तित्व रहता है। इसके विपरीत बौद्ध, आत्मा की शाश्वतता नहीं मानते। उनके अनुसार निर्वाण में आत्मा का भी अभाव हो जाता है। (प्रदीप निर्वाणवत्)

अन्त में, जैन तीर्थंकर और बुद्ध के निर्वाण के सम्बन्ध में व्याप्त मत-मतान्तरों को जानने के बाद यही कहा जा सकता है कि भारतीय विचारों की त्रिवेणी में मुक्ति के स्वर्ण (निर्वाण) की प्राप्ति के लिये साधना करना परम पुरूषार्थ माना गया है और इस दृष्टिकोण से तीनों विचार धाराओं में मतैक्य रहा है जो संतुलन को प्रकट करता है।

- *जन्म के आगे तो मनुष्य के पूरे जीवन का भविष्य रहता है परन्तु निर्वाण के सामने भविष्य की आशंका, आकांक्षा भी नहीं रहती।*
- *कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति एवं सत्य की सम्पूर्ण उपलब्धि ही निर्वाण है।*
- *निर्वाण के लिए निर्माण का महती अपेक्षा है।*

⌘ ⌘

सर्वतः घ
अघातिया
अपनी स्थि
कराते हैं,
मुक्त होव
निर्विकार,
दुःख नही
है। जहाँ
कर्म-नोक
है।

जैन

जबकि श्र
गुह्यतर दि
अर्जुन! ईश
घुमाता है
शान्ति औ
18वें अध्य
छोड़कर तू
न कर।"
अपेक्षित है
दृष्टि, ज्ञान

विभि
कई विसदृ
और जैन
हैं। आचार्य
के सम्बन्ध





